अगस्त 1964
त्रैमासिक
भाषा
द्विवेदी स्मृति-अंक
केंद्रीय हिंदी निदेशालय * शिक्षा-मंत्रालय * भारत सरकार

मार्च, जून, सितंबर और दिसंबर में प्रकाशित

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम् - ऋग्वेद

भाषा

त्रैमासिक
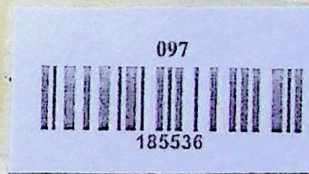
केंद्रीय हिंदी निदेशालय

शिक्षा-मंत्रालय ● भारत सरकार
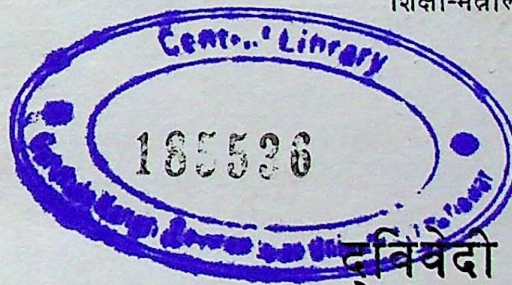
द्विवेदी स्मृति-अंक

उद्देश्य

- शिक्षा, कला, विज्ञान, अनुसंधान, कानून और शासन आदि के लिए अन्य भारतीय भाषाओं से शब्द ग्रहण कर हिंदी की समृद्धि करना;
- हिंदी को सब प्रकार की अभिव्यक्ति का सशक्त और प्रभावशाली साधन बनाने के उद्देश्य से उसकी प्रकृति के अनुकूल प्रादेशिक भाषाओं का सहयोग लेना;
- समस्त भारतीय भाषाओं के बीच समानता की खोज करना और आदान-प्रदान का द्वार मुक्त करना।

ED·305·64(Spl.)
2100

नियम

- 'भाषा' में छपने के लिए भेजी जाने वाली सामग्री यथासंभव सरल और सुबोध भाषा में होनी चाहिए।
- लेख आदि सामान्यतः फुलस्केप आकार के पाँच टाइप पृष्ठों से अधिक न होने चाहिएँ और हाशिया छोड़ कर कागज के एक ओर ही टाइप किए जाने चाहिएँ।
- साधारणतया हस्तलिखित सामग्री स्वीकार करने का नियम नहीं है।
- अनुवाद तथा लिप्यंतरण के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजना आवश्यक है।
- सामग्री के प्रकाशन के विषय में संपादक का निर्णय अंतिम माना जाएगा।
- लेखों की स्वीकृति की सूचना पंद्रह दिन के भीतर दे दी जाती है, अस्वीकृत रचनाओं के संबंध में सूचना देने का नियम नहीं है।
- अस्वीकृत सामग्री लौटाने का नियम नहीं है।
- समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ भेजनी चाहिएँ।
- पत्रिका की बिक्री की व्यवस्था प्रबंधक, प्रकाशन शाखा, सिविल लाइंस, दिल्ली-6 द्वारा की जाती है। सदस्य बनने, विज्ञापन देने और वार्षिक चंदा जमा करने के लिए उन्हीं से पत्र-व्यवहार करना चाहिए।

'भाषा' में प्रकाशित विचारों के लिए संपादन-मंडल उत्तरदायी नहीं है।

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

काव्य

भाषा और व्याकरण

संपादक द्विवेदी

पत्र साहित्य

विविध विषय

तुलनात्मक विवेचन

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की जन्म शताब्दी पर 'भाषा' का विशेषांक निकाला जा रहा है। द्विवेदी जी हिंदी साहित्य के युग-निर्माता थे। उन्होंने अपना समस्त जीवन हिंदी भाषा के परिष्कार और परिमार्जन में लगा दिया। विशेषांक के लिए अपनी शुभ कामनाएँ भेजता हूँ।

लालबहादुर शास्त्री
प्रधान मंत्री
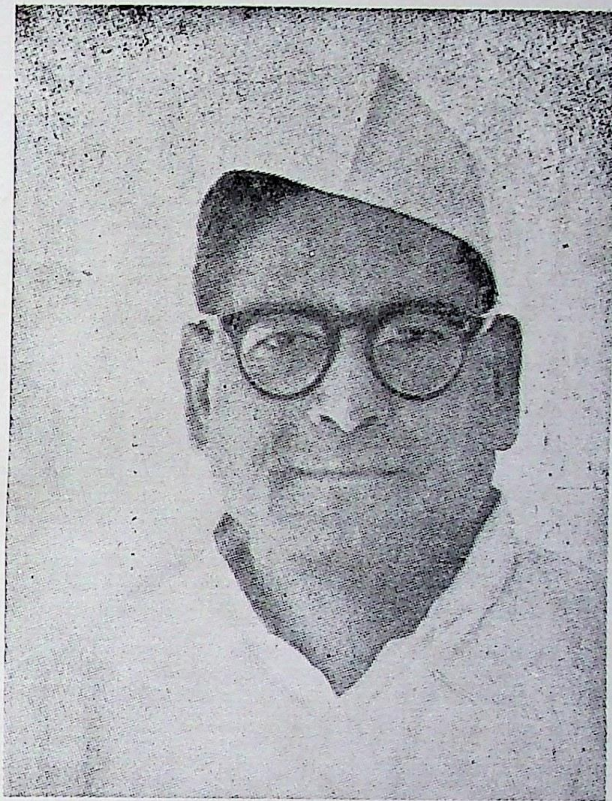
मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि स्वर्गीय आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की पुण्य स्मृति में केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा प्रकाशित 'भाषा' (त्रैमासिक) का विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है।

स्वर्गीय आचार्य द्विवेदी जी के नाम का स्मरण करते ही हिंदी पत्रकारिता तथा साहित्य की वर्तमान प्रगति का सारा चित्र हमारे सामने स्वतः स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने एक लंबे समय तक हिंदी गद्य की शैली को सँवारने का जो कार्य किया वह अनेक युगों तक याद रहेगा। इतना ही नहीं उन्होंने अनेक उदीयमान हिंदी लेखकों को प्रोत्साहित करके तथा उनका मार्ग दर्शन करके उन्हें आगे बढ़ाया और उन्हें हिंदी के साहित्य-भंडार की पूर्त्ति करने का यश दिलाया। इस प्रकार स्वर्गीय द्विवेदी जी को हिंदी साहित्य का भीष्म पितामह माना जा सकता है। उन्होंने हिंदी की अभिवृद्धि के लिए अनेक दिशाओं में जो प्रयत्न किया है वह वर्तमान पीढ़ी के लेखकों को भी नई प्रेरणा दे रहा है।

मुझे पूरा विश्वास है कि 'भाषा' का यह विशेषांक सब दृष्टियों से सर्वांगपूर्ण और संग्रहणीय होगा तथा उसके द्वारा स्वर्गीय द्विवेदी जी की स्मृति की रक्षा करने के कार्य में भी यथेष्ट सफलता मिलेगी।

मैं आपके इस आयोजन की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभ कामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

भक्त दर्शन

उप शिक्षा-मंत्री, भारत सरकार

संपादकीय

हिंदी भाषा के प्रवर्तकों और उन्नायकों में द्विवेदी जी का अप्रतिम स्थान है। अपने जीवन-काल में हिंदी के लिए उन्होंने जो कुछ किया, उसका सर्वांग परिचय देने के उद्देश्य से प्रस्तुत विशेषांक का आयोजन किया गया है। हमारा प्रयत्न रहा है कि इस अंक में द्विवेदी जी की बहुविध प्रतिभा का सम्यक् विवेचन किया जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमने ऐसे महानुभावों से संपर्क किया जो द्विवेदी जी के समकालीन रहे अथवा जिनका तत्कालीन साहित्यिक मान्यताओं और मूल्यों से प्रगाढ़ परिचय रहा। ऐसे अन्वेषकों और गवेषणारत विद्यार्थियों का सहयोग भी हमें मिला, जिन्होंने द्विवेदीयुगीन साहित्य और आचार्य द्विवेदी की साहित्य-साधना के संबंध में विशेष अध्ययन और अनुशीलन किया है। इनसे और ऐसे ही अनेक अन्य साहित्यिक-बंधुओं से हमें इतनी अधिक सामग्री प्राप्त हुई कि उसे विशेषांक के 250–300 पृष्ठों में संकलित कर पाना संभव नहीं था। इनमें से हमने ऐसे लेखकों और साहित्यकारों की सामग्री को चुना, जो या तो द्विवेदी जी के मार्गदर्शन में साहित्य-साधना करते रहे अथवा उनसे प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर प्रसिद्ध हुए।

द्विवेदी जी ने अपने जीवन-काल में इतना अधिक लिखा कि उनके समकालीन साहित्य और इतिहास का अवगाहन करने वाले जिज्ञासुओं को यह जानकर अचरज होता है कि अपने क्रियाशील जीवन के सीमित वर्षों में द्विवेदी जी इतना कैसे लिख पाए ? हिंदी साहित्य के इतिहास में गिने-चुने साहित्यकारों को छोड़कर लेखनी की ऐसी कर्मठता का उदाहरण कदाचित् ही मिले।

द्विवेदी जी के विविध साहित्यिक रूपों में हमारे विचार से उनका संपादन-पक्ष विशेष प्रबल है। यह उनके अध्यवसाय और लगन का ही परिणाम था कि जिन्हें आज हम प्रतिष्ठित साहित्यकारों की कोटि में गिनते हैं उनकी रचनाओं में प्रौढ़ता, परिष्कार और प्रतिभा का उद्भास द्विवेदी जी के कारण संभव हुआ। मुंशी प्रेमचंद, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, मैथिलीशरण गुप्त, रायकृष्ण दास, सेठ गोविंददास आदि विविध साहित्य-विधाओं के प्रणेता द्विवेदी जी की कृपा के लिए ऋणी हैं और यह स्वीकार करते हैं कि यदि द्विवेदी जी की कलम से उनकी रचनाओं का परिमार्जन नहीं हुआ होता तो उनमें निखार न आता।

पत्रकार के नाते और संभवतः व्यक्ति के नाते भी, द्विवेदी जी के एक विशेष गुण की चर्चा के बिना यह वृत्तांत अधूरा रहेगा। स्पष्टवादिता के इस गुण को कभी-कभी दोष भी माना जाता है, तथापि उनके इस दोष का लाभ अनेकों को मिला, और उनकी लेखनी कोयले से सोना बन गई।

भाषा के परिष्कृत रूप की प्रतिष्ठा में द्विवेदी जी ने अपने आप को होम दिया। उनकी लगन, सूझ-बूझ, काव्य प्रतिभा और अनवरत परिश्रम को प्रदर्शित करने वाले कुछ अंश इस विशेषांक में संकलित किए गए हैं। उनसे स्पष्ट होगा कि द्विवेदी जी की नज़र से भाषा-गत दोष बच नहीं पाता था। इसीलिए उन्हें तब तक संतोष नहीं होता था जब तक वे किसी रचना को पूरी तरह माँज न डालते। ऐसे कई प्रसंग हैं, जिनमें लेखकों को यह शिकायत रही कि 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी गई उनकी रचनाएँ नहीं छपीं, बल्कि वे प्रकाशित हुईं जिनमें नाम तो उनका ही रहा, पर जिन्हें स्वयं द्विवेदी जी ने आद्योपांत परिशोधित करके नया रूप दे डाला था।

भाषा के परिमार्जन में शैलीकार की प्रतिभा निहित होती है। शब्द-चयन, ध्वनि आलेखन, भाषा-विचार, तादात्म्य, उक्तियों की सजावट, प्रचलित शब्दों और मुहावरों का समुचित-संगठन यह सारा वैचित्र्य और विधान उन उद्धरणों से स्पष्ट होगा जो हमने यत्र-तत्र इस विशेषांक में संकलित किए हैं।

भाषा के संबंध में द्विवेदी जी के विचार बड़े उदार और प्रगतिशील थे उदाहरण के रूप में हमने उनके 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख से एक अवतरण चुना है और उसका अनुवाद सभी भारतीय भाषाओं में किया है। आशा है इस अवतरण में पाठकों को द्विवेदी जी के शैलीकार रूप का दर्शन मिलेगा।

हमें खेद है कि लगातार प्रयत्नों के बावजूद आचार्य द्विवेदी के रेलवे की सेवा में बिताए दिनों के संबंध में तथ्यपूर्ण जानकारी प्राप्त न हो सकी।

—

काँस्य प्रतिमूर्ति

मेरी जीवन रेखा

महावीरप्रसाद द्विवेदी
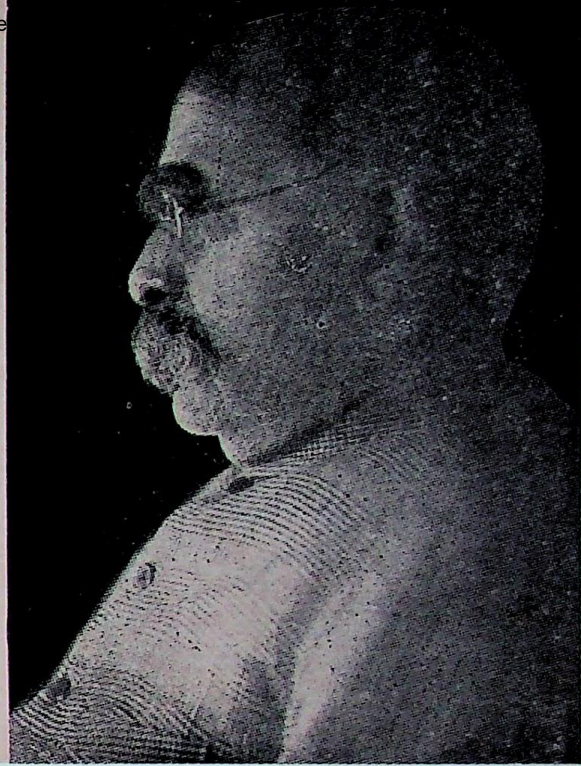
मुझे आचार्य की पदवी मिली है। क्यों मिली है, मालूम नहीं। कब, किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नहीं। मालूम सिर्फ़ इतना ही है कि मैं बहुधा इस पदवी से विभूषित किया जाता हूँ।

यह लक्षण मुझ पर तो घटित होता है नहीं, क्योंकि मैंने कभी किसी को इक्का एक भी नहीं पढ़ाया। शंकराचार्य, मध्वाचार्य, सांख्याचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के चरण-रजकण की बराबरी मैं नहीं कर सकता। बनारस के संस्कृत कालिज या किसी विश्वविद्यालय में भी मैंने कभी क़दम नहीं रक्खा। फिर इस पदवी का मुस्तहक मैं कैसे हो गया? विचार करने पर मेरी समझ में, इसका एक मात्र कारण मुझ पर कृपा करने वाले सज्जनों का अनुग्रह ही जान पड़ता है। जो जिसका प्रेम-पात्र होता है, उसे उसके दोष नहीं दिखाई देते। जहाँ दोष देख पड़ते हैं, वहाँ तो प्रेम का प्रवेश ही नहीं हो सकता। नगरों की बात जाने दीजिए, देहात तक में माता-पिता और गुरुजन अपने लूले, लँगड़े, काने, अंधे, जन्मरोगी और महाकुरूप लड़कों का नाम श्यामसुंदर, मनमोहन, चारुचंद्र और नयनसुख रखते हैं। जिनके कब्ज़े में अँगुल भर ज़मीन नहीं वे पृथ्वीपति और पृथ्वीपाल कहाते हैं। जिनके घर में टका नहीं वे करोड़ीमल कहे जाते हैं। मेरी आचार्य पदवी भी कुछ-कुछ इसी तरह की है, पर इससे पदवी-दाताजनों का जो भाव प्रकट होता है उसका अभिनंदन मैं हृदय से करता हूँ। यह पदवी उनके प्रेम, उनके औदार्य, उनके वात्सल्य-भाव की सूचक है। अतएव प्रेमपात्र मैं अपने इन सभी उदाराशय प्रेमियों का ऋणी हूँ। बात यह है कि--

वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि

अर्थात् गुणों का सबसे बड़ा आधार प्रेम होता है, वस्तु-विशेष नहीं। जो जिस पर कृपा करता है--जिसका प्रेम जिस पर होता है--वह उसे आचार्य क्या यदि जगद्गुरु समझ ले तो आश्चर्य की बात नहीं।

तथापि, मेरी धृष्टता क्षमा की जाए, मुझे ऐसी बातों से, स्तुति और प्रशंसा से बहुत डर लगता है, क्योंकि वे अहंकार को जन्म देने वाली ही नहीं, उसे बढ़ाने वाली हैं, और इस अहंकार नामक शत्रु का शिकार मैं चिरकाल तक हो चुका हूँ। यह उसी की कृपा का फल था जो कभी मैंने किसी सभा की खबर ली, कभी किसी लाला या बाबू पर वचन रूपी शर-संधान किया, कभी किसी ग्रंथकार या ग्रंथ-प्रकाशक पर अपना रोब जमाया।

जब मुझ में ज्ञान की कुछ यों ही ज़रा-सी झलक थी तब मैं मदांध हाथी-सा हो रहा था——तब मुझ में अहंकार की मात्रा इतनी अधिक थी कि मैं अपने को सर्वज्ञ समझता था परंतु किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से जब मुझे कुछ विज्ञ विद्वानों की संगति नसीब हुई और जब मैंने प्रकृत पंडितों की कुछ पुस्तकों का मनन किया; तब मेरी आँखें खुल गई, तब मेरा सारा अहंकार चूर्ण हो गया। उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि मैं तो महामूर्ख हूँ। नतीज़ा यह हुआ कि मेरी झूठी सर्वज्ञता का वह नशा उसी तरह उतर गया जिस तरह 104 डिग्री तक चढ़ा हुआ ज्वर उतर जाता है।

मेरी झूठी विज्ञता के आवेश ने, मुझसे पूर्वावस्था में, अनेक अनुचित काम करा डाले। उस दशा में मुझ से जो दुष्कृत्य हो गए, उन्होंने मेरी आत्मा को कलुषित कर दिया। उन्होंने उस पर काला पर्दा-सा डाल रखा है। इस कारण मैं थोड़ा-सा प्रायश्चित करके उस पर्दे के बहुत न सही, थोड़े ही अंश को हटा ही देना चाहता हूँ।

शठ सेवक मैं, चर-अचर, आप सभी भगवान।
दीन हीन मुझ को अधम समझो दयानिधान ॥

अहंकार की व्याप्ति से बचने ही के लिए मैंने आज तक, आमंत्रित होने पर भी, साहित्य-संमेलन के सभापति-पद को स्वीकार नहीं किया। अनेक महानुभावों ने जिस आसन की शोभा बढ़ाई उसी पर बैठना मेरे लिए बड़ी गुस्ताखी भी होती।

मैं क्या हूँ, यह तो प्रत्यक्ष ही है। परंतु मैं क्या था, इस विषय का ज्ञान मेरे मित्रों और कृपालु हितैषियों को बहुत ही कम है। उन्होंने मुझे अनेक पत्र लिखे हैं, अनेक उलाहने दिए हैं। अनेक प्रणयानुरोध किए हैं, वे चाहते हैं कि मैं अपनी जीवन-कथा अपने ही मुँह से कह डालूँ। पर पूर्णरूप से उनकी आज्ञा का पालन करने की शक्ति मुझ में नहीं। अपनी कथा कहते हुए संकोच भी बहुत होता है। उसमें कुछ तत्त्व भी तो नहीं। उससे कोई कुछ सीख भी तो नहीं सकता। तथापि जिन सज्जनों ने मुझे अपना कृपापात्र बना लिया है उनकी आज्ञा का उल्लंघन भी धृष्टता होगी। अतएव मैं अपने जीवन से संबंध रखने वाली कुछ बातें, सूत्र रूप में, सुना देना चाहता हूँ। बड़े-बड़े लोगों ने, इस विषय में मेरे लिए मैदान पहले ही से साफ़ भी कर रखा है।

मैं एक ऐसे देहाती का एक मात्र आत्मज हूँ, जिसका मासिक वेतन दस रु० था। अपने गाँव के देहाती मदरसे में थोड़ो-सी उर्दू और घर थोड़ी-सी संस्कृत पढ़कर तेरह वर्ष की उम्र में मैं छब्बीस मील दूर, रायबरेली के ज़िला स्कूल में अँग्रेज़ी पढ़ने गया। आटा, दाल घर से पीठ पर लादकर ले जाता था। दो आने महीने फ़ीस देता था। दाल ही में आटे के पेड़े या टिकियाएँ पका करके पेट-पूजा करता था। रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था। संस्कृत भाषा उस समय उस स्कूल में वैसे ही अछूत समझी गई थी जैसी मद्रास के नम्बूदरी ब्राह्मणों में वहाँ की शूद्र जाति समझी जाती है। विवश होकर अँग्रेज़ी के साथ फ़ारसी पढ़ता था। एक वर्ष किसी तरह वहाँ काटा। फिर पुरवा, फतेहपुर और उन्नाव के स्कूलों में चार वर्ष काटे। कौटुम्बिक दुरवस्था के कारण मैं इससे आगे न बढ़ सका। मेरी स्कूली शिक्षा की वहीं समाप्ति हो गई।

एक साल अजमेर में पंद्रह रु० महीने पर नौकरी करके, पिता के पास बंबई में पहुँचा और तार का काम सीख कर जी० आई० पी० रेलवे में पच्चास रु० महीने पर तार का बाबू बना। बचपन ही से मेरी प्रवृत्ति सुशिक्षित जनों की संगति करने की ओर थी, दैवयोग से हरदा और हुशंगाबाद में मुझे ऐसी संगति सुलभ रही। फल यह हुआ कि मैंने अपने लिए चार सिद्धांत या आदर्श निश्चित किए। यथा (1) वक्त की पाबंदी करना, (2) रिश्वत न लेना, (3) अपना काम ईमानदारी से करना, और (4) ज्ञान वृद्धि के लिए सतत प्रयत्न करते रहना। पहले तीन सिद्धांतों के अनुकूल आचरण करना तो सहज था पर चौथे के अनुकूल सचेष्ट रहना कठिन था। तथापि सतत् अभ्यास से उसमें सफलता भी होती गई। तारबाबू होकर भी, टिकट बाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर, यहाँ तक कि रेल की पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करने वाले प्लेटियर तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ। अफ़सरों की नज़र मुझ पर पड़ी। मेरी तरक्की होती गई। वह इस

तरह कि एक दफे छोड़कर मुझे कभी तरक्की के लिए दरख्वास्त नहीं देनी पड़ी। जब इंडियन मिडलैंड रेलवे बनी और उसके दफ्तर झाँसी में खुले तब जी० आई० पी० रेलवे के मुलाजिम जो साहब वहाँ जनरल ट्राफिक मैनेजर मुकर्रर हुए वे मुझे भी अपने साथ झाँसी लाए और नए-नए काम मुझ से लेकर मेरी पदोन्नति करते गए। इस उन्नति का प्रधान कारण मेरी ज्ञान-लिप्सा और गौण कारण उन साहब बहादुर की कृपा या गुणग्राहकता थी। दस बारह वर्ष बाद मेरी मासिक आय मेरी योग्यता से कई गुनी अधिक हो गई।

जब इंडियन मिडलैंड रेलवे जी० आई० पी० रेलवे से मिला दी गई, तब कुछ दिन बंबई में रहकर मैंने अपना तबादला झाँसी को करा लिया। वहीं रहना मुझे अधिक पसंद था। पाँच वर्ष मैं वहाँ डिस्ट्रिक्ट सुपरिंटेंडेंट के दफ़्तर में रहा। वे दिन मेरे अच्छे नहीं कटे। लार्ड कर्जन का देहली दरबार उसी ज़माने में हुआ था। मेरे गौरांग प्रभु अपनी रातें अपने बंगले या क्लब में बिताते थे। मैं दिनभर दफ़्तर का काम करके रात भर अपनी कुटिया में पड़ा हुआ, उनके नाम आए हुए तार लेता और उनके जवाब देता था। ये तार उन स्पेशल रेलगाड़ियों के संबंध में होते थे जो दक्षिण से देहली की ओर दौड़ा करती थीं। उन चाँदी के टुकड़ों की बदौलत जो मुझे हर महीने मिलते थे, मैंने अपने ऊपर किए इस अत्याचार को महीनों बर्दाश्त किया।

मैं यदि किसी के अत्याचार को सह लूँगा तो उससे मेरी सहनशीलता अवश्य सूचित होती है, पर उससे मुझे औरों पर अत्याचार करने का अधिकार नहीं प्राप्त हो जाता। परंतु कुछ समयोत्तर बानक ऐसा बना कि मेरे प्रभु ने मेरे द्वारा औरों पर अत्याचार करना चाहा। हुक्म हुआ कि इतने कर्मचारियों को लेकर रोज सुबह आठ बजे दफ़्तर में आया करो और ठीक दस बजे मेरे कागज़ मेरी मेज पर मुझे रखे मिलें। मैंने कहा, मैं आऊँगा, पर औरों को आने के लिए लाचार न करूँगा। उन्हें हुक्म देना हुजूर का काम है। बस, बात बढ़ी, और बिला किसी सोच-विचार के मैंने इस्तीफ़ा दे दिया। बाद को उसे वापस लेने के लिए इशारे ही नहीं, सिफ़ारिशें तक की गईं। पर सब व्यर्थ हुआ। क्या इस्तीफ़ा वापस लेना चाहिए यह पूछने पर मेरी पत्नी ने विषण्णा होकर कहा—"क्या थूक कर भी उसे कोई चाटता है?" मैं बोला, नहीं, ऐसा कभी न होगा, तुम धन्य हो। तब उसने आठ आने रोज तक की आमदनी से भी मुझे खिलाने-पिलाने और गृह-कार्य चलाने का दृढ़ संकल्प किया और मैंने 'सरस्वती' की सेवा से हर महीने जो बीस रु० उजरत और तीन रु० डाक खर्च की आमदनी होती थी उसी से संतुष्ट रहने का निश्चय किया। मैंने सोचा किसी समय तो मुझे पंद्रह रु० ही मिलते थे, तेईस रु० तो उसके ड्योढ़े से भी अधिक हैं। इतनी आमदनी मुझ देहाती के लिए कम नहीं।

मेरे पिता ईस्ट इंडिया कंपनी की एक पलटन में सैनिक वा सिपाही थे। मामूली हिंदी पढ़े-लिखे थे। बड़े भक्त थे। सिपाहियाने के काम से छुट्टी पाने पर राम-लक्ष्मण की पूजा किया करते थे। इसी से साथी सिपाहियों ने उनका नाम रखा था—लछिमन जी। गदर में पिता की पलटन बागी हो गई, जो बच निकले वे बच गए। बाकी जवान तोपों से उड़ा दिए गए। पलटन इस समय होशियारपुर (पंजाब) में थी। पिता ने भागकर अपना शरीर सतलुज की वेगवती धारा को अर्पण कर दिया। एक या दो दिन बाद बेहोशी की हालत में, सैकड़ों कोस दूर, आगे की तरफ, कहीं वे किनारे लग गए। होश आने पर संभले और हरी मोटी घास के तिनके चूस-चूस कर कुछ शक्ति संपादन की। माँगते-खाते, साधुवेश में, कई महीने बाद, वह घर आए। घर पर कुछ दिन रहकर, इधर-उधर भटकते हुए, वे बंबई पहुँचे। वहाँ वल्लभ-संप्रदाय के एक गोस्वामी जी के यहाँ वे नौकर हो गए। इस तरह यहाँ भी उन्हें ठाकुर जी की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरे समर्थ होने तक वे इसी संप्रदाय के गोस्वामी की मुलाजिमत में रहे। फिर सदा के लिए उसे छोड़कर घर चले आए।

मेरे पितामह अलबत्ता संस्कृतज्ञ थे और अच्छे पंडित भी थे। बंगाल की छावनियों में स्थित पलटनों को वे पुराण सुनाया करते थे। उनकी एकत्र की हुई सैकड़ों हस्तलिखित पुस्तकें बेच-बेच कर मेरी पितामही ने पिता और पितृव्य आदि का पालन किया। वयस्क होने पर दो चार-पुस्तकें मुझे भी घर में पड़ी मिलीं। मेरे पितृव्य दुर्गाप्रसाद नाम मात्र को हिंदी क्या कैथी जानते थे। पर उनमें नए-नए किस्से बना कर

कहने की अद्भुत शक्ति थी। रायबरेली ज़िले में दानशाह के गौरा के तत्कालीन ताल्लुकेदार, भूपाल-सिंह के यहाँ किस्से सुनाने के लिए वे नौकर थे। मेरे नाना और मामा भी संस्कृतज्ञ थे। मामा की संस्कृतज्ञता का परिचय स्वयं मैंने, उनके पास बैठकर, प्राप्त किया था।

नहीं कह सकता, शिक्षा-प्राप्ति की तरफ प्रवृत्ति होने का संस्कार मुझे किससे हुआ---पिता से या पितामह से या अपने ही किसी पूर्वजन्म के कृतकर्म से। बचपन ही से मेरा अनुराग तुलसीदास की रामायण और ब्रजवासी-दास के ब्रजविलास पर हो गया था। फुटकर कवित्त भी मैंने सैकड़ों कंठ कर लिए थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेंदु हरिश्चंद्र के कवि-वचन-सुधा और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक-पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चंद्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहाँ कचहरी में मुलाज़िम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था। मैं अपने को कवि ही नहीं महाकवि समझने लगा। मेरा यह रोग बहुत समय तक ज्यों का त्यों बना रहा। झाँसी आने पर जब मैंने, पण्डितों की कृपा से, प्रकृत कवियों के काव्यों का अनुशीलन किया, तब मुझे अपनी भूल मालूम हो गई और छंदोबद्ध प्रलापों के जाल से मैंने सदा के लिए छुट्टी ले ली। पर गद्य में कुछ न कुछ लिखना ज़ारी रखा। संस्कृत और अँग्रेज़ी पुस्तकों के कुछ अनुवाद भी मैंने किए।

जब मैं झाँसी में था तब वहाँ के तहसीली स्कूल के एक अध्यापक ने मुझे कोर्स की एक पुस्तक दिखाई। नाम था तृतीय रीडर। उसने उसमें बहुत से दोष दिखाए। उस समय तक मेरी लिखी हुई कुछ समालोचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। इससे उस अध्यापक ने मुझ से उस रीडर की भी आलोचना लिखकर प्रकाशित करने का आग्रह किया। मैंने रीडर पढ़ी और अध्यापक महाशय की शिकायत को ठीक पाया। नतीजा यह हुआ कि उसकी समालोचना मैंने पुस्तकाकार में प्रकाशित की। इस रीडर का स्वत्वाधिकारी था, प्रयाग का इंडियन प्रेस। अतएव इस समालोचना की बदौलत इंडियन प्रेस से मेरा परिचय हो गया और कुछ समय बाद उसने 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन-कार्य मुझे दे डालने की इच्छा प्रकट की। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। यह घटना रेल की नौकरी छोड़ने के एक साल पहले की है।

नौकरी छोड़ने पर मेरे मित्रों ने कई प्रकार से मेरी सहायता करने की इच्छा प्रकट की। किसी ने कहा---'आओ, मैं तुम्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाऊँगा।' किसी ने लिखा--'मैं तुम्हारे साथ बैठकर संस्कृत पढ़ूँगा।' किसी ने कहा--'मैं तुम्हारे लिए छापाखाना खुलवा दूँगा' इत्यादि। पर मैंने सबको अपनी कृतज्ञता की सूचना दे दी और लिख दिया कि अभी मुझे आपके सहायतादान की विशेष आवश्यकता नहीं। मैंने सोचा अव्यवस्थित चित्त मनुष्य की सफलता में सदा संदेह रहता है। क्यों न मैं अंगीकृत कार्य ही में अपनी सारी शक्ति लगा दूँ। प्रयत्न और परिश्रम की बड़ी महिमा है। अतएव 'सब तज हरि भज' की मसल को चरितार्थ करता हुआ, इंडियन प्रेस के प्रदत्त काम ही में मैं अपनी शक्ति खर्च करने लगा। हाँ, जो थोड़ा बहुत अवकाश कभी मिलता तो मैं उसमें अनुवाद आदि का कुछ काम और करता था। समय की कमी के कारण मैं विशेष अध्ययन न कर सका। इसी से 'संपत्तिशास्त्र' नामक पुस्तक को छोड़कर और किसी अच्छे विषय पर मैं कोई नई पुस्तक न लिख सका।

उस समय तक मैंने जो कुछ लिखा था उससे मुझे टकों की प्राप्ति तो कुछ हुई ही न थी। हाँ, ग्रंथकार, लेखक, समालोचक और कवि की जो पदवियाँ मैंने स्वयं अपने ऊपर लाद ली थीं, उनसे मेरे गर्व की मात्रा में बहुत कुछ इजाफा जरूर हो गया। मेरे तत्कालीन मित्रों और सलाहकारों ने उसे पर्याप्त न समझा। उन्होंने कहा---अजी कोई ऐसी किताब लिखो जिससे टके सीधे हों। रुपए का लोभ चाहे जो करावे। मैं उनके चकमे में आ गया। यूरोप और अमरीका तक में प्रकाशित पुस्तकें मँगाकर पढ़ीं। संस्कृत भाषा में प्राप्त सामग्री से भी लाभ उठाया। बहुत परिश्रम करके कोई दो सौ सफ़े की एक पुस्तक लिख डाली। नाम उसका रखा 'तरुणोपदेश'। मित्रों ने देखा, कहा, 'अच्छी तो है, पर इसमें सरसता नहीं। पुस्तक ऐसी होनी चाहिए जिसका नाम ही सुनकर और विज्ञापन मात्र ही पढ़कर खरीदार पाठक उस पर इस तरह टूटें जिस तरह गुड़ नहीं, बहते हुए व्रण या गंदगी पर मक्खियों के झुंड के झुंड टूटते हैं। काम-कला लिखो, काम-किल्लोल लिखो, कंदर्प

दर्पण लिखो, रति-रहस्य लिखो, मनोज-मंजरी लिखो, अनंग-रंग लिखो ।' मैं सोच विचार में पड़ गया । बहुत दिनों तक चित्त चलायमान रहा। अंत में जीत मेरे मित्रों ही की रही। उनके प्रस्तावित नाम मुझे पसंद न आए। मैं उनसे भी बांस भर आगे बढ़ गया । कवि तो मैं था ही, मैंने चार-चार चरण वाले लंबे-लंबे छंदों में एक पद्यात्मक पुस्तक लिख डाली--ऐसी पुस्तक जिसके प्रत्येक पद्य से रस की नदी नहीं तो बरसाती नाला जरूर बह रहा था। नाम भी मैंने ऐसा चुना जैसा कि उस समय तक उस रस के अधिष्ठाता को भी न सूझा था। मैं तीस-चालीस साल पहले की बात कह रहा हूँ। आजकल की नहीं । आजकल तो नाम बाजारू हो रहा है और अपने अलौकिक आकर्षण के कारण निर्धनों को धनी और धनियों को धनाधीश बना रहा है। अपने बूढ़े मुँह के भीतर धँसी हुई जवान से, आपके सामने, उस नाम का उल्लेख करके मुझे बड़ी लज्जा मालूम होगी । पर पापों का प्रायश्चित करने के लिए आप पंच-समाजरूपी परमेश्वर के सामने, शुद्ध हृदय से उसका निर्देश करना ही होगा । अच्छा, तो उसका नाम था या है--सोहाग रात। उसमें क्या है, यह आप पर प्रकट करने की जरूरत नहीं, क्योंकि--

परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः

मेरे मित्रों ने इस पिछली पुस्तक को बहुत पसंद किया, उसे बहुत सरस पाया अतएव उन्होंने मेरी पीठ खूब ठोंकी। मैंने भी अपना परिश्रम सफल समझा । अब लगा मैं हवाई किले बनाने । पुस्तक प्रकाशित होने पर उसे युक्तिपूर्वक बेचूँगा, मेरे घर रुपयों की वृष्टि होने लगेगी । शीघ्र ही मैं मोटर नहीं, तो एक विक्टोरिया खरीद कर उस पर हवा खाने निकला करूँगा । देहात छोड़कर दशाश्वमेघ घाट पर कोई तिमंजिला मकान बनवाकर या मोल लेकर वहीं काशीवास करूँगा । कई कर्मचारी रखूँगा । अन्यथा हजारों वैल्यू-पेबिल कौन रवाना करेगा।

परंतु अभागियों के सुख-स्वप्न सच्चे नहीं निकलते। मेरे हवाई महल एक पल में ढह पड़े। मेरी पत्नी कुछ पढ़ी-लिखी थीं। उससे छिपाकर ये दोनों पुस्तकें मैंने लिखी थीं। दुर्घटना कुछ ऐसी हुई कि उसने ये पुस्तकें देख लीं। देखा ही नहीं, उलट-पलट कर पढ़ा भी । फिर क्या था, उसके शरीर में कराला काली का आवेश हो आया । उसने मुझ पर वचन-विन्यास रूपी इतने कड़े कशाघात किए कि मैं तिलमिला उठा। उसने उन पुस्तकों की कापियों को आजन्म कारावास या कालेपानी की सजा दे दी । वे उसके संदूक में बंद हो गई । उसके मरने पर ही उनका छुटकारा उस 'दायमुलहब्स' से हुआ । छूटने पर मैंने इन्हें एकांतसेवन की आज्ञा दे दी है। क्योंकि सती की आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति मुझ में नहीं । इस तरह मेरी पत्नी ने तो मुझे साहित्य के उस पंकपयोधि में डूबने से बचा लिया। आप भी मेरे उस दुष्कृत्य को क्षमा कर दें तो बड़ी कृपा हो। इसी से मैंने बहुत कुछ अप्रासंगिक विषय के उल्लेख की यहाँ ज़रूरत समझी।

'सरस्वती' के संपादन का भार उठाने पर मैंने अपने लिए कुछ आदर्श निश्चित किए । मैंने संकल्प किया (1) वक्त की पाबंदी करूँगा, (2) मालिकों का विश्वास-पात्र बनने की चेष्टा करूँगा, (3) अपने हानि-लाभ की परवा न करके पाठकों के हानि-लाभ का सदा ख्याल रखूँगा, और (4) न्याय-पथ से कभी न विचलित हूँगा । इनका पालन कहाँ तक मुझसे हो सका, संक्षेप में सुन लीजिए :--(1) संपादक जी बीमार हो गए, इस कारण 'स्वर्ग समाचार' दो हफ्ते बंद रहा । मैनेजर महाशय के मामा परलोक प्रस्थान कर गए, लाचार 'विश्वमोहिनी' पत्रिका देर से निकल रही है । 'प्रलयंकरी' पत्रिका के विधाता का फौंटेंनपेन टूट गया। उसके मातम में तेरह दिन काम बंद रहा। इसी से पत्रिका के प्रकाशन में विलम्ब हो गया। प्रेस की मशीन नाराज हो गई । क्या किया जाता। 'त्रिलोक मित्र' का यह अंश, इसी से समय पर न छप सका। इस तरह की घोषणाएँ मेरी दृष्टि में बहुत पड़ चुकी थीं। मैंने कहा--मैं इन बातों का कायल नहीं । प्रेस की मशीन टूट जाए तो उसका ज़िम्मेदार मैं नहीं। पर कापी समय पर न पहुँचे तो उसका ज़िम्मेदार मैं हूँ। मैंने अपनी इस ज़िम्मेदारी का निर्वाह जी-जान होम कर किया । चाहे पूरा का पूरा अंक मुझे ही क्यों न लिखना पड़ा हो, कापी समय पर ही मैंने भेजी । मैंने तो यहाँ तक किया कि कम से कम छह महीने आगे की सामग्री सदा

अपने पास प्रस्तुत रखी। सोचा कि यदि मैं महीनों बीमार पड़ जाऊँ तो क्या हो? 'सरस्वती' का प्रकाशन तब तक बंद रखना क्या ग्राहकों के साथ अन्याय करना न होगा? अस्तु! मेरे कारण सोलह-सत्रह वर्ष के दीर्घकाल में, एक बार भी 'सरस्वती' का प्रकाशन नहीं रुका। जब मैंने अपना काम छोड़ा तब भी मैंने नए संपादक को बहुत से बचे हुए लेख अर्पण किए। उस समय के उपार्जित और अपने कुछ लिखे हुए लेख अब भी मेरे संग्रह में सुरक्षित हैं।

(2) मालिकों का विश्वास भाजन बनने की चेष्टा में मैं यहाँ तक सचेत रहा कि मेरे कारण उन्हें कभी उलझन में पड़ने की नौबत नहीं आई? 'सरस्वती' के जो उद्देश्य थे उनकी रक्षा मैंने दृढ़ता से की। एक दफे अलबत्ता मुझे इलाहाबाद के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट के बंगले पर हाज़िर होना पड़ा। पर मैं भूल से तलब किया गया था। किसी विज्ञापन के संबंध में मैजिस्ट्रेट को चेतावनी देनी थी। वह और किसी को मिली, क्योंकि विज्ञापनों की छपाई से मेरा कोई सरोकार न था।

मेरी सेवा से 'सरस्वती' का प्रचार जैसे-जैसे बढ़ता गया और मालिकों का मैं जैसे-जैसें अधिकाधिक विश्वास भाजन होता गया वैसे ही वैसे मेरी सेवा का बदला भी मिलता गया, और मेरी आर्थिक स्थिति प्रायः वैसी ही हो गई जैसी कि रेलवे की नौकरी छोड़ने के समय थी। इसमें मेरी कारगुज़ारी कम, दिवंगत बाबू चिंतामणि घोष की उदारता ही अधिक कारणीभूत थी। उन्होंने मेरे संपादन-स्वातंत्र्य में कभी बाधा नहीं डाली। वे मुझे अपना कुटुम्बी-सा समझते रहे, और उनके उत्तराधिकारी अब तक भी मुझे वैसे ही समझते हैं।

(3) इस समय तो कितनी ही महारानियाँ तक हिंदी का गौरव बढ़ा रही हैं, पर उस समय एकमात्र 'सरस्वती' ही पत्रिकाओं की रानी नहीं पाठकों की सेविका थी। तब उसमें कुछ छापना या किसी के जीवन-चरित्र आदि प्रकाशन करना ज़रा बड़ी बात समझी जाती थी। दशा ऐसी होने के कारण मुझे कभी-कभी बड़े-बड़े प्रलोभन दिए जाते थे। कोई कहता मेरी मौसी का मरसिया छाप दो, मैं तुम्हें निहाल कर दूँगा। कोई लिखता ––अमुक सभापति की 'स्पीच' छाप दो, मैं तुम्हारे गले में बनारसी दुपट्टा डाल दूँगा। कोई आज्ञा देता–– मेरे प्रभु का सचित्र जीवन-चरित्र निकाल दो तो तुम्हें एक बढ़िया घड़ी या पैरगाड़ी नज़र की जाएगी। इन प्रलोभनों का विचार करके मैं अपने दुर्भाग्य को कोसता और कहता कि जब मेरे आकाश महलों को खुद मेरी ही पत्नी ने गिरा कर चूर कर दिया, तब भला ये घड़ियाँ और गाड़ियाँ में कैसे हज़म कर सकूँगा। नतीज़ा यह होता कि मैं बहरा और गूँगा बन जाता और 'सरस्वती' में वही मसाला जाने देता जिससे मैं पाठकों का लाभ समझता। मैं उनकी रुचि का सदैव ख्याल रखता और यह देखता रहता कि मेरे किसी काम से उनको, सत्पथ से विचलित होने का साधन न प्राप्त हो। संशोधन द्वारा लेखों की भाषा अधिक-संख्यक पाठकों की समझ में आने लायक कर देता। यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फ़ारसी का या तुर्की का। देखता सिर्फ़ यह है कि इस शब्द, वाक्य या लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं। अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वत्ता की झूठी छाप छापने की कोशिश मैंने कभी नहीं की।

(4) सरस्वती में प्रकाशित मेरे लघु लेखों (नोटों) और आलोचनाओं ही से सर्वसाधारण जन इस बात का पता लगा सकते हैं कि मैंने कहाँ तक न्याय मार्ग का अवलंबन किया है। जानबूझ कर मैंने कभी अपनी आत्मा का हनन नहीं किया। न किसी के प्रसाद की प्रांप्ति की आकांक्षा की, न किसी के कोप से विचलित हुआ। इस प्रांत के कितने ही न्यायनिष्ठ सामाजिक सत्पुरुषों ने 'सरस्वती' का जो 'बायकाट' कर दिया था वह मेरे किस अपराध का सूचक था, इसका निर्णय सुधीजन कर सकते हैं।

अंतरंग क्षण

आचार्य देव

मैथिलीशरण गुप्त

मैं जब और कुछ न बन सका तब मैंने कवि बनने की ठानी, हाय ! कहीं सब पीले बाँस वेणु बन सकते ।

एक जन जो गधे पर बैठने की भी योग्यता न रखता था, बनाने वाले के बढ़ावे में आकर घोड़े पर चढ़ बैठा । घोड़ा भी ऐसा, जो धरती पर पैर ही न रखना चाहता था । ऐसा आरोही तो उसके लिए अपमानजनक था । परंतु क्या जाने घोड़े को भी विनोद सूझा और वह उसे एक वर्जित स्थान में ले दौड़ा । वहाँ का प्रहरी सतर्क होकर चिल्लाया––सावधान ? परंतु आरोही सावधान होकर भी क्या करे ? अब प्रहरी ने अपना अस्त्र सँभाल कर कहा––अच्छा, चला आ ऐसे ही । तब आरोही चिल्लाया––दुहाई आपकी, मैं स्वयं नहीं आ रहा हूँ, यह दुर्मुख मुझे लिए आ रहा है । प्रहरी भी समझ गया और जिसे अनधिकार प्रवेश करने का दंड देने जा रहा था उस भाग्यहीन अथवा भाग्यवान की उसे उलटी सँभाल करनी पड़ी ।

कवि तो बनाए नहीं जाते, परंतु कोप-भाजन होने योग्य होकर भी मैं पूज्य द्विवेदी जी महाराज का अनुग्रह भाजन हो गया । इससे बढ़कर किसी का क्या सौभाग्य होगा ।

पैंतीस-छत्तीस वर्ष पहले की बात है, मैं कुछ पद्य बनाने लगा था । पंडित जी उन दिनों झाँसी में ही थे, उनका नाम सुन चुका था और उनकी 'सरस्वती' के दर्शन भी मैंने पा लिए थे । मेरे मन में प्रश्न उठा––क्या सरस्वती में अन्य कवियों की भाँति मेरा नाम नहीं छप सकता ? इसका उत्तर अपने ही दीर्घ निःश्वास के रूप में मुझे मिल जाना चाहिए था, परंतु लड़कपन अल्हड़ होता है और दुस्साहसी भी ।

पिताजी के साकेतवास के पीछे उनके नाते कृपा बनाए रखने के प्रार्थी होकर अपने काका जी के साथ हम लोग पहली बार कलक्टर साहब को जुहारने झाँसी गए थे । मेरे जाने का प्रधान उत्साह और ही था । भीतर-भीतर 'सरस्वती' में अपना नाम छपवाने का डौल लगाने की लालसा से और बाहर आकर ऐसे महानुभाव के दर्शन करने की इच्छा से, अपने अग्रज को साथ लेकर मैं पंडित जी के स्थान पर पहुँचा । घर छोटा ही था, द्वार पर बाँस की सींकों की बनी लिपटी हुई चिक बंधी थी, जिसकी गोट का हरा कपड़ा कुछ फीका पड़ चला था । एक ओर उनके नाम की पट्टी लगी थी, दूसरी ओर भी एक पटली थी । उसमें लिखा था––सबेरे भेंट न होगी । हम लोग इस बात को सुन चुके थे । अतएव तीसरे पहर गए थे । तब भी वे आफिस से नहीं लौटे थे । छोटे से उसारे में एक बेंच पड़ी थी । उसी पर हम बैठ गए । भीतर कमरे में खुली अलमारियों की पुस्तकों की दूसरी दीवार-सी लगी थी । बाईं ओर के पक्खे से सटकर एक पलंग पड़ा था उस पर लपेटे हुए बिछौने ने लोड़ का रूप धारण कर रखा था । दाईं ओर के पक्खे से लगी हुई दो तीन कुर्सियाँ पड़ी थीं । बीच के रिक्त स्थान में पलंग से कुछ हट कर प्रवेश द्वार के खुले किवाड़ को छूता हुआ-सा एक छोटा-सा टेबुल या चेयर डेस्क था । उसके सामने भी एक कुर्सी पड़ी थी । टेबुल लिखने-पढ़ने की सामग्री से भरा था, परंतु सब सामग्री बड़े ढंग से सजाई गई थी । प्रवेश द्वार के सामने ही भीतर जाने का द्वार था उसमें से एक मझपौरिया दिखाई देती थी । सारा स्थान बहुत ही परिष्कृत, स्वच्छ और शांत-कांत दिखाई पड़ता था । तो भी पंडित जी के आने का समय निकट जान कर घर की परिचारिका हाथ में गमछा लिए उसे कमरे में इधर-उधर फटकार रही थी । ऐसा जान पड़ता था मानों

यह एक विधि है, जिसे आवश्यक हो या न हो, पूरा करना ही चाहिए । ऐसी समझदार और कुशल सेविकाएँ विरली ही होती हैं। बड़ी अपनाहत के साथ उसने हम लोगों का स्वागत-सत्कार किया । उसकी मृत्यु होने पर पंडित जी ने मुझे यथार्थ ही लिखा था ––ऐसा जन अब मिलने का नहीं ।

तनिक देर पीछे उसने एक बार इधर-उधर देखा फिर उसारे से नीचे उतरकर कुछ दूर तक पंडित जी के आने का मार्ग भी बुहार दिया । इतना करके मानों वह उस समय के कार्य से निश्चित हो गई । उसी समय पंडित जी ग्राते हुए दिखाई दिए । व्यक्तियों की विशिष्टता मानों उनके आगे चलती है। हम लोगों ने देखते ही समझ लिया, यही पंडित जी हैं, यद्यपि बिना पगड़ी के पंडित जी का अनुमान ही न कर सकता था और उनके सिर पर टोपी थी। मैंने संध्या समय दफ्तर लौटते हुए बहुत से बाबुओं को झाँसी में ही देखा था। जान पड़ा बाबू के वेश में वे कोई साहब हैं। विलायती साहब बहादुर से तो हम लोग मिल ही चुके थे। उनका जो तेज था बहुत कुछ उनके अधिकार के कारण था, पंडित जी का प्रताप सर्वथा व्यक्तिगत। हम लोग संभ्रम उठ खड़े हुए । जाड़े के दिन थे। वे हल्के कत्थई रंग का नीचा ऊनी कोट या अचकन पहने थे और ऊनी ही सफेद फलालैन का पतलून जैसा पाजामा । बाएँ हाथ में कुछ कागज़-पत्र लिए थे, दाएँ में छड़ी, दफ्तर से लौटने वालों के विपरीत अनातुर धीर गति से पैदल जा रहे थे। ऐसे मानों, अभी सवारी से उतरे हों। आफिस दूर न था और पैदल जाने से वे छोटे नहीं होते थे क्योंकि स्वभावतः बड़े थे। झूठे सम्मान के पीछे वे टहलने के सुयोग से वंचित क्यों होते जब सच्चा सम्मान उन्हें सुलभ था। ऊँचे ललाट के नीचे घनी और मोटी भौहें उनके अनुरूप ही थीं। उनकी छाया में विशेष चमकती हुई आँखें बड़ी न होने पर भी तेज से भरी दिखाई देती थीं। पंडितजी वेश-भूषा से सुसंस्कृत चिंतनशील जान पड़ते थे। हम लोगों का प्रणाम स्वीकार कर और हम पर एक दृष्टि डालकर वे कमरे के भीतर जाकर ही रुके । वहाँ इधर-उधर देखकर और तुरंत ही 'आइए' कहकर उन्होंने हमें भीतर बुलाया । जब तक हम कमरे में भीतर पहुँचे तब तक छड़ी और कागज़-पत्र यथास्थान रखकर उन्होंने अपनी टाइमपीस घड़ी उठा ली थी और उसमें ताली देना आरंभ कर दिया था । वे बड़े ही नियमबद्ध थे और संभवतः आफिस से लौटकर घड़ी कूकने का समय उन्होंने बाँध रखा था।

'बैठिए' सुनकर भी हम लोग खड़े ही रहे। हमारा भाव समझकर घड़ी रखते हुए वे पलंग पर बैठ गए। सामने की कुर्सी की ओर हाथ बढ़ाते हुए फिर स्निग्ध स्वर में बोले––बैठिए । हम लोगों के नाम ग्रौर परिचय से वे कुछ आकर्षित से हुए और हाल ही में हमें पितृहीन हुआ सुनकर सहानुभूति प्रकट करने लगे। पिताजी की अनन्य भक्ति की चर्चा के प्रसंग में उन्होंने यह भी पूछा की आप लोग किस संप्रदाय के अनुयायी हैं। 'विशिष्टा-द्वैत' सुनकर बोले––हाँ, बहुत दिन हुए पीछे प्रसिद्ध विद्वान माननीय बार्हस्पत्य जी से जब मैं पहली बार मिला तब उन्होंने भी मुझसे यही पूछा था और उत्तर सुनकर कहा था, हम विशिष्टाद्वैत मत के तो नहीं हैं पर अच्छा उसी को मानते हैं। यह कहकर वे मुस्कराने लगे थे। मैं भी उन्हीं का अनुसरण करके हँस गया था। पंडित जी ने हाँ करते हुए अपना संप्रदाय भी बताया था, संभवतः वल्लभ। इसी संबंध में उन्होंने एक बार कहा था हमारे पिता कुछ लिखने के पहले लिखा करते थे ––श्रीलाड़लेश्वराय नमः, परंतु अब हम देखते हैं यह लाड़ले और ईश्वर का संधि संयोग ही ठीक नहीं है।

पंडित जी से हम लोगों की बातचीत आरंभ ही हुई थी, इतने में भीतर से एक सुंदर और हृष्ट-पुष्ट बिल्ली ग्राई और उछलकर पंडित जी की गोद में आ बैठी। उनके कंठस्वर से उन्हें आया जानकर ही वह भीतर से दौड़ आई है । पशु-पक्षी मैंने भी पाले हैं परंतु पली बिल्ली मैंने पहले पहल वहीं देखी थी । मुझे बड़ा कौतूहल हुआ । मैंने देखा, पंडित जी धीरे-धीरे उस पर हाथ फेर रहे हैं और वह हर्ष और गर्व से एक असाधारण शब्द कर रही थी। जो लोग पक्के गाने से चिढ़ कर उसे बिल्लियों का लड़ाना कहते हैं वे कहीं उस बिल्ली का शब्द सुनते तो जानते कि बिल्लियाँ भी स्नेह में कैसा प्यारा बोलती हैं। पंडित जी ने पशु-पक्षियों की चेष्टाओं पर 'सरस्वती' में एक लेख लिखा था। मुझे ठीक स्मरण नहीं, इस बिल्ली को देखकर मुझे उसका ध्यान आ गया था अथवा उसे देखकर इसका ।

परंतु जिस उद्देश्य को लेकर मैं पंडित जी के यहाँ गया था उसके विषय में कुछ कहने का मुझे साहस ही न हुआ। मेरा सारा उत्साह न जाने कहाँ चला गया। मेरे अग्रज ने प्रसंग [illegible] कि ये भी कुछ कविता बनाते हैं। 'बड़ी अच्छी बात है' कहकर पंडित जी ने मेरी ओर देखा। मैं तो कुछ नहीं, कुछ नहीं कहकर संकोच से सिकुड़ गया। मुझे विपत्ति में पड़ा देखकर फिर उन्होंने कुछ नहीं कहा। कुछ कहने के लिए मैंने कहा हम लोग तो सबेरे ही आने वाले थे परंतु सुना कि संध्या को ही आपसे भेंट होती है, इसलिए इस समय सेवा में उपस्थित हुए हैं। वे हँसकर बोले—हाँ, सबेरे हम 'सरस्वती' का काम करते हैं और कुछ लेखादि लिखते हैं, फिर अवकाश नहीं पाते। परंतु जब आप इतनी दूर से आए हैं तब क्या हम उस समय भी आपसे न मिलते। कभी झाँसी आया कीजिए और सुविधा हो तो मिला कीजिए।

उनका अधिक समय लेना अपराध करना था। रोकने पर भी हम लोगों को विदा करने वे बाहर आए। आगत का स्वागत सभी करते हैं परंतु अपने छोटों के प्रति भी उनका सदा ऐसा ही उदार व्यवहार रहा।

अपने पद्यों के विषय में प्रत्यक्ष कुछ कहने की अपेक्षा पत्र-व्यवहार करने में ही मुझे सुविधा दिखाई पड़ी। वस्तुतः उनके प्रभाव से मैं अभिभूत हो गया। पीछे न जाने कितनी बार उनकी सेवा में उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे भी कृपा कर एक बार यहाँ पधारे परंतु वैसा आतंक कभी नहीं जान पड़ा। इसके विरुद्ध जैसे-जैसे निकट से उनका परिचय मिलता गया वैसे-वैसे उनकी सदयता और सहृदयता का ही अधिकाधिक अनुभव होता रहा। अपने कर्तव्य में ही वे कठोर प्रतीत होते थे। आत्मसम्मान का प्रश्न आ जाने पर उनमें अग्रता भी आ जाती थी अन्यथा उनका-सा कोमल हृदय दुर्लभ ही है। एक बार वाद-विवाद में दूसरे पक्ष ने लिखा यह विवाद व्यर्थ है, आप तो ब्राह्मण है आपको क्षमा नहीं छोड़नी चाहिए। पंडित जी ने उत्तर में लिखा—हमने जो आरोप लगाए हैं उन्हें व्यर्थ कहने से काम न चलेगा या तो आप कहिएं कि वे झूठे हैं, हम आपसे क्षमा याचना करेंगे या उनके लिए खेद प्रकट कीजिए। उस समय हम आपको हृदय से क्षमा न कर दें तो ब्राह्मण नहीं।

उनकी वैसी वेषभूषा भी फिर मैंने नहीं देखी। एक बार भेंट के साथ उन्हें वंडा कोट पहने देखकर तो ऐसा भी लगा, जैसे यह उनके अनुरूप न हो।

इधर प्रायः कुरता और धोती ही वे पहना करते थे और यह वेश उन्हें बहुत सोहता भी था। अभिनंदन के अवसर पर वे इसी परिच्छद में थे। अस्तु।

उस दिन लौटकर मुझे एक आत्मग्लानि-सी हुई कि मैं क्यों इतना हतप्रभ हो गया कि अपनी बात भी उनसे न कह सका। और, झूठ क्यों कहूँ, उनके प्रति कुछ ईर्ष्या भी मन में उत्पन्न हो गई। परंतु 'सरस्वती' में नाम छपने का लोभ प्रबल था। आशा भी बलवती थी। कुछ दिन पीछे मैंने एक रचना भेज ही दी और उत्सुकता से मैं उनके पत्र की प्रतीक्षा करने लगा। मुझे स्मरण नहीं, इतने लंबे समय में भी, पंडित जी ने मेरे किसी पत्र का उत्तर देने में विलंब किया हो। इतनी तत्परता मैंने और किसी से पत्र-व्यवहार में नहीं पाई। मैंने भी बहुत दिन उनका अनुकरण करने की चेष्टा की, परंतु अंत में मैं हार गया और अब तो शरीर और मन प्रकृतिस्थ न रहने से एक आध पत्र लिखना भी भारी हो उठा है। परंतु पंडित जी वृद्ध और क्षीण होने पर भी अंत तक अपना नियम निभाते रहे, कितनी दृढ़ता थी उनमें।

यथासमय उनका उत्तर आ गया—आपकी कविता पुरानी भाषा में लिखी गई है। सरस्वती में बोल-चाल की भाषा में ही लिखी गई कविताएँ छापना पसंद करता हूँ। राय कृष्णदास जैसे बंधु के संसर्ग से भी, जो एक-एक चिट भी यत्न से छाँट कर रखते हैं, मैं पत्रों के संग्रह में उदासीन रहा हूँ। इसी प्रकार डायरी न रखने से प्रसंगवश अथवा अचानक उठे हुए कितने ही विचार किंवाभाव भी मुझे खो देने पड़े हैं। परंतु पंडित जी के पत्र न जाने कैसे मैं आरंभ से ही रखता रहा। कुछ प्रारंभिक पत्रों की एक गड्डी संभवतः कहीं ऐसी सुरक्षित रखी है कि इस समय मुझे भी नहीं मिल रही है। ऊपर मैंने जिस पत्र का उद्धरण दिया है, संभव है, उसमें शब्दों का कुछ हेर-फेर हो, किंतु बात वही है।

'बोल चाल की भाषा' अर्थात् खड़ी बोली और पुरानी भाषा अर्थात् ब्रजभाषा। पाठक ही समझ लें मेरे मन में अपनी रचना की अस्वीकृति खली या ब्रजभाषा की उपेक्षा। मन कुछ विद्रोही था ही, आशा भी पूरी न हुई। अब क्या था। एक बड़ा-सा पत्र लिख दिया। एक बात सुनी थी कि शेखसादी साहब को फ़ारसी भाषा की मधुरता का बड़ा अभिमान था। एक बार वे यहाँ आए। ब्रजभाषा की प्रशंसा सुनकर उन्होंने नाक सिकोड़ी और भौंहें चढ़ाईं। घूमते-घामते वे ब्रज में पहुँचे, वहाँ मार्ग में पहले-पहल एक छोटी-सी लड़की की बात सुनी। वह अपनी माता से कह रही थी--"मायरी माय मग चल्यो न जाए--साँकरी गली पाँय कांकरी गड़तु है।" इस बात का संकेत भी मैंने अपने पत्र में कर दिया और समझ लिया कि बदला ले लिया। परंतु उस पत्र का कोई उत्तर न मिला। भगवान ही जाने, इसे मैं अपनी जीत समझा या अपने प्रहार को सर्वथा निष्फल समझकर और भी हताश हो गया। प्रतिघात सह लिया जा सकता है किंतु आघात का व्यर्थ होना प्रतिघात से भी कठोर होता है। तथापि मेरी क्षुद्रता का वे क्या उत्तर देते? मैंने धृष्टतापूर्वक एक पत्र और भी इस संबंध में भेजा वह वैसा ही लौट आया अथवा लौटा दिया गया।

इस बीच कलकत्ते के 'वैश्योपकारक' मासिक-पत्र में मेरे पत्र छपने लगे थे। इससे मुझे अपने कवि होने का अभिमान हो गया था। परंतु हिंदी की एक मात्र प्रतिष्ठित पत्रिका 'सरस्वती' थी। कवि होने का प्रमाण तो उसी में कविता छपने से मिल सकता था, छाप उसी के नाम की लगती थी। मन मेरा उधर ही लगा था। झख मार कर खड़ी बोली के नाम से 'हेमंत' शीर्षक कुछ पद्य लिखे। उन्हीं दिनों स्वर्गीय राय देवी प्रसाद पूर्ण की 'शरद' नाम की एक कविता 'सरस्वती' में छपी थी। वह पुरानी भाषा में ही थी, शरद छपी तो 'हेमंत' छप सकता है। उसे भेजते हुए मैंने निर्लजतापूर्वक इतना और लिख दिया कि प्रसन्नता की बात है, अब 'पुरानी भाषा के संबंध में आपका विचार बदला है।' जिस दिन उत्तर मिलना चाहिए था, उत्सुकतापूर्वक मैं स्वयं डाकघर पहुँचा। उनका उत्तर पोस्टकार्ड के रूप में उपस्थित था। धड़कते हृदय से पढ़ा, लिखा था--"आपकी कविता मिली। राय साहब की कविता अच्छी होने से हमने छापी हैं।" अब समझ में आया कि नई-पुरानी भाषा का तो एक बहाना था, मेरी कविता अच्छी न होने से न छप सकी थी। यह उस समय भी न समझ में आया कि मेरी रचना अच्छी न थी, फिर भी उन्होंने उसे बुरा न बता कर भाषा की बात कह कर कितनी शिष्टता से उत्तर दिया। यद्यपि यह ठीक था कि बोलचाल की भाषा की कविता के ही वे पक्षपाती थे और उसी का प्रचार भी कर रहे थे। जो हो, मेरा जी बैठ गया। एक महीना बीत गया। 'सरस्वती' आई पर 'हेमंत' न आया। वह क्यों नहीं आया, आवेगा भी या नहीं, यह पूछने का धीरज न रहा। कन्नौज से 'मोहिनी' नाम की एक समाचार-पत्रिका निकलती थी। उसी में छपने के लिए मैंने 'हेमंत' भेज दिया और अगले सप्ताह ही वह छपकर आ गया। एक द्विवेदी जी न सही तो दूसरे गुणग्राहक तो विद्यमान हैं, यों मैंने मन समझाने की चेष्टा की। मन ने मान भी लिया, कारण, अपमान भी उसी ने माना था तथापि उसके एक कोने से यह शब्द उठे बिना न रहा कि हाय सरस्वती।

नए वर्ष की 'सरस्वती' आई, नई ही सजधज से। अब उसका रूप रंग और भी सुंदर हो गया। देखकर जी ललचा गया। परंतु जिस बात की आशा भी न थी उस 'हेमंत' को भी वह ले आई। मेरा रोम-रोम पुलक उठा, जिस रूप में मैंने उसे भेजा था उससे दूसरी ही वस्तु वह दिखाई पड़ती थी, बाहर से ही नहीं भीतर से भी। पढ़ने पर मेरा आनंद आश्चर्य में बदल गया। इसमें तो इतना संशोधन और परिवर्द्धन हुआ था कि यह मेरी रचना ही नहीं कही जा सकती थी। कहाँ वह कंकाल और कहाँ यह मूर्त्ति। वह कितना विकृत और यह कितना परिष्कृत। फिर भी शिल्पी के स्थान पर नाम तो मेरा ही छपा है। मुझे अपनी हीनता पर लज्जा आई और पंडित जी की उदारता देखकर श्रद्धा से मेरा मस्तक झुक गया। परिश्रम उन्होंने किया उसका फल मुझे दे डाला। यह तो मुझे पीछे ज्ञात हुआ कि मेरे जैसे न जाने कितने लोग उनसे इस प्रकार उपकृत हुए हैं। नाम की अपेक्षा न रखकर काम करना साधारण बात नहीं है। परंतु काम आप करके नाम दूसरे का करना और भी असाधारण है। पंडित जी अपने संपादकीय जीवन भर यही करते रहे। उनके तप और त्याग का मूल्य

आँकना सहज नहीं। हिंदी के प्रभविष्णुकवि स्वर्गीय नाथूराम शंकर शर्मा ने एक पत्र में मुझे लिखा था 'संपादक जी बहुधा कविताओं में संशोधन भी कर देते हैं।' 'केरल की तारा' नाम की कविता में लिखा था।

पीठ पर टपका पड़ा तो आँख मेरी खुल गई
चार बूँदों से मिले मन की लंगोटी धुल गई।

इसमें नीचे की पंक्तियाँ उन्होंने बदलकर छापी —

विशद बूँदों से मिले मन मौज-मिश्री घुल गई।

लाभ से मेरा लोभ और भी बढ़ गया। कुछ दिन पीछे 'क्रोधाष्टक' नामक तुकबंदी और भेज दी। उपद्रव सहने की भी एक सीमा होती है। इस बार क्षुब्ध होकर उन्होंने जो पत्र लिखा वह, इधर स्मृति विकृत होने पर भी मुझे भली-भाँति स्मरण है :—

हम लोक सिद्ध कवि नहीं। बहुत परिश्रम और विचारपूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढ़ने योग्य बन पाते हैं। आप दो बातों में से एक भी नहीं करना चाहते। कुछ भी लिखकर उसे छपा देना ही आपका उद्देश्य जान पड़ता है। आपने 'क्रोधाष्टक' थोड़े ही समय लिखा होगा परंतु उसे ठीक करने में हमारे चार घंटे लग गए, पहला ही पद्य लीजिए।

होवे तुरंत उनकी बलहीन काया
जाने न वे तनिक भी अपना-पराया
होवे विवेक वर बुद्धि विहीन पाई
रे क्रोध, जो जन करे तुझको कदापि।

क्या आप क्रोध को आशीर्वाद दे रहे हैं जो आपने क्रियाओं का प्रयोग किया। इसे हम अवश्य 'सरस्वती' में छापेंगे, परंतु आगे आप सरस्वती के लिए लिखना चाहें तो इधर-उधर अपनी कविताएँ छपाने का विचार छोड़ दीजिए। जिस कविता को हम चाहें उसे छापेंगे। जिसे न चाहें उसे न कहीं दूसरी जगह छपवाइए, न किसी को दिखलाइए। ताले में बंद करके रखिए।

रोष ही मेरे लिए परितोष बन गया। अयोग्य देखकर पंडितजी ने मुझे त्यागा नहीं, सदा के लिए अपना लिया। इसी पत्र में मुझे बोलचाल की भाषा में पद्य रचने का गुर मिल गया। परंतु बातें इतनी ही नहीं हैं, आज और कुछ न लिखकर अपने प्रभु से यही प्रार्थना करता हूँ कि परलोक में भी उनका पथ-प्रदर्शन मुझे प्राप्त हो।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

श्रीप्रकाश

प्रयाग से प्रकाशित हिंदी मासिक पत्रिका 'सरस्वती' को मेरी माता आरंभ से ही लेती थीं। जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, 1 जनवरी, 1900 को इसका प्रथम अंक निकला था। मेरी अवस्था उस समय दस वर्ष की भी नहीं थी। 'सरस्वती' को मैं बड़े प्रेम से नियमित रूप से पढ़ता था। उस समय उसका संपादन कई सज्जनों का मंडल करता था। संभवतः इसमें श्री श्यामसुंदर दास और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी दोनों ही थे। हिंदी के अनन्य सेवकों में इन दोनों का ही नाम लिया जा सकता है। पीछे पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ही उसके संपादक रहे, और उनके मार्ग दर्शन से पत्रिका की बड़ी उन्नति हुई और उसकी लोकप्रियता बढ़ती गई। मुझे स्मरण है कि श्री श्यामसुंदर दास और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी में किसी विषय पर घोर मतभेद हुआ और 'सरस्वती' के स्तंभों में श्री श्यामसुंदर दास के पक्ष की बहुत दिनों तक कटु आलोचना होती रही। विवाद का विषय मुझे याद नहीं है पर यह अवश्य याद है कि दोनों ही अपने-अपने मत का प्रतिपादन करते रहे और अटल खड़े रहे। दोनों ही बड़े आग्रही और हठी थे।

मेरा प्रथम संपर्क द्विवेदी जी से सन् 1916 में हुआ। दिसंबर, 1913 के बड़े दिन (क्रिसमस) की छुट्टी मैंने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अपने कुछ सहपाठियों के साथ फ्रांस की सुंदर राजधानी पेरिस में बिताई थी। वहाँ के दृश्यों का वर्णन मैंने अपनी माता के पास एक लंबे पत्र में भेजा था। उन दिनों काशी के कुछ नवयुवक हस्तलिखित मासिक-पत्रिका निकालते थे। मालूम पड़ता है कि किसी मित्र ने माता से यह ले लिया और उसे इसमें प्रकाशित कर दिया। उस समय श्री हरिभाऊ उपाध्याय 'औडंबर' नाम की पत्रिका निकालते थे। उन्होंने मेरे पत्र को देखा और उसे अपनी पत्रिका में प्रकाशित कर दिया। संयोगवश द्विवेदी जी ने इसे पढ़ा और बहुत पसंद किया।

द्विवेदी जी का अचानक मुझे पत्र मिला। उन्होंने लिखा कि 'औडंबर' म आपका लेख पढ़के परमानंद हुआ। 'सरस्वती' के लिए भी आप लिखिए। इसके बाद ही लेख लिखकर मैंने उनके पास भेजे। हिंदी में लेख लिखने की प्रेरणा मुझे इसी घटना से मिली। अपने मित्र श्री हरिभाऊ उपाध्याय और पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रति मैं इसके लिए अनुगृहीत हूँ। वास्तव में मैं उनका चिर ऋणी हूँ। 'सरस्वती' में अधिक लेख न लिखने का कारण यह हुआ कि द्विवेदी जी को अपनी ही शैली पसंद थी। वे सबके लेख फिर से इस शैली

विशेष में लिखते थे और तब प्रकाशित करते थे। मुझे यह न पसंद था, न है। इस संबंध में द्विवेदी जी से मेरा कुछ पत्र-व्यवहार भी हुआ। पत्र लिखने में वे बड़े प्रवीण थे। तुरंत उत्तर देते थे। इस संबंध में मेरा उनका मतभेद बना रहा। इस कारण दो के बाद तीसरा लेख मैंने नहीं लिखा। वास्तव में द्विवेदी जी लेखकों की भाषा इतनी बदल देते थे कि मूल लेखक अपनी लिखाई को स्वयं ही नहीं पहिचान सकता था। कम से कम मेरा अनुभव तो ऐसा ही हुआ।

बहुत वर्षों बाद—मुझे साफ़ याद नहीं है—संभवतः द्विवेदी जी की मृत्यु के थोड़े ही दिन पहले उनके संमानार्थ काशी को नागरी प्रचारिणी सभा में बहुत बड़ा आयोजन किया गया। उसी में मुझे द्विवेदी जी का प्रथम और अंतिम दर्शन करने का अवसर मिला। हिंदी के तो वे प्रवर्तक थे ही, संस्कृत भाषा पर भी उनको अपूर्व अधिकार था। उन्हें कितने ही संस्कृत श्लोक कंठस्थ थे। जब मैं उनसे मिला तो उन्होंने सुंदर श्लोक पढ़ते हुए मेरा स्वागत किया। जो-जो उनसे मिलता गया, वह इसी प्रकार से नए-नए श्लोकों द्वारा अभिनंदित किया गया। बहुत बड़ी सभा हुई। बहुत से विशिष्ट लोगों ने द्विवेदी जी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की। हिंदी भाषा और साहित्य की उनकी सेवाओं की प्रशंसा की। मालूम नहीं क्यों, मुझसे भी कुछ बोलने को कहा गया। जो मैंने वहाँ कहा, उसी का यहाँ भी उद्धरण कर सकता हूँ। उनकी सराहना करने के बाद मैंने, कहा कि द्विवेदी जी का एक बहुत बड़ा गुण है जो हम भारतीयों में साधारणतया नहीं पाया जाता, और साथ ही एक दोष है, जिससे सभी साहित्यिकों को बचे रहना चाहिए। गुण यह है कि द्विवेदी जी नए-नए लेखकों की खोज में रहते हैं और उन्हें उत्साहित करते हैं। इस प्रकार वे नए लेखकों का निर्माण करते हैं और साहित्य की वृद्धि में सहायक होते हैं। हमारे देश में सफल वयोवृद्ध व्यक्ति कभी भी नवयुवकों को सहायता नहीं देते। उनको उत्साहित नहीं करते। उनकी प्रशंसा करना तो जानते ही नहीं। इसी कारण हमारे देश में वास्तविक उन्नति तो होने ही नहीं पाती। सब परंपरा लुप्त हो जाती है। व्यक्ति विशेष अपना नाम छोड़ जाते हैं। उनका काम उनके साथ चला जाता है। मैंने इस पर अपने पेरिस के पत्र और "औडंबर" की कहानी सुनाई और कहा कि यदि सभी प्रवीण हिंदी साहित्यिक गण द्विवेदी जी का अनुकरण करें तो हिंदी की कितनी उन्नति हो सकती है और कितने नए लेखक तैयार किए जा सकते हैं। साथ ही मैंने बिना संकोच उनका यह दोष भी बतलाया कि वे भाषा की अपनी ही शैली पसंद करते हैं। किसी दूसरी शैली को स्थान नहीं देना चाहते। लेखक की शैली उसके व्यक्तित्व की द्योतक है और उसे उत्साहित करना चाहिए, रोकना नहीं चाहिए। एक ही भाषा भिन्न-भिन्न लेखकों के हाथ में विभिन्न शैलियों द्वारा नाना प्रकार के सुंदर रूप और रंग लेती है। मेरा आग्रह था कि द्विवेदी जी कृपाकर इस आवश्यक विषय के इस पहलू पर भी विचार करें।

बहुत से लोगों ने मेरे भाषण को पसंद किया। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने तो यहाँ तक कहा कि उस सभा में मौलिक बातें तो केवल मैंने ही कहीं। अन्य सब लोग तो साधारण शिष्टाचार की ही बातें कहते रहे। मैं नहीं कह सकता कि यह बात कहाँ तक ठीक थी। पर मैं उस समय नया लेखक ही था, इस कारण प्रसन्न ही हुआ। द्विवेदी जी ने क्या समझा, यह मुझे कभी नहीं मालूम हुआ।

द्विवेदी जी का हिंदी जगत में उचित रूप से इतना ऊँचा स्थान है कि उनके समय को 'द्विवेदी युग' कहा जाता है। मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ कि "द्विवेदी शती" के शुभ अवसर पर "भाषा" त्रैमासिक के द्विवेदी स्मृति अंक के द्वारा मैं भी श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर सकूँ। यह सर्वथा उचित है कि आज हम इन दिग्गज साहित्यिक और विशिष्ट संपादक को स्मरण करें, और उनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा करें। उन्होंने हिंदी की ऐसे समय सेवा की जब उसके समर्थक बहुत थोड़े थे और हर तरफ से उसका विरोध ही विरोध होता था। भारतीय संविधान में और भारत के जीवन में हिंदी ने आज विशेष स्थान प्राप्त किया है। द्विवेदी जी जैसे नेताओं के ही परिश्रम का यह फल है। हमें आज यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि हम अपने को इनके योग्य सिद्ध करें और इनके बताए हुए मार्ग पर चलकर देश, साहित्य और समाज की सेवा करने में सदा कटिबद्ध रहें। ●

आचार्य द्विवेदी

हरिभाऊ उपाध्याय

पूज्य द्विवेदी जी का स्मरण होते ही मेरे सामने पिता और गुरू की एक संमिलित मूर्ति खड़ी हो जाती है। जब मैं 'सरस्वती' में जाने लगा था, तब मुझको कुछ हितैषियों ने मना किया था कि 'द्विवेदी जी से तुम्हारी पटेगी नहीं, तुम वहाँ न रह सकोगे, वे बहुत कड़े और क्रोधी हैं। कोई सहायक उनके पास अधिक समय तक नहीं टिका है।' मैंने अपने मन में सोचा कि 'जब पूज्य द्विवेदी जी इतने विद्वान, ऐसे सुयोग्य संपादक, और हिंदी संसार में ऐसे मान्य पुरुष हैं, तब ऐसा कोई कारण नहीं कि मैं उनके अधीन काम करने में हिचकूँ या किसी भावी भय को हृदय में स्थान दूँ। यदि वे कड़े हैं तो काम ही तो अधिक लेंगे, यदि क्रोधी होंगे तो कुछ भला-बुरा ही तो कह लेंगे, कोई अमानुषिक व्यवहार तो करेंगे नहीं।' फिर मैं तो उनके प्रति बहुत श्रद्धा और गुरु-भाव रखकर जाना चाहता था। तो, मैंने मित्रों से कहा कि उनकी कड़ाई मेरे लिए अच्छी ट्रेनिंग का काम देगी और उनका क्रोध मेरे लिए वरदान होगा। बस, मैं चल पड़ा। प्रयाग में 'इंडियन प्रेस' के एक कमरे में मैं पूज्य द्विवेदी जी के सामने पहले-पहल पेश किया गया। मैं मन में कुछ सहम रहा था। उनका खासा लम्बा कद, विशाल और रोबदार चेहरा, बड़ी-बड़ी मूँछें ये सब उनके तेजस्वी व्यक्तित्व की छाप डाल रहे थे। उनके सामने में दुबला-पतला अधमरा-सा युवक पहुँचा। पहुँचते ही उन्होंने मुझसे पूछा 'ओहो! आप भी ऐनक लगाते हैं।' मेरे पाँव के नीचे से ज़मीन खिसक गई। मैंने सोचा, क्या पहली परीक्षा में ही फेल होना होगा? उन्होंने और कुछ चुने हुए प्रश्न किए, जिनके उत्तरों में उन्होंने मुझे भीतर बाहर सब अच्छी तरह समझ लिया। मैं खूब समझ रहा था कि मुझ पर जबरदस्त 'सर्चलाइट' पढ़ रही है। लेकिन उस समय भी मुझे यही प्रतीत हो रहा था कि मैं एक सहृदय और सहानुभूतिशील बुजुर्ग के सामने हूँ। अस्तु, कोई तीन वर्ष मुझे द्विवेदी जी के चरणों में रह कर 'सरस्वती' की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त रहा। मुझे कभी याद नहीं पड़ता कि क्रोध करने की बात ही क्या, कभी तेज़ स्वर में भी द्विवेदी जी ने मुझे कुछ कहा हो। मुझे याद है कि 'जुही' में दस बारह रोज मेरे काम करने के बाद ही उन्होंने मुझसे कहा 'उपाध्याय जी, आप इतनी जल्दी काम पूरा करके क्यों दे देते हैं। जो बहुत ज़रूरी होगा, उसके लिए मैं स्वयं कह दिया करूँगा। बाकी काम फुरसत से और आराम से कर दिया कीजिए। दिन रात मेहनत करने की ज़रूरत नहीं।' उसी समय मैंने इस रहस्य को समझ लिया कि द्विवेदी जी काम करने और काम चाहने वाले आदमी हैं। खुद भी कड़े परिश्रम से काम करते हैं और चाहते हैं कि दूसरे भी ऐसा ही करें। जो आदमी स्वयं परिश्रमी होता है, वह इस बात को सहन नहीं कर सकता कि दूसरा आदमी आलसी बना रहे या काम में टालमटोल करता रहे। मुझे तो यहाँ तक याद है कि कोई कठिन समय आ पड़ा है, मैं बीमारियों और कौटुंबिक कठिनाइयों में घिर गया हूँ, तो पूज्य द्विवेदी जी ने खुद ही 'आर्डिनेंस' निकाल कर मुझे 'सरस्वती' के काम के बोझ से मुक्त कर दिया है और स्वयं वह काम कर लिया है। निःसंदेह उनके रोबदार चेहरे और लंबे-चौड़े डील डौल के अंदर बड़ा ही सहानुभूति-पूर्ण और करुणार्द्र हृदय छिपा हुआ है। मेरे दो छोटे भाइयों का जीवन बचना असंभव था, यदि पूज्य

द्विवेदा जी उनके इलाज का बोझ मुझ अनुभवहीन युवक के हाथ से लेकर अपने ऊपर न डाल लेते। कहाँ तक कहूँ, पूज्य, द्विवेदी जी की तेजस्विता और नियमनिष्ठा की भी बड़ी गहरी छाप मेरे हृदय पर पड़ी है। उनके दैनिक कार्यक्रम से परिचित रहने वाला मनुष्य यह निःसंदेह वता सकता है कि द्विवेदी जी अमुक समय पर अमुक काम करते हैं। अपने गुरुजनों से तो मैंने उनसे बढ़कर नियमनिष्ठ महात्मा जी––गांधी जी––को ही देखा है। पूज्य द्विवेदी जी इस बात को गवारा नहीं कर सकते कि कोई आदमी चालाकी से या दबाकर उनसे कोई काम करा ले। एक दफा एक पी-एच० डी० महोदय ने एक लेख लिखकर भेजा। उन दिनों 'बी० ए० और एम० ए०' वालों के लेखों के लिए भी संपादकों को बड़ा प्रयत्न करना पड़ता था। पी-एच० डी० तो कम से कम मेरी दृष्टि में देवताओं के समान थे। लेख के साथ पत्न में पी-एच० डी० महोदय ने लिखा कि 'इसके संशोधन में आप कृपा करके कोई उर्दू शब्द न डालें।' द्विवेदी जी ने बिना विलंब उनका लेख लौटा दिया और लिख दिया कि 'संपादन के संबंध में मैं किसी की कोई शर्त स्वीकार नहीं कर सकता।' एक सज्जन ने स्वदेशी शक्कर की कुछ थैलियाँ द्विवेदी जी को भेंट की। उनका गर्भित आशय यह था कि द्विवेदी जी उनके संबंध में 'सरस्वती' में कुछ लिख दें। कुछ दिनों के बाद फिर वे सज्जन उनसे मिले और उन्होंने उन थैलियों की याद दिलाई, तो अपनी अलमारी की ओर हाथ उठाकर द्विवेदी जी ने कहा 'तुम्हारी थैलियाँ जैसी की तैसी रखी हुई हैं। 'सरस्वती' इस तरह किसी के व्यापार का साधन नहीं बन सकती।'

पूज्य द्विवेदी जी बड़े सुव्यवस्थित, अध्ययनशील और परिश्रमशील हैं। उनके अध्ययन के तो कई सुफल हिंदी संसार के सामने हैं। सुव्यवस्थित इतने कि यदि किसी दूसरे आदमी ने उनके पुस्तकालय में पुस्तकें इधर-उधर की हों तो उनको फौरन पता लग जाता था। पुरानी चीज़ों और यादगारों के संग्राहक ऐसे कि कोई बीस बरस पहले की रखी हुई पूने की बढ़िया इनी-गिनी अगरबत्तियों में से एक उन्होंने मुझे बड़े प्रेम से दी थी और मैंने उन्हें उनका आशीर्वाद समझ कर ग्रहण किया था। पैकटों की डोरियाँ, चपड़ी और लेबल के कागज़ काट कर, सँभालकर और सँवार कर रखते और उनका उपयोग करते। अखबार इतने गौर से पढ़ते थे कि एक बार विज्ञापनों में से एक कटिंग मेरे पास भेज दिया और लिखा कि तुम्हारे चचा जी को जो फलां बीमारी है, उसके लिए यह दवा उपयोगी होगी। संपादन में इतना परिश्रम करते थे कि ऐसा मालूम होता था मानो सारी 'सरस्वती' के लेख एक ही कलम से लिखे गए हों। मेरी समझ में पूज्य द्विवेदी जी नई हिंदी के पथ-प्रदर्शक हैं। उन्होंने हिंदी संसार में अपनी एक विशिष्ट लेखन शैली और संपादन कला का प्रवेश कराया है। उनके समय में 'सरस्वती' में लेख का छप जाना अहोभाग्य समझा जाता था। 'सरस्वती' की समालोचनाओं का बड़ा असर पाठकों पर होता था। समालोचना की जो धाक मराठी में 'केसरी' की थी, हिंदी में वही 'सरस्वती' की थी। द्विवेदी जी निर्भीक समालोचक हैं। वे वैसे ही साहित्यिक योद्धा भी हैं। कोई धमकी उन पर असर नहीं कर सकती। उनके 'कालिदास की निरंकुशता', 'भाषा की अनस्थिरता' आदि उस समय के विवाद प्रसिद्ध ही हैं, जिनमें उनके योद्धापन और निर्भीकता का काफ़ी परिचय मिलता है। हिंदी में कई कवियों और लेखकों के तैयार करने का श्रेय उन्हीं को है। आज हिंदी में सौभाग्य से कई मासिक-पत्रिकाएँ निकल रही हैं। परंतु द्विवेदी जी के समय की 'सरस्वती' की धाक हृदय पर से मिटाए नहीं मिटती। मैं तो अब भी चौदह पंद्रह वर्ष बीत जाने पर भी, जब उन तीनों वर्षों का स्मरण करता हूँ तो, उस समय से अब सब तरह से कहीं अच्छी हालत में होते हुए भी अपनी किसी चीज़ को खोई हुई पाता हूँ। 'सरस्वती' से संबंध छोड़ने के बाद भी मेरे प्रति पूज्य द्विवेदी जी का वही वात्सल्यभाव रहा है। पूज्य महात्मा जी के वातावरण में आने का पथ मेरे लिए सुगम बना देने में भी पूज्य द्विवेदी जी का बड़ा हाथ है। सन् 1921 में उन्होंने जो दो अच्छे शब्द मेरे लिए मान्यवर जमनालाल जी बजाज को लिख दिए, उनसे हिंदी नवजीवन की योजना को प्रकृत रूप देने में बहुत सहूलियत पैदा हो गई। जिन पुरुषों के प्रभाव से मेरा जीवन कुछ बना है, उनमें पूज्य द्विवेदी जी भी एक उच्च पुरुष हैं। और आज मुझे इन शब्दों में उनके प्रति अपना आदर भाव प्रगट करते हुए बहुत हर्ष होता है। वे जुग-जुग जिएँ और हम जैसों को उत्साहित एवं अनुप्राणित करते रहें, यही जगन्नियंता से प्रार्थना है। ●

संस्मरण

वृंदावनलाल वर्मा

"सरस्वती" में मेरा सबसे पहला लेख 1908 के संभवतः मई अंक में निकला था । फिर 1909 के अगस्त या सितंबर के अंक में मेरी सबसे पहली कहानी 'राखीबंद भाई' प्रकाशित हुई और शायद दूसरी कहानी 'राजपूत की तलवार' भी उसी वर्ष ।

1916 या 17 में मैंने उनके दर्शन प्रथम बार किए । साथ में श्री गणेशशंकर विद्यार्थी, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री अजमेरी और दो सज्जन और थे।

द्विवेदी जी झाँसी में रह चुके थे। मुझ से कई लोगों के बारे में पूछा । अधिकांश बातें उन पुराने वकीलों की बाबत पूछीं जो उनके मित्र या परिचित रहे थे।

इसके बाद द्विवेदी जी ने अपना पान का डिब्बा खोला । मैं सुन चुका था कि द्विवेदी जी का पान बिरले भाग्यशालियों को ही प्राप्त होता है। उनकी यह कृपा मुझे भी हाथ लगी।

1922 के लगभग जब विद्यार्थी जी पर रायबरेली में दफ़ा 500 का मुकदमा चला, मैं भी पैरवी के लिए जाया करता था। एक दिन देखें तो द्विवेदी जी कानपुर स्टेशन पर गाड़ी चलने के पहले आ गए। विद्यार्थी जी साथ थे। उन्हें द्विवेदी जी बहुत प्यार करते थे। मुझ से कहा—"भैया वर्मा जी, गणेश जी की पैरवी अच्छी तरह करना—" आगे कुछ न कह सके। गला भर आया और आँखें छलक आईं ।

मैं सरस्वती के सभी लेख आद्योपांत पढ़ा करता था—1907 से ही। उसी वर्ष एक कविता पढ़ी जिसका शीर्षक आज भी याद है। 'सरगो नरक ठिकाना नाहिं'। बड़े कसे व्यंग थे इस कविता में।

बा० बालमुकुंद गुप्त कलकत्ता से निकलने वाले 'भारत मित्र' के संपादन थे। उनके संपादक में 'भारत मित्र' खूब चला । पहले वह लाहौर से प्रकाशित होने वाले एक उर्दू अखबार के संपादक थे। फिर हिंदी जगत में आ गए। भाषा चुस्त रहती थी, परंतु उर्दू के शब्द और मुहाविरों का प्रयोग अधिक होता था। द्विवेदी जी इस प्रणाली के पक्षपाती नहीं थे। मतभेद हो गया। खटपट के कई कारण थे, परंतु यह कारण विशेष था।

प्रसिद्ध इतिहासकार बा० काशीप्रसाद जायसवाल और स्वामी सत्यदेव जी ने द्विवेदी जी की कृपा से ही प्रारंभिक विख्याति का प्रसाद पाया। बा० काशीप्रसाद बैरिस्टरी पास करने के लिए इंग्लैंड चले गए। वहाँ से लौटने के बाद भी सरस्वती में लेख लिखते रहे। एक दिन द्विवेदी जी की टिप्पणी पढ़ने को मिली। यह जायसवाल जी के नाम पर थी—"मि० के० पी० जायसवाल सरस्वती के पुराने बा० काशी प्रसाद जायसवाल।"

किसी उर्दू-फ़ारसी वाले ने हिंदी संस्कृत का मज़ाक उड़ाया । द्विवेदी जी भला कैसे सह सकते थे? उन्होंने फ़ारसी की एक सतर उद्धृत की—"बरतर नतीज़ा हिल्म।" नुकतों की गड़बड़ हो जाने के कारण पढ़ा गया—नरिमर ने चा चिल्म।"

हिंदी के लिए द्विवेदी जी की देन महान, अक्षय और अमर है।

आचार्य द्विवेदी जी कविता भी करते थे। बात बहुत पहले की है, तब की जब वह 'सरस्वती' के संपादक नहीं हुए थे। एक कविता तो संस्कृत की भी पढ़ी मैंने उनकी। खड़ी बोली की कविता के रूप की वर्तमानता का अधिकांश श्रेय द्विवेदी जी को है।

समालोचना के क्षेत्र को भी उनकी देन महान् है। उस युग म ऐसी सूक्ष्म और इतनी निर्मम समालोचना बहुत ही कम लोग करते होंगे। श्री पद्मसिंह शर्मा द्विवेदी जी के बड़े मित्र थे। कवि और साथ ही उद्भट समालोचक भी। मुझे भी शर्मा जी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। शर्मा जी के हृदय में द्विवेदी जी के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। बातों-बातों में उन्होंने द्विवेदी जी के प्रति बड़ा आभार प्रदर्शन किया था। हम सब दविवेदी जी के चिर ऋणी हैं। ●

आचार्य को प्रणाम

प्रयागदत्त शुक्ल

मैं उन भाग्यशाली व्यक्तियों में अपने को गिनता हूँ--जिन्हें स्व० महाबीरप्रसाद जी द्विवेदी का कुछ ममत्व मिला है। मैंने उनका प्रथम दर्शन सन् 1915 में किया--कभी-कभी परिवार और रिश्तेदारी की चर्चाओं में उनका नाम सुनता था। द्विवेदी जी का दर्शन कराने के लिए मेरे मौसिया 'रसिक-मित्र' के संपादक पं० मनोहरलाल मिश्र लिवा ले गए थे। परिचय पाते ही उन्होंने मेरे पितामह के कुछ संस्मरण सुनाए, जो गोरक्षणी सभा के मंत्री और 'गोरक्षा' पत्र के संपादक थे। उस समय उनकी अवस्था बावन वर्ष के लगभग थी। उन्होंने यह भी कहा था कि नागपुर नगर रुचा नहीं और कोई रुचिकर कार्य भी नहीं मिला। इसलिए पिता स्व० पं० रामसहाय द्विवेदी के पास बंबई चले गए। सेना से निवृत्त हो पं० रामसहाय जी बंबई में 'वल्लभकुल के बड़े मंदिर के' कर्मचारी थे। बंबई उस समय में साहित्य, राजनीति और सामाजिक हलचलों का प्रधान केंद्र था। वहाँ मराठी, गुजराती और संस्कृत के कुछ अच्छे विद्वान थे और उनके द्वारा साहित्य प्रकाशन भी होता था। यही कारण है कि स्व० गोकुलनाथ जी महाराज के संपर्क से द्विवेदी जी को संस्कृत, मराठी, गुजराती और अँग्रेज़ी ग्रंथों के अध्ययन का अवसर मिला। इसी बहुभाषाविज्ञता ने आगे चलकर आपके संपादकीय कार्य में बड़ी सहायता की।

एक शताब्दी पूर्व 28 अप्रैल या बैशाख शुक्ल चतुर्थी (संवत् 1921) को द्विवेदी जी का जन्म हुआ था। वह तिथि इस वर्ष को पंद्रह मई को आई है। मैंने उनको कभी समीप और कभी दूर से देखा है और जो कुछ समक्ष पाया--उसी का उल्लेख करूँगा। द्विवेदी जी ने साहित्यिक सेवा का नियमित कार्य कोई चालीस वर्ष की अवस्था में संभाला था। इससे पूर्व लगभग 20-22 वर्ष तक रेलवे के बाबू रहे। आपकी आरंभिक शिक्षा कुछ तो कुल परंपरा के अनुसार पुरानी परिपाटी से संस्कृत में हुई और कुछ रायबरेली, पुरवा और उन्नाव नगर के अँग्रेज़ी मदरसों में हुई। सबसे बड़ी शिक्षा तो वह थी--जो आपने बिना गुरु के अपने मनोयोग द्वारा प्राप्त की। बंबई, हरदा, खंडवा, हुशंगाबाद, इटारसी और झाँसी में तरुणाई के पच्चीस वर्ष रेलवे की बाबूगिरी में आपको बिताने पड़े, परंतु साहित्य सेवा की प्रेरणा आपको सदा विकल करती रही। रेलवे की नौकरी करते हुए भी आपने विद्याभ्यास ज़ारी रखा और आपकी प्रतिभा रचनात्मक रुप में विशेष कर कविता द्वारा प्रकट होने लगी थी। उनका प्रकाशन भी गौरव के साथ हुआ, और सौभाग्यवश यह प्रेरणा इतनी बढ़ी कि अंत में आपने रेलवे की नौकरी छोड़कर साहित्य सेवा में तन्मय होकर काम करने का निश्चय कर लिया। जैसा प्रकट है, यह निश्चय हमारे साहित्य के लिए एक युगांतर लाने वाली घटना थी।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए, कि द्विवेदी जी के जीवन का खासा अंश (नौकरी का) महाराष्ट्र के मित्रों के साथ बीता है। जिस भाँति हम निरालाजी के साहित्य में बँगला की छाप पाते हैं उसी भाँति द्विवेदी जी के लेखन में महाराष्ट्र का असर पाते हैं। दोनों जातियों के गुणधर्म और संस्कार हमारे सामने आते हैं, क्योंकि दोनों में काफ़ी विभिन्नताएँ हैं। द्विवेदी जी पर महाराष्ट्र की विविध हलचलों का हम असर भी पाते हैं। मिल, स्पेंसर और बेकन के अनुवाद, चिपलूनकर की साहित्य साधना, दामले का शास्त्रीय मराठी व्याकरण, बलवंतराव कमलाकर का नाट्य शास्त्र, आपटे के उपन्यास, दासबोध और ज्ञानेश्वरी का चिंतन भी हमें द्विवेदी जी में मिलता है। यह सब देश की परिस्थिति से संबंधित है और जो अपनी परिस्थिति से अकुलाकर ऊपर उठना चाहता था। देश को आदर्शवाद की आवश्यकता

थी और उसी के सहारे वह गुलामी से मुक्त होने का स्वप्न देख रहा था। इसी कारण सन् 1904 में नौकरी छोड़कर द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' की बाग़डोर संभाली। क्योंकि यह वह समय था :

अपनी जन्मभूमि भारत से नांहीं प्रेम बढ़ाया।
पराधीनता की बेड़ी से जकड़ गई है काया।
काला, कुली, गँवार आदि का पद पूरा है पाया।
अपनी ही खूँटी में हमको बंदर नाच नचाया ॥

हमारे आदर्शवाद का युग काशी-कांग्रेस से ही (सन् 1905 से) आरंभ होता है और उसमें द्विवेदी जी सम्मिलित हुए थे। द्विवेदी जी काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सदस्य थे और उसके अध्यक्ष पादरी ग्रीव्स ने कांग्रेस के प्रसंग पर साफ़ कह दिया था कि **'अँग्रेज़ी अक्षर ही हिंदुस्तान के, देश भर के सार्वजनिक राष्ट्रीय अक्षर होंगे।'** यह सुनते ही द्विवेदी जी तिलमिला उठे थे। इसी विषय को लेकर आक्सफोर्ड से (सन् 1908 में) डा० काशीप्रसाद जायसवाल* ने नागपुर के हिंदी केसरी-पत्र में विरोधात्मक लेख लिखा था। हिंदी साहित्य इस समय किस अवस्था में था, इसकी समीक्षा मैं करना नहीं चाहता। अपने साहित्य के जीवन के इस दीर्घकाल में नाना प्रकार के मतभेद और विरोधों का सामना करते रहने पर भी आचार्य ने स्वभाव में कटुता नहीं आने दी। अब वह समय आ गया कि सभी स्कूल के साहित्यिक एकमत से उनकी महत्ता स्वीकार कर रहे हैं।

अ० भा० साहित्य संमेलन, कानपुर अधिवेशन में द्विवेदी जी ने घोषित किया था "आँख उठाकर और देशों को देखो--आप देखोगे, कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे परिवर्तन कर डाले हैं? साहित्य ने वहाँ समाज की दशा कुछ की कुछ कर दी है। शासन प्रबंध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं। यहाँ तक कि अनुदार धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है, वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं है। यूरोप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उच्चाटन साहित्य ने किया है। जातीय स्वाधीनता के बीज़ उसने बोए हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बीज़ भी उसी ने बोए हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्र भावों को भी उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है। पतित देशों का उद्धार उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस का प्रजातंत्र किसने स्थापित किया है? साहित्य ने, साहित्य ने। जो साहित्य पतितों को उठाने वाला है, उसके उत्थान और संवर्धन की जो जाति चेष्टा नहीं करती, वह अज्ञानांधकार के गर्त में पड़ी रहती है। जो समर्थ होकर साहित्य सेवा नहीं करता, अनुराग नहीं रखता, वह समाज द्रोही है, जाति द्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही--आत्महंता भी है।"

भाषा के क्षेत्र में द्विवेदी जी क्रांतिकारी के रूप में आए। उन्हें ब्रजभाषा या अवधी से भी अनुराग था। फिर भी राष्ट्रीय एकता के लिए एक राष्ट्रभाषा का राष्ट्रीय कर्तव्य उनके सामने था। उन्होंने खड़ी बोली को संवारा और पुष्ट करने के लिए दूसरों से आग्रह किया। गद्य और काव्य में खड़ी बोली को चलाने का आग्रह किया। द्विवेदी जी स्वयं कवि थे तथा कविता प्रेमी थे। उनकी उसी समय यह निश्चित धारणा हो गई थी, कि न केवल कविता के विषय में वरन् उसकी भाषा में भी परिवर्तन की आवश्यकता है। इसी कारण आपने नवीन प्रकार की कविताओं की न केवल रचना की, वरन् अन्य कवियों को भी ऐसी रचनाओं के लिए प्रोत्साहन दिया। आपने भाषा के विषय में भी सदा बोल-चाल की भाषा, अर्थात् खड़ी बोली की ही हिमायत की। आपने आरंभ में ही यह जान लिया था, कि ब्रजभाषा कभी इस युग में कविता की भाषा नहीं हो सकती। उनके प्रयास का यह फल निकला कि उनके जीवन काल में ही खड़ी बोली के उत्तमोत्तम कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। हिंदी का काव्य क्षेत्र जो पुष्ट दिखाई दे रहा है उसका आदि श्रेय अवश्य ही हमारे पूज्य द्विवेदी जी को प्राप्त होना चाहिए। संपादन कार्य में व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथों का प्रणयन, संपादन, संग्रह तथा अनुवाद किया है। सबसे पूर्व तो समालोचना के लिए कालिदास तथा श्रीहर्ष

*हिंदी केसरी—नागपुर, मार्गशीर्ष कृष्ण 13 संवत् 1965।

आदि कुछ संस्कृत के कवियों को हिंदी संसार के सामने उपस्थित कर आपने कवि कृतियों की समीक्षा तथा समालोचना की अभिनव प्रणाली का सूत्रपात किया। संस्कृत के छंदों का भी हिंदी कविता में उपयोग करने की प्रथा चलाई। कुमार संभव आदि ग्रंथों के अनुवाद भी आपके अनुपम हुए। कविता कलाप, स्वाधीनता शिक्षा, संपत्तिशास्त्र, महाभारत, रघुवंश, बेकन विचार रत्नावली, चरित्रचित्रण आदि अच्छे ग्रंथ हमारे सामने हैं। आपके लेखों और कविताओं के संग्रह भी हमारे सामने हैं। मिल, स्पेंसर और बेकन आदि की रचनाओं का जैसा अनुवाद आपने किया है—उससे आपकी अँग्रेज़ी की अपूर्व मर्मज्ञता स्पष्ट है।

भाषा के संबंध में स्वयं द्विवेदी जी ने कहा है—'हिंदी एक जीवित भाषा है और उसकी ग्राहिका शक्ति भी व्यापक है। यह मानी हुई वात है, कि संसार में एक भी भाषा ऐसी नहीं है, जिस पर संपर्क के कारण अन्य भाषाओं का प्रभाव न पड़ा हो और अन्य भाषाओं के शब्द उसमें शामिल न हो गए हों। संपर्क के कारण ही हिंदी में अरबी, फ़ारसी और तुर्की शब्द आ गए हैं। अँग्रेज़ों के संपर्क से उसने अँग्रेज़ी शब्द ग्रहण किए हैं। ज्यों-ज्यों हिंदी का प्रसार होगा, त्यों-त्यों नवीन शब्द आते रहेंगे। जातियों के पारस्परिक संबंध को कोई तोड़ नहीं सकता और न भाषाओं के संमिक्षण क्रिया में कोई रुकावट पैदा कर सकता है। हमें तो बस यही देखना है कि दूसरों के शब्द, भाव, मुहावरे ग्रहण करने पर भी हिंदी, हिंदी ही बनी है या नहीं ? विगड़ कर कहीं वह और तो कुछ नहीं हो जाती। हिंदी में भाव, शब्द, मुहावरे, ग्रहण करने में केवल यह देखना है कि हिंदी उन्हें हज़म कर सकती है या नहीं। उनका प्रयोग तो नहीं खटकता। वे उसकी प्रकृति के प्रतिकूल तो नहीं हैं। जैसे मकान, मिज़ाज, मालिक आदि के समान अनेकों शब्द हिंदी ने आत्मसात् कर लिए हैं। इसी भाँति नोट, नंवर, बोतल, रेल शब्द भी हिंदी बन गए हैं। इसलिए जो शब्द हिंदी में खप गए हैं, और भविष्य में जो खपते जाएँगे,—वे हिंदी मिलकियत के होंगे। हिंदी तो जीती जागती भाषा है और दूसरों के द्वारा दी हुई वस्तु को लेने का हक उसे प्रकृति ने दे रखा है।'

'सरस्वती' के संपादन काल में द्विवेदी जी ने हमारे साहित्य की बहुमुखी सेवाएँ की हैं। इनमें दो सेवाएँ महत्व की हैं। एक तो साहित्यिक भाषा का परिमार्जन और उसे साधारण बोलचाल की भाषा के निकट लाने का भगीरथ और निरंतर प्रयत्न और दूसरे समालोचना साहित्य का एक प्रकार से मार्ग दर्शन। द्विवेदी जी ने अनेकों लेख जिनमें से बहुत से अब प्राप्त हो सकते हैं—उनके इन दिशाओं में अध्यवसाय के साक्षी है। इन दोनों सेवाओं में रत होते हुए प्रत्येक सुधारक की भाँति आपको कठिनाइयों तथा बाधाओं का सामना करना पड़ा। आपको कटूक्तियाँ सहन करनी पड़ी हैं। बहुधा स्वयं तीव्र प्रहार करने पड़े, परंतु इन सभी अवसरों पर आप सदा शुद्ध बुद्धि से प्रेरित हुए हैं और जैसा कि आपकी कोटि के समालोचक के लिए उचित ही था।

हिंदी कविता को भाषा तथा भाव दोनों ही की दृष्टि से नई प्रवृत्ति देने में, हिंदी गद्य शैली तथा भाषा को उसका बहुत कुछ आधुनिक रूप प्रदान करने में, हमारे आलोचना साहित्य की उन्नति तथा उसे एक नवीन और सुंदर आदर्श पथ पर ले जाने में एवं गद्य तथा पद्य के अनेक मौलिक तथा अनुवादित ग्रंथों की रचना कर हिंदी साहित्य के विकास में तो हम द्विवेदी जी की साहित्य साधना का स्वरूप देख पाते हैं। द्विवेदी जी कवि थे अवश्य—पर उनमें रवि बाबू की भावना की तन्मयता नहीं है जो कवियों के निगूढ़ रहस्यमय अंतरपट का दर्शन कराती है। द्विवेदी जी की कविता में कर्मठ ब्राह्मण की भाँति शुष्क, सात्विक आचार का साहित्य भासित होता है। उसमें न कल्पना की उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि, केवल शुद्ध प्रेरणा है। जो भाषा का मार्जन करती है और साथ ही उदार भावों का सत्कार। यही द्विवेदी जी की देन है। उनकी शुष्कता में व्यंग है और सात्विक विनोद है, उनकी रचनाओं में उनके स्वभाव के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए **नाट्यशास्त्र** की भूमिका में (सन् 1910) आपने लिखा है,—'मराठी में कई एक अच्छी पुस्तकों के लेखक पंडित बलवंत कमलाकर ने नाट्यशास्त्र पर जो प्रबंध लिखा है,—उसका भी हिंदी अनुवाद एक महाशय ने कर डाला है। उसे भी हिंदी साहित्य में संमिलित हुए कई वर्ष हुए। इन महाशय **ने इस मराठी पुस्तक का अथ से इति पर्यंत अनुवाद किया है, तथापि मूल पुस्तक के कर्ता का नाम देना आप भूल गए** हैं। अतएव, हम भी आपका, आपकी पुस्तक का और आपकी पुस्तक के प्रकाशक का नाम देना भूल जाना ही उचित समझते हैं।

द्विवेदी जी की कविताएँ कविता नहीं हैं––वे तो उपदेशामृत हैं। हिंदी भाषा की उत्पत्ति, कालिदास की निरंकुशता, मिश्रबंधु का हिंदी नवरत्न, लोकमान्य तिलक का कर्मयोग शास्त्र––आदि कुछ आलोचनात्मक लेख द्विवेदी जी की जागृत प्रतिभा का परिचय देते हैं। आपके दार्शनिक और आध्यात्मिक लेखों पर उनके कर्मठ जीवन और अंतर की अनुभूति की छाप लगी है। उनकी प्रतिभा ने हिंदी के विद्वानों को उनका लोहा मानने को बाध्य किया और उस व्यक्ति ने लगातार 20 वर्ष तक 14 करोड़ हिंदी भाषी जनता को साहित्यिक अनुशासन में रखा––यह तो विरलों के भाग्य में अंकित है। हिंदी के इतिहासकार कहते हैं––**"द्विवेदीजी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक हैं––जो समय पाकर स्व० प्रेमचंद्र जी आदि के उपन्यास-साहित्य में फूला और फला।"** कवियों और लेखकों में बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० कामता प्रसाद गुरु, पं० लोचनप्रसाद पांडेय, पं० रामचरित उपाध्याय, पं० रूपनारायण पांडे, पं० गयाप्रसाद सनेही, पं० लक्ष्मीधर बाजपेयी, ठाकुर गोपालशरण सिंह, श्री रामचंद्र शुक्ल, पं० माधवराव सप्रे, श्री सियारामशरण गुप्त आदि पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव दिन पर दिन विकसित हुआ और हो रहा है। इसी बीज़ के प्रभाव से कवि जयशंकर प्रसाद, श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री निराला और श्री सुमित्रानंदन की प्रतिभाएँ फली फूलीं।

द्विवेदी जी ने 18 वर्षों तक 'सरस्वती' का संपादन किया और बाद में वानप्रस्थी जीवन बिताना आरंभ किया। इस अवधि में अनेकों बार दर्शन का अवसर आया और प्रत्येक दर्शन में मैंने कुछ सीखा अवश्य। अंतिम बार उनकी भेंट दौलतपुर में अप्रैल सन् 1938 में हुई। वह प्रसंग कुछ दिलचस्प अवश्य है। नागपुर में हम लोग अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन का 25वाँ अधिवेशन करने जा रहे थे। अध्यक्ष पद के लिए महामना मालवीय, मदनमोहन जी, आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, स्व० पं० रामचंद्र शुक्ल, देशरत्न बाबू राजेंद्र प्रसाद के नाम स्थायी समिति ने प्रस्तावित किए थे। इसी प्रसंग में मैं प्रयाग से आयुर्वेद पंचानन पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल की सलाह से स्व० लक्ष्मीधर जी वाजपेयी के साथ द्विवेदी जी से मिलने गया था। विदंकीरोड स्टेशन उतरकर छह मील का रास्ता तय किया और गंगा पार कर लगभग चार बजे दौलतपुर पहुँच गए। इस समय वे चारपाई पर आराम कर रहे थे। उन्होंने ज्योंही सुना कि दो सज्जन मिलने आए हैं––चौपाल से बाहर आ गए। उनका उन्नत ललाट, गौर वर्ण, उनकी सिंह के समान बड़ी-बड़ी मूँछें, बैसवाड़ी मुख और नाक तथा असाधारण बड़ी-बड़ी भौहें देखने से चित में एक असाधारण महापुरुष व तत्वेत्ता के साक्षात्कार का अनुभव होता है। वे बातचीत में, बीच-बीच में प्रायः संस्कृत के श्लोक भी कहते थे। हमारी प्रार्थना को अस्वीकर करते हुए उन्होंने यह श्लोक कहा था।

> अनेकाधिव्याधि व्यथित हृदयं क्षीणविभवं
> विहीन पुत्रादिस्वजन समुदायेन जगति।
> अति त्रस्तं ग्रस्तं हृतविधिविलासैः सपदि मां,
> शरण श्रीराम त्रिभुवनपते पाहि दयया॥*

हमारा कार्य न सधा और अंत में बाबू पुरुषोत्तमदास जी टंडन की सलाह से बाबू राजेंद्र प्रसाद जी संमेलन के अध्यक्ष मनोनीत किए गए।

उनके मरने के बाद भी मैं दौलतपुर दो बार हो आया––उस समय मन में जो विचार आते-जाते थे, मैं उनको तो अब भूल गया––पर एक बात मेरे हाथ में है और आज भी वही करना चाहता हूँ––मनसा से आवाहन और श्रद्धा से प्रणाम। ●

---

*मैं यह भी जानता हूँ कि जबसे द्विवेदी जी ने संपादकीय कार्य से अवकाश लिया, तब से उनका उग्र स्वभाव नम्रता की ओर ढल गया। अंत में वे नम्र और सहनशील हो गए। द्विवेदी जी जलोदर-रोग से पीड़ित हुए और इसी से 21 दिसंबर, सन् 1938 को 74 वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हो गया।

कर्तव्य-निष्ठ द्विवेदी जी

जहूरबख्श

हमें माता-पिता से जो हिंदी-प्रेम विरासत में मिला था, वह नार्मल स्कूल में पंडित मधुमंगल जी मिश्र और पंडित कामताप्रसाद जी गुरु जैसे दिव्य गुरुजनों के वात्सल्य भाव से लालित-पालित हुआ था। मुस्लिम बंधुओं के तानों-तिश्नों से दिनोंदिन परवान चढ़ता जाता था और अब हमें कुछ न कुछ लिखने के लिए बराबर उकसाता रहता था। आख़िर हमने सिर्फ़ पंद्रह-सोलह वर्ष की उम्र होते-होते, सन् 1914 ई० में एक दिन, जो अंधेरे में ज़ोरों से तीर फटकारा, तो संस्मरण के ढंग पर 'यश-प्राप्ति' शीर्षक से एक छोटा-सा लेख लिख मारा और चटपट लपेट-लपाटकर लेटर-बॉक्स में डाल दिया––आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी जी के पते पर, 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ। परंतु वह हफ्ते-भर के भीतर ही लौट आया; अपने साथ एक पोस्ट-कार्ड भी लाया, जिसमें द्विवेदी जी ने लिखा था––

"निवेदन,

क्षमा कीजिए, लेख 'सरस्वती' में न छपेगा। लौटा रहा हूँ।

म० प्र० द्विवेदी"

हमारा तन-मन धधक उठा। इतना अभिमान! इतना अच्छा लेख भी नहीं छापा!! वाह रे द्विवेदी जी!!! हमने क्रोधावेश में दूसरे दिन पत्र में पं० कामताप्रसाद जी गुरु को यह तमाम किस्सा लिख भेजा। उन्होंने उत्तर में हमें समझाया––"यह व्यर्थ क्रोध––यह निरर्थक आक्रोश क्यों? यदि तुम परिश्रम करते–लेख छपने योग्य लिखते, तो द्विवेदी जी उसे अवश्य छापते। शायद तुम्हें हमारे ढंग का हमारे कथन का स्मरण नहीं रहा। इसीलिए तुम्हारे सामने असफलता का यह अवसर आया। फिर लेख भेजने से पहले तुम्हें 'सरस्वती' के स्तर का भी तो कुछ विचार करना चाहिए था।"

इस प्रकार गुरुजी ने हमारी आँखें खोल दीं। हमने कई दिन तक लेख बार-बार पढ़ा। बार-बार काँटा-छाँटा और बार-बार नए सिरे से लिखा। जब 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' की स्थिति पर पहुँचा, तो पंडित रघुवरप्रसाद द्विवेदी के पास भेज दिया––'हितकारिणी' में प्रकाशनार्थ। परंतु वह दस-बारह दिन बाद उनके पास से भी लौट आया––सूचना किसी भी प्रकार की साथ नहीं लाया। हमने समझ लिया कि लेख अभी प्रकाशित होने लायक नहीं बना। तभी तो वह सरस्वती से भिन्न स्तर रखनेवाली 'हितकारिणी' में भी प्रकाशित नहीं हुआ। अब?

हमने निराश होने के बदले धीरज से, साहस से काम लिया। गुरुजी के तौर-तरीके का स्मरण किया और लेख एक तरफ डाल दिया। कुछ दिन तक उस पर सोच-विचार ज़ारी रखा। फिर एक दिन उसे उठाकर ध्यानपूर्वक पढ़ा। इस बार उसमें पुनः स्थल-स्थल पर बहुत-कुछ अभाव नज़र आया। बस, हमने खूब जम-जम कर उस पर लेखनी का संचालन किया और उसे बिल्कुल नया रूप-रँग दे दिया। अब तो वह पहले से कहीं बहुत अच्छा जान पड़ा। जब हमने उसे संतोषदायक समझ लिया, तो पंडित सुदर्शन चार्य जी के पास भेज दिया––'गृहलक्ष्मी' में प्रकाशनार्थ।

इस द्रविड़ी प्राणायाम का नतीज़ा क्या निकला ? यही कि एक ओर तो हमारे लेख का स्तर ऊपर उठता रहा और दूसरी ओर, वह जिन पत्रिकाओं में प्रकाशनार्थ भेजा गया, उनका स्तर बदलता चला । इसका यह मतलब नहीं, कि 'हितकारिणी' और 'गृहलक्ष्मी' का स्तर निम्न श्रेणी का था, नहीं, अपने-अपने क्षेत्र के अनकूल हिंदी-संसार में उनका पर्याप्त महत्त्व था । यदि 'हितकारिणी' ने स्कूलों में अपना प्रभाव जमाया था, तो 'गृहलक्ष्मी' ने घरों में अपना अड्डा बनाया था । हमारा लेख महिलाओं, बालिकाओं और बालकों के लिए विशेष उपयोगी हो सकता था, इसी ख्याल से हमने उसे पंडित सुदर्शनाचार्य जी के पास भेजा था––इस विश्वास के साथ कि संभवतः वह 'गृहलक्ष्मी' में स्थान पा जाएगा । परंतु आचार्य जी की ओर से हमें कोई उत्तर नहीं मिला । उत्तर के लिए हमने उनके पास कई-कई बार टिकट भेजे, कार्ड भेजे, लिफ़ाफ़े भेजे, फिर भी उनसे उत्तर न पा सके और आखिर निराश होकर बैठ रहे ।

आचार्य जी के इस व्यवहार से हमारे मन पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा । वह बहुत दिन तक बेचैन रहा––किसी तरह पढ़ने-लिखने पर न जम सका । हमें उठते-बैठते एक ही ख्याल पीड़ित करता रहता––हमने ऐसा कौन-सा अपराध किया, जो आचार्य जी ने हमें यह कठोर दण्ड दिया––न लेख लौटाया, न उत्तर देने का ही कष्ट उठाया । इस तरह दिन-पर-दिन, सप्ताह-पर-सप्ताह बीत गए और हम इस दुस्सह पीड़ा से छुटकारा पाने लगे । अचानक हमारे पास एक दिन नवंबर, सन् 1914 ईस्वी की 'गृहलक्ष्मी' के एक छोड़ दो-दो- अंक आ पहुँचे । हम उत्सुकता के आवेग में जो उनके पन्ने उलटने लगे, तो देखते क्या हैं कि 'यश-प्राप्ति के साथ हमारे नाम के अक्षर जगमगा रहे हैं'। बस, हम मारे खुशी के उछल पड़े, जैसे सचमुच यश प्राप्त कर उन्नति के शिखर पर जा चढ़े और आप-ही-आप कह उठे ––"भारत में न 'गृहलक्ष्मी' से बढ़ कर कोई पत्रिका है, न आचार्य जी से बढ़कर कोई संपादक है, और न हमसे बढ़कर कोई लेखक है ।"

यह ऐसी सफलता थी, जिसका नशा महीनों हमारे मन-प्राण पर छाया रहा । आखिर प्रकृति ने अपना काम किया । धीरें-धीरे यह लेख विस्मृति के गहरे पर्तों में जा दबा और हमारे ध्यान से बिल्कुल उतर गया । अचानक लगभग चालीस वर्ष बाद श्री अमृतलाल अकिंचन ने हम से प्रश्न किया ––"आपने पहला लेख कब लिखा था और वह कहाँ प्रकाशित हुआ था ?"

बस, इस लेख से संबंधित वह चालीस वर्ष पुराना सारा वातावरण हमारी आँखों में चक्कर काटने लगा । हमने मासिक पत्रिकाओं के भँडार से 'गृहलक्ष्मी' का वह अंक ढूँढ़-ढाँड़ कर बाहर निकाला और इस लेख का एक-एक शब्द ध्यानपूर्वक पढ़ डाला । और हमारा मन ग्लानि से भर उठा––छिः! छिः! यह हमने लेख लिखा था या अपने हाथों अपना मखौल उड़ाया था ? सचमुच आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने हमारे साथ एहसान किया था, जो यह लेख 'सरस्वती' में छापने से इंकार कर दिया था । सचमुच पंडित रघुवरप्रसाद जी द्विवेदी ने हमारे साथ उपकार किया था, जो यह लेख 'हितकारिणी' में प्रकाशित करने से रोक दिया था । सचमुच पंडित सुदर्शन जी ने हमारे साथ अपकार––बहुत-अपकार किया था, जो इस लेख को 'गृहलक्ष्मी' में स्थान दे दिया था । इस कृपा-भाव का कोई मतलब नहीं था कि उन्होंने ऐसा सिर्फ़ हमें उत्साह प्रदान करने के लिए किया था, जैसा कि उन्होंने स्वयं ग्यारह वर्ष बाद 26 दिसंबर, 1925 ईस्वी के दिन हमसे प्रयाग में कहा था ।

× × ×

'यश-प्राप्ति' का प्रकाशन होने के बाद तो हमारे मन में उत्साह की तरंगें उठने लगीं और हम कुछ-न-कुछ लिखने के लिए दिन-रात दीवाने से रहने लगे । परंतु लिखते क्या, कुछ सोच पाते, तब तो । आखिर एक दिन, दिसंबर, सन् 1914 ईस्वी की 'सरस्वती' का अंक हाथ में आया । उसमें पंडित हीरावल्लभ जोशी द्वारा लिखित 'दो ठग मित्र' शीर्षक लोक-कथा का प्रकाशन हुआ था । बस, हमें आगे बढ़ने के लिए एक अच्छा साधन मिल गया । हमारे पास माँ की लिखवाई हुई लोक-कथाओं का बड़ा-सा भँडार था । हम उसमें से दो लोक-कथाएँ उठाते-उठाते बोले–– "लाओ, इन्हीं को फिर से लिखो और प्रकाशित करवाओ ।"

जब दोनों लोक-कथाएँ लिख चुके, तो तड़ाक-फड़ाक आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के पास भेज बैठे—'सरस्वती' और लोक कथाओं के स्तर का सामंजस्य बगैर ख्याल किए। सप्ताह बीतते-न-बीतते दोनों कहानियाँ वापिस आ गईं, द्विवेदी जी के उसी नपे तुले उत्तर के साथ—"क्षमा कीजिए, कहानियाँ 'सरस्वती' में स्थान न पा सकेंगी। अलग पैकेट में लौटा रहा हूँ।"

द्विवेदी जी के इस उत्तर पर पहले तो हमें बड़ा रोष आया, फिर हमने 'सरस्वती' के पन्ने उलटते-पुलटते जो कहानियों के स्तर पर विचार किया, तो द्विवेदी जी के कथन में औचित्य-सा पाया और अपनी हीनता पर कुछ क्रोध—कुछ तरस आया। इसी हालत में हमने दोनों कहानियों का पैकेट बनाया और 'हितकारिणी' के संपादक पंडित रघुवर प्रसाद जी द्विवेदी के पास भेज दिया। इसका एक बहुत बड़ा कारण था।

जो कार्य संयुक्त प्रदेश के लिए पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने कर दिखाया, वही कार्य मध्यप्रदेश के लिए पंडित रघुवरप्रसाद जी द्विवेदी ने अपनाया था। उन्होंने पाठकों में हिंदी के प्रति गंभीर प्रेम उत्पन्न करने के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया था और इसीलिए 'हितकारिणी' का संपादन-भार स्वीकृत किया था। इस अभिप्राय की सिद्धि के लिए वे घोर परिश्रम करते थे और कभी-कभी तो विविध विषय विभूषित 'हितकारिणी, का प्रायः पूरा अंक स्वयं लिख डालते थे। नए-नए लेखकों-कवियों को प्रकाश में लाने के लिए सदा तैयार रहते थे और अपनी सशक्त लेखनी की करामात से उनकी रचनाओं में जीवन फूँक देते थे। यही कारण था, जो उन दिनों मध्यप्रदेश के शिक्षा-विभाग में 'हितकारिणी' का बोल-बाला था और नया लेखक या कवि इधर-उधर भटकने के बाद उसका मुँह ताकता था। हमने भी यही किया था। कहानियाँ पहुँचने के आठ-दस दिन बाद ही उसके संपादकीय विभाग ने हमें सूचित किया —"आपकी कहानियाँ पसंद आईं। यथा-संभव शीघ्र ही 'हितकारिणी' में प्रकाशित हो जाएँगी।"

यह पत्र पढ़ते ही हमने सिर उठाया, अपनी उभरती हुई रेखों पर व्यर्थ ताव दिया और कहा—"वाह, मार लिया है पड़ाव"।

सन् 1915 ईस्वी को 'हितकारिणी' के अंकों में ये कहानियाँ प्रकाशित हो गईं। जब हमने अपनी पांडुलिपियों से इनका मिलान किया, तो इनमें जगह-जगह बहुत कुछ परिवर्तन पाया। इस परिवर्तन का कारण और औचित्य समझने के लिए भली-भाँति दिमाग लड़ाया और फिर फैसला किया—"बहुत खूब! आइंदा इन परिवर्तनों के कारण ध्यान में रखेंगे और इससे भी बढ़िया लिखने की कोशिश करेंगे।"

इन्हीं दिनों 'गृहलक्ष्मी' में भी हमारी कई छोटी-छोटी रचनाएँ प्रकाशित हुईं—परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप में सही। इस तरह प्रगति का पथ खुल जाने से हमारे रोम-रोम में उत्साह की उमंगें हिलोरें मारने लगीं। अब तो हमारी कल्पना दरिद्र के मनोरथ के सामान घड़ी-घड़ी पर उभरती—यह लिख डाल, वह लिख डाल, कुछ 'हितकारिणी' में भेज दे, कुछ 'गृहलक्ष्मी' में भेज दे और दोनों हाथों यश की राशि लूट ले।

यह ठीक है कि हमें 'हितकारिणी' और 'गृहलक्ष्मी' ने आश्रय दिया था, उत्साहित किया था, फिर भी आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की ओर से हृदय में जो काँटा गड़ गया था, वह बराबर कसकता रहता था। उस समय हमारा ही नहीं, हिंदी-संसार के अधिकांश उठते-उभरते हुए लेखकों-कवियों का यही हाल था। सैद्धांतिक मत-भेद होने से बाबू बालमुकंद गुप्त, बाबू श्यामसुंदर दास बी० ए०, पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी और लाला भगवानदीन 'दीन' जैसे धुरंधर महारथी एक ज़माने से द्विवेदी जी का मखौल उड़ाते और उनके खिलाफ़ कुछ-न-कुछ लिखते जाते थे। परंतु द्विवेदी जी थे कि अपने पथ पर निर्द्वंद्व बढ़ते जाते थे और 'सरस्वती' में निर्भीक भाव से जिन लोगों की कृतियाँ पुस्तक-परीक्षा की कसौटी पर ज़ोर से रगड़ देते थे, उनको मानो अपना विरोध करने के लिए निमंत्रण दे डालते थे। इस प्रकार के सभी व्यक्तियों की बदौलत वे रंगरूट सहज ही बढ़ावा पाते थे, जो संख्या में बरसाती मेंढकों की फौज का मुकाबिला करते थे, कवि या लेखक बनने के बड़े-बड़े हौसिले रखते थे और द्विवेदी जी की ओर छलाँगें भरते थे, परंतु उनसे उत्साह न मिलने पर जल-भुन जाते थे। फिर तो ये रुष्ट रँगरूट इस तरह सिर उठाते थे कि दबाए न दबते थे। अपने जी के फ़फ़ोले फोड़ने के लिए द्विवेदी जी को पानी-पी-पीकर कोसते थे—कभी ज़बान के ज़रिए और कभी कलम के ज़रिए।

आखिर द्विवेदी जी मनुष्य थे; जब इन रुष्ट रंगरूटों की उच्छृंखलता से ऊब उठे, तो उन्होंने मार्च, सन् 1915 ईस्वी की 'सरस्वती' में 'अनुचित उपालंभ' शीर्षक से एक लेख लिखा। इस लेख में उन्होंने वह पद्यपूर्ण पत्र अविकल रूप से उद्धृत किया, जो उन्हें एक तरुण कवि की ओर से मिला था। इस पत्र में उस तरुण कवि ने बड़े आक्रोश के साथ, बड़े अशिष्ट शब्दों में द्विवेदी जी को अविवेकी और 'सरस्वती' को रद्दी की पिटारी सिद्ध करने का प्रयास किया। परंतु द्विवेदी जी ने बुरा मानने, या क्रुद्ध होने के बदले उसे शालीनता से समझाया था––"लीजिए, हमने आप का पत्र ज्यों-का-त्यों प्रकाशित कर दिया। अब तो आपको परितोष हो गया न ? हम आप के सुंदर-सुंदर लेख या काव्य सरस्वती में क्यों प्रकाशित नहीं कर पाते इस प्रश्न का उत्तर यदि आप स्वयं ढूंढ़ निकालते, तो शायद अधिक लाभ में रहते। हम तो जिस रचना में कुछ भी उद्देश्य––कुछ भी संदेश देखते हैं, उसे बिना किसी भेद-भाव के 'सरस्वती' के चरणों पर चढ़ा देते हैं। यह नहीं देखते कि उसका रचयिता अबुद्ध है या प्रबुद्ध"

द्विवेदी जी ने अपने इस लेख में यह भी कहा था––"हमारे पास इतने लेख आते हैं कि हम उनको पढ़ते-पढ़ते ऊब जाते हैं। उनमें उपयोगी कम तो क्या, बहुत कम निकलते हैं, हाँ, निरुपयोगी अच्छी-बड़ी संख्या में रहते हैं। जो उपयोगी जान पड़ते हैं वे छाँट-छाँट कर अलग रख लेते हैं। फिर उनके साथ दिन-दिन भर, रात-रात भर अपनी जान लड़ाते हैं, तब कहीं जाकर उनको 'सरस्वती' में स्थान देने योग्य बना पाते हैं। यदि हम अपने पास आने वाली सभी रचनाएँ प्रकाशित करने के लिए तैयार हो जाएँ, तो सरस्वती के पृष्ठ बढ़ाने के लिए साधन कहाँ से जुटाएँ ? रचनाएँ भेजनेवाले सज्जन पहले हमारी मजबूरियों का कुछ अंदाज़ लगाएँ, फिर हम पर यह रोष––यह आक्रोश दिखाएँ।"

ऊसर बरसै तृणनहिं जामा––यही हाल द्विवेदी जी के इस वक्तव्य का हुआ। हिंदी-संसार पर इसका रत्ती-भर भी असर नहीं पड़ा, बल्कि इस की प्रतिक्रिया में रुष्ट रंगरूटों का जोश-ख़रोश और भी भड़क उठा और उन्होंने द्विवेदी जी के विरोध में अपना विरोध और भी बुलंद कर दिया। हम जैसे अपरिपक्व बुद्धि के नौज़वान इस हालत पर बहुत खुश होते थे और द्विवेदी जी के विरोध में निकलते वक्तव्य, लेख आदि मज़े ले-लेकर पढ़ते थे और लिखने वाले की विद्वत्ता-बुद्धिमत्ता के गीत गाते-गाते नहीं अघाते थे।

इस ऊहा-पोह के बाद भी साहित्य-प्रेम का दम भरने वाले ये रुष्ट रंगरूट शांत नहीं हो रहे थे, कुछ और भी करना चाहते थे। आखिर काशी के कुछ साधन-संपन्न रुष्ट रंगरूटों ने, सन् 1916 ईस्वी में 'तरंगिणी' नामक एक मासिक पत्रिका को जन्म दिया और उसके द्वारा अपने दिल का बुखार उतारना शुरू किया। यद्यपि तरंगिणी का गेट-अप 'सरस्वती' के समान तो नहीं था, तथापि चमक-दमक के लिहाज़ से बहुत आकर्षक जान पड़ता था। इसलिए हिंदी संसार में उनके प्रति रुझान होना स्वाभाविक ही था।

'तरंगिणी' के संपादक पण्डित वसंतराम जी व्यास विद्वान और सुलेखक थे। वे अपनी ज़िम्मेदारी भली-भाँति समझते और 'तरंगिणी' को इस अखाड़े-बाज़ी से बचाना चाहते थे। परंतु अपने प्रयत्न में असफल रहे और कुछ ही समय में 'तरंगिणी' से अलग हो गए। बस, जले-भुने हुए रंगरूट दिल खोल-खोल कर 'तरंगिणी' के पृष्ठ रँगने लगे। इनमें पण्डित ज्वालाराम नागर 'विलक्षण' सचमुच बड़े विलक्षण जीव थे। वे 'तरंगिणी' में 'लक्ष्मी-सरस्वती-संवाद' जैसी कविताएँ लिखते और उनमें सारी शालीनता ताक पर रखकर द्विवेदी जी को लाला जी के द्वार का भिक्षुक तथा 'सरस्वती' को लक्ष्मी की चेरी बताते थे। परंतु 'तरंगिणी' की यह चमक-दमक बहुत दिन तक न ठहर सकी, धीरे-धीरे फ़ीकी पड़ चली और एक वर्ष पूरा होते-होते हमेशा-हमेशा के लिए अतीत की शुष्क मरुभूमि में समा गई। इसके साथ ही उन रुष्ट रंगरूटों की बटालियन भी गायब हो गई।

इस घटना के लगभग चालीस वर्ष बाद हम अनायास एक दिन सन् 1957 ईस्वी में जो 'तरंगिणी' की फाइल लेकर बैठे, तो उन रुष्ट रंगरूटों के गहरे अज्ञान पर, खोखले साहस पर अश-अश कर उठे। इसके साथ ही जो हमने 'हितकारिणी' और 'गृहलक्ष्मी' में प्रकाशित उन रचनाओं की ओर सिर घुमाया, तो उनमें अपना बौनापन प्रत्यक्ष नज़र आया। वह हँस-हँस कर हमें ताने-से दे रहा था––बेवकूफ़ कहीं का। अरे, कहाँ तू और कहाँ द्विवेदी जी। कहाँ तेरी लघुता और कहाँ द्विवेदी जी की गुरुता। भला तुझ में था इतना सामर्थ्य, जो तू उनका स्पर्श भी कर सकता ?

बस इतना ही सोचकर संतोष हो गया था कि हमने अन्य रुष्ट रंगरूटों के स
कभी न बुरा कहा था, न बुरा लिखा था।

× × ×

हमारा भाग्य प्रबल था और वह हमें निर्बाध गति से आगे धकेलता जाता था। हमारी लेखनी उधर 'गृहलक्ष्मी' और 'हितकारिणी' से आगे बढ़कर 'शिशु: बाल-सखा' और 'श्रीकमला' के पृष्ठों पर तो चलने ही लगी थी, इधर अचानक द्विवेदी जी की अप्रत्यक्ष अनुकंपा से वह जैसे चौकड़ियाँ भरने लगी। बात यह हुई कि जुलाई, सन् 1917 ईस्वी की 'सरस्वती' में प्रोफ़ेसर श्री तेजशंकर कोचक, एम० ए० द्वारा लिखित 'केंचुए की राम-कहानी' निकली। उसे देखते ही हमारे उत्साह में मानों बिजली कौंध उठी। हमने तमिल स्कूल में पण्डित भास्कर वीरेश्वर जोशी की सहायता से जो 'नेचर-स्टडी' की थी, वह हमें ऐसी वस्तुएँ लिखने के लिए बहुत-कुछ सामग्री दे चुकी थी। बस, हमने तड़ाक-फड़ाक 'मेंढ़क की आत्म-कहानी' लिख डाली और 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आचार्य द्विवेदी जी की सेवा में भेजी। उन्होंने शायद हमारी यह रचना पढ़ी भी नहीं और लगे हाथ लौटाने की दया की, अपने उसी नपे-तुले पुराने उत्तर के साथ––"क्षमा कीजिए, यह रचना 'सरस्वती' में प्रकाशित न हो सकेगी। अलग से पैकेट द्वारा वापिस करता हूँ।"

द्विवेदी जी की यह अस्वीकृति एक ऐसी कड़ी फटकार थी, जिससे हमारी तबीयत तिलमिला उठी। हमने बार-बार 'मेंढ़क की आत्म-कहानी' पढ़ी और वह हर बार हमें 'केंचुए की राम-कहानी' से उन्नीस नहीं इक्कीस ही जान पड़ी। इस तरह बहुत मग़ज-पच्ची करने पर भी हमारी समझ में यह बात न आई कि द्विवेदी जी ने 'मेंढक की आत्म-कहानी' वापिस की, तो क्यों की? आख़िर हमने अपनी खीझ मिटाने के लिए 'मेंढक की आत्म-कहानी' गोरखपुर से निकलने वाली मासिक पत्रिका 'ज्ञान-शक्ति' की ओर बढ़ा दी। यह मासिक पत्रिका जैसी साहित्यिक थी, वैसी ही आध्यात्मिक थी और पंडित शिवकुमार जी शास्त्री के कुशल करों द्वारा बड़ी योग्यता से संपादित होती थी। हमारी यह रचना पाते ही शास्त्री जी ने हमें उत्तर दिया––"बड़ी कृपा की। मेंढक की आत्म-कहानी हमें बहुत पसंद आई और वह हमने तत्काल प्रकाशनार्थ दे दी। इसी प्रकार अपनी रचनाएँ भेजते रहिए। हम बड़ी प्रसन्नता से उन्हें 'ज्ञान-शक्ति' में प्रकाशित करेंगे।"

इसके बाद मच्छर, मक्खी और तितली से संबद्ध आत्म-कहानियाँ लिखी गईं। वे क्रमश: द्विवेदी जी की ओर बढ़ीं, उनके पास से अस्वीकृति का प्रसाद लेकर लौटीं तो शास्त्री जी की सेवा में पहुँचीं और 'ज्ञान-शक्ति' के पृष्ठों पर चमक उठीं। इसी अवसर पर हमें उस युग के उठते-उभरते कवि पण्डित मुकुटधर पाण्डेय ने लिखा––"आप अपने लेख 'सरस्वती' में क्यों नहीं देते? जो लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित होते हैं, वे अनायास ही हिंदी संसार की आँखों पर चढ़ जाते हैं।"

किस्स-कोताह, यदि हमारे पक्ष में सर्वश्री बदरीनाथ जी भट्ट, शिवकुमार जी शास्त्री, लाला भगवानदीनजी, मुकुटधर जी पाण्डेय आदि सज्जनों के मत तीन का महत्त्व रखते थे, तो आचार्य द्विवेदी जी के मत छह का काम करते थे। वे 'सरस्वती' में हमारी लिखी मेंढ़क, मच्छर, मक्खी, तितली आदि की आत्म-कथाएँ प्रकाशित करने के लिए क्यों उद्यत नहीं हुए थे––यह हम आज तक बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं समझ पाए। यदि वे उक्त रचनाओं के संबंध में अपनी 'नहीं' का कुछ कारण बताते तो हम उससे थोड़ा-बहुत लाभ अवश्य उठा सकते। परंतु उनकी बार-बार की गोल-मोल 'नहीं' से निपट अँधेरे में ही रहे और शायद प्रगति में भी पीछे पड़ गए।

उस ज़माने में बहुत पढ़े-लिखे––विशेषकर अँग्रेज़ी-दाँ लोग बड़ी अनोखी मनोवृत्ति रखते थे। वे घरेलू काम-काज़ चलाने के लिए भी हिंदी में बोलना-बताना या पुत्र-कलत्र तक को पत्र लिखना अपनी शान के खिलाफ़ समझते थे और आमतौर पर हिंदी-प्रेमी जनों से बड़ी नफ़रत करते थे। परंतु आचार्य द्विवेदी जी हिंदी के राष्ट्रीय महत्त्व से भली-भाँति परिचित थे। इसीलिए वे हिंदी के क़ट्टर हिमायती थे और तत्संबंधी आंदोलन चलाने के लिए उन्होंने 'सरस्वती' के पृष्ठ खोल रखे थे। वे स्वयं ऐसे हिंदी-विरोधी मेकाले-पुत्रों को बुरी तरह लताड़ते थे और हिंदी की गरिमा सिद्ध करने के लिए ज़ोर-दार लेख तथा टिप्पणियाँ लिखते रहते थे।

द्विवेदी जी के इस आंदोलन से हम अत्यधिक प्रभावित होते थे। उनके शब्द चुपके-चुपके हमारे हृदय में उतर

जाते थे और समय-समय पर कंठ में आकर बोलने लगते थे । इसके दो मूल कारण थे---हम अव्वल तो हिंदी-प्रेम माता-पिता से विरासत में पाए हुए थे और दोयम, कुछ ऐसे वयोवृद्ध सज्जनों के संपर्क में रहते थे, जो मूलतः हिंदी-भाषी तो नहीं थे, परंतु हिंदी का महत्त्व खूब समझते थे, अपने हिंदी-प्रेम में आचार्य द्विवेदी जी से बढ़कर नहीं, तो घटकर भी नहीं थे और हमारा हिंदी प्रेम सराहनीय ही नहीं, अत्यावश्यक भी मानते थे ।

परिस्थिति-वश हमारा हिंदी-प्रेम शीघ्र ही उफन उठा । हम हिंदी की हिमायत के लिए कमर कसकर तैयार हो गए—डंके की चोट से हिंदी को भारत की राष्ट्र-भाषा सिद्ध करने लगे और तत्संबंधी लेख लिख-लिख कर ललिता, श्रीकमला, श्री शारदा, ज्ञान-शक्ति आदि पत्रिकाओं को देने लगे । इन लेखों का नतीजा हमारे हक़ में बहुत अच्छा निकला । सन् 1918 ईस्वी में अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य संमेलन का नवम अधिवेशन बंबई में होनेवाला था । इस अवसर पर उसकी कार्यकारिणी समिति ने हमें 'मुसलमानों और ईसाइयों में हिंदी-प्रेम प्रवर्तन के उपाय' शीर्षक से एक लेख लिखने का आदेश किया ।

इस आदेश पर हमने जो लेख लिखा, वह बगैर किसी पसोपेश के 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेज दिया । लौटती डाक से हमें पंडित देवीप्रसाद जी शुक्ल बी० ए० की ओर से उत्तर मिला, "आप का लेख समयानुकूल रहा", और सचमुच वह आशा के विपरीत बहुत शीघ्र मई, सन् 1918 ईस्वी की 'सरस्वती' में निकल आया । उसमें कहीं एक अल्प विराम का भी परिवर्तन या संशोधन नहीं किया गया । इतना ही नहीं, सरस्वती ने ठीक चवालीस वर्ष उपरांत सन् 1961 ईस्वी में अपनी हीरक जयंती के अवसर पर इसी लेख की बदौलत हमारा मान किया--- हमें अभिनंदन पत्र दिया ।

हमारा यह लेख संमेलन की लेख-माला में तो छपा ही, लक्ष्मी, ज्ञान-शक्ति, धर्माभ्युदय, भारत-मित्र आदि पत्र-पत्रिकाओं में भी निकला और बहुत दिन तक चर्चा का विषय बना रहा । यद्यपि हमने इस लेख के बाद द्विवेदी जी की सेवा में न कोई लेख भेजा और न कोई पत्र लिखा, तथापि इस चार-पाँच वर्षीय संपर्क से हम इसी नतीज़े पर पहुँचे कि द्विवेदी जी बड़े ही कर्तव्य-निष्ठ संपादक थे । अतिशय कठोरता और तत्परता से अपने अंगीकृत कार्य निर्वाह करते थे और एतदर्थ अधिक से अधिक शारीरिक तथा मानसिक श्रम से लोहा लेने में भी नहीं घबराते थे । वे हम जैसे अल्प-वय और अल्पबुद्धि वाले व्यक्ति की रचनाएँ भी मनोयोग-पूर्वक देखते और उन पर शीघ्र-से-शीघ्र अपना निर्णय प्रकट कर देते थे । वास्तव में वे कर्तव्यशीलता की दृष्टि से अनिवर्चनीय शालीनता के अवतार थे । हमारे इस कथन में रत्ती-भर भी अतिशयोक्ति नहीं है कि हिंदी-संसार में उनके जैसा सुयोग्य और कर्तव्य साधक संपादक न भूत में हुआ था, न वर्तमान में है, और न शायद भविष्य में होगा ।

कुछ पुरानी बातें

हरिशंकर शर्मा

मेरे स्वर्गीय पिता पं० नाथूराम शंकर शर्मा और स्वर्गीय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का बहुत पुराना परिचय या संबंध था । 'सरस्वती' का संपादन तो द्विवेदी जी महाराज ने परिचय के बहुत दिनों बाद किया है। संवत् 1947-48 में फर्रुखाबाद-फतेहगढ़ से 'कवि-व-चित्रकार' नाम का एक मासिक-पत्र प्रकाशित होता था। इसके संपादक थे पं० कुंदनलाल शर्मा। उस समय श्री ग्राउस, कलक्टर हिंदी के बड़े प्रेमी और समर्थक थे। यह पत्र उन्होंने ही प्रकाशित कराया था। वे फर्रुखाबाद में कलक्टर थे। इन साहब बहादुर के नाम पर कई नगरों में 'ग्रूस गंज' हैं। ये बाज़ार या मुहल्ले अब भी इसी नाम से प्रसिद्ध हैं। पं० कुंदनलाल साहब बहादुर के हेड क्लर्क थे। वे अपने स्थानांतरण के साथ इनका भी स्थानांतरण करा लेते थे—हिंदी प्रेम के नाते। फर्रुखाबाद से जो 'कवि-व-चित्रकार' मासिक रूप में प्रकाशित हुआ, वह लीथो में छपता था, पतंग के से कागज़ पर। उस समय के कवि या साहित्यकार इसी पत्र में अपनी रचनाएँ प्रकाशित कराते थे। मेरे पिता जी और श्री द्विवेदी जी भी उसमें लिखते थे। और भी तत्कालीन सब साहित्यकारों का वही विचार-प्रचार साधन था। स्व० चंद्रकला बाई (बूंदी) आदि महिलाएँ भी उसमें कविताएँ प्रकाशित कराती थीं। यह पिचहत्तर वर्ष पुरानी बात है, जब आचार्य प्रवर श्री द्विवेदी जी पच्चीस वर्ष के थे और झाँसी में क्लर्क थे। उनकी रचनाओं के ऊपर नाम रहता था और नाम के साथ झाँसी भी लिखा रहता था। 'कवि-व-चित्रकार' का उल्लेख हिंदी के किसी भी इतिहास में नहीं है। भाई बनारसीदास चतुर्वेदी के कहने से मैंने 'विशाल भारत' में 'कवि-व-चित्रकार' के संबंध में लेख लिखा था। तब से इतिहास के पृष्ठों पर भी लेखकों ने उस के संबंध में कुछ पंक्तियाँ लिखीं। यह लेख शायद सन् 1934-35 में प्रकाशित हुआ था, जब चतुर्वेदी जी 'विशाल भारत' के संपादक थे।

'कवि-व-चित्रकार' की कुछ प्रतियाँ हमारे घर (हरदुआगंज, ज़िला अलीगढ़) में हैं। एक प्रति यहाँ भी है, उसमें श्री द्विवेदी जी का 'कविता' शीर्षक लेख है (संवत 1938 वि० का अंक)।

जब श्री द्विवेदी सरस्वती-संपादक हुए तो उन्होंने खड़ी बोली की कविता का बहुत प्रकाशन किया। पिताजी सरस्वती में नहीं लिखते थे। सरस्वती की खड़ी बोली की कविताएँ पढ़ कर, विलायत से ग्रियर्सन साहब ने द्विवेदी जी को लिखा कि उनमें कोई रस नहीं है। ऐसी कविताएँ न प्रकाशित कीजिए। द्विवेदी जी ने यह चिट्ठी ज्यों की त्यों पिताजी के पास भेज दी और लिखा कि 'अब सरस्वती की लाज आप के हाथ है'। पिता जी अँग्रेज़ी नहीं जानते थे, हमारे कसबे में भी कोई अँग्रेज़ी जानने वाला उस समय न था। चिट्ठी अलीगढ़ भेजी गई और वहाँ से उसका अनुवाद होकर आया। 'सरस्वती' में प्रकाशित खड़ी बोली की कविताओं की कड़ी आलोचना थी। पिताजी ने 'सरस्वती' में आचार्य द्विवेदी के आदेश से सात मास में पाँच कविताएँ लिखीं। 'संमुखोद्गार,' 'केरल की तारा', 'वसंतसेना', 'हमारा अद्य:पतन' आदि। ग्रियर्सन साहब ने वे बहुत पसंद कीं और द्विवेदी जी को प्रशंसात्मक पत्र अँग्रेज़ी में लिखा। यह पत्र भी आचार्य जी ने पिताजी के पास भेज दिया।

एक बार संवत् 1948 में, ग्राउस साहब ने कवि और साहित्यकारों को अपने यहाँ (फतेहगढ़) आमंत्रित किया था। पिताजी भी गए थे। द्विवेदी जी भी घर थे। उस संमेलन में पिताजी की कविता सर्वश्रेष्ठ रही। ग्राउस

साहब ने उन्हें स्वर्णपदक प्रदान किया और अपने कमरे का वह चित्र भी दे दिया जिसको लक्ष्य कर पिताजी ने कविता लिखी थी। वह चित्र विलायत के किसी प्रसिद्ध चित्रकार द्वारा आया हुआ था। उस समय यह चित्र डेढ़ सौ रुपए का बताया गया था। यह चित्र हमारे घर की बैठक में वर्षों टँगा रहा और पदक भी सुरक्षित रहा।

पिताजी का और आचार्य द्विवेदी का घनिष्ट संबंध था। बहुत ज्यादा पत्र-व्यवहार रहता था। आचार्य जी के सैकड़ों पत्र पिताजी ने सुरक्षित कर रखे थे। भारतेंदु जी के भी कई पत्र थे। तत्कालीन सभी कवियों और साहित्यकारों में बड़ा प्रेम था। स्व० आचार्य पद्मसिंह शर्मा, पिताजी की जीवनी लिखना चाहते थे, वे सब पत्र हमारे यहाँ से सन् 1931 में ले गए। मैंने ही गिन कर दिए थे––ग्यारह सौ पचास पत्र थे। 361 द्विवेदी जी के थे। श्री काशीप्रसाद जायसवाल, प्रतापनारायण मिश्र, राजा कमलानंद सिंह 'सरोज', राजा रामपाल सिंह, पं० मदनमोहन मालवीय आदि-आदि। 1932 में पं० पद्मसिंह शर्मा और पिता जी दोनों का देहावसान हो गया। उन ग्यारह सौ पचास पत्रों का कुछ भी पता नहीं कि कहाँ गए। बहुत तलाश किए। ये पत्र होते तो हिंदी के इतिहास के लिए बड़े उपयोगी थे।

पिताजी और आचार्य द्विवेदी जी के मध्य दिल्लगी भी खूब रहती थी। द्विवेदी जी उपाधियों को पसंद नहीं करते थे। पिताजी को तत्कालीन कवि-समाज ने 'भारत प्रसेंदु', 'कवि राज' आदि उपाधियाँ प्रदान कीं तो द्विवेदी जी ने अपने निजी पत्रों में उनकी खूब खिल्ली उड़ाई। लिखा कि आप इन उपाधि-व्याधियों का क्या करेंगे।

पं० कुंदनलाल के देहावसान और ग्राउस साहब के न रहने से 'कवि-व-चित्रकार' बंद हुआ। पं० कुंदनलाल जी के मित्र श्री सेठ हरप्रसाद जी ने एक थोक अंक निकाला। उसमें पिताजी की वह कविता है, जो द्विवेदी जी ने लिखवाकर स्वर्गीय कुंदनलाल जी के चित्र के नीचे छपवाई थी। इस अंक का संपादन द्विवेदी जी ने ही किया था।

बारो बलहीन दीन मैं हूँ कवि चित्रकार
प्यारे सेठ हरपरसाद ने पठायो हूँ।
शोक विष थाप रह्यो मेरे अंग-अंगन में
बैरी काल व्याल ने रिसाय घर खायो हूँ।
साँची कहूँ शंकर सरीर न रहेगो अब
अंत के मिलाप को तिहारे तीर आयो हूँ।
जाको मेरे उर में विराजत बिचित्र चित्र
ताके तन त्याग को संदेशो लिख लायो हूँ।

'सरस्वती' द्वारा द्विवेदी जी महाराज ने हिंदी की महती सेवा की। अनेक कवियों और लेखकों को प्रोत्साहन दिया। राष्ट्र कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त को सबसे अधिक द्विवेदी जी ने ही प्रोत्साहन दिया और उन्होंने ही गुप्तजी को कविता-क्षेत्र में आगे बढ़ाया। और भी कितने ही कवियों तथा लेखकों को।

आचार्य पद्म सिंह शर्मा द्विवेदी जी के बड़े भक्त थे, और मेरे पिता जी के भी। मेरे तो वे गुरू ही थे। इन दोनों के कारण मेरे ऊपर भी द्विवेदी जी की बड़ी कृपा थी। उनके समय में 'सरस्वती' में मैंने कभी कुछ नहीं लिखा। मैंने सन् 1923 से 1934 तक 'आर्यमित्र' साप्ताहिक का संपादन किया। यह पत्र मैंने साहित्यिक बना दिया था। मेरी प्रार्थना पर विशेषांकों के लिए पूज्य द्विवेदी जी अवश्य अपना प्रसाद भेजते थे। श्री प्रेमचंद, श्री रत्नाकर जी, श्री हरिभाऊ जी, श्री श्रीधर पाठक जी, श्री गोपाल शरण सिंह जी, श्री रामनरेश त्रिपाठी, श्री मैथिलीशरण गुप्त जी, सब ही की रचनाएँ मेरे समय में प्रकाशित होती थीं। मैं तो अगण्य था, परंतु मेरे पिताजी और मेरे गुरू जी के कारण सब मुझे अपना कृपा पात्र समझते रहे। श्री निराला जी, श्री चतुरसेन जी, श्री पुरुषोत्तम दास टण्डनजी, श्री के० पी० जायसवाल इत्यादि सभी महानुभावों की मेरे ऊपर कृपा रही।

पिताजी प्रवास भीरु थे। उनसे मिलने सभी प्रसिद्ध साहित्यकार और कवि हरदुआगंज पधारते थे। श्री प्रेम चंद जी श्री रत्नाकर जी, श्री मदनमोहन मालवीय, श्री केदार पांडेय (राहुल साँकृत्यायन), श्री निराला, श्री श्रीधर पाठक श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि।
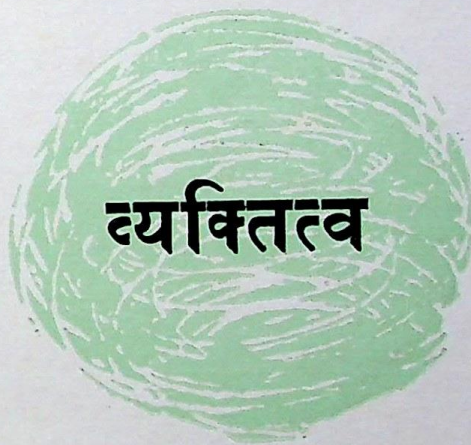
व्यक्तित्व
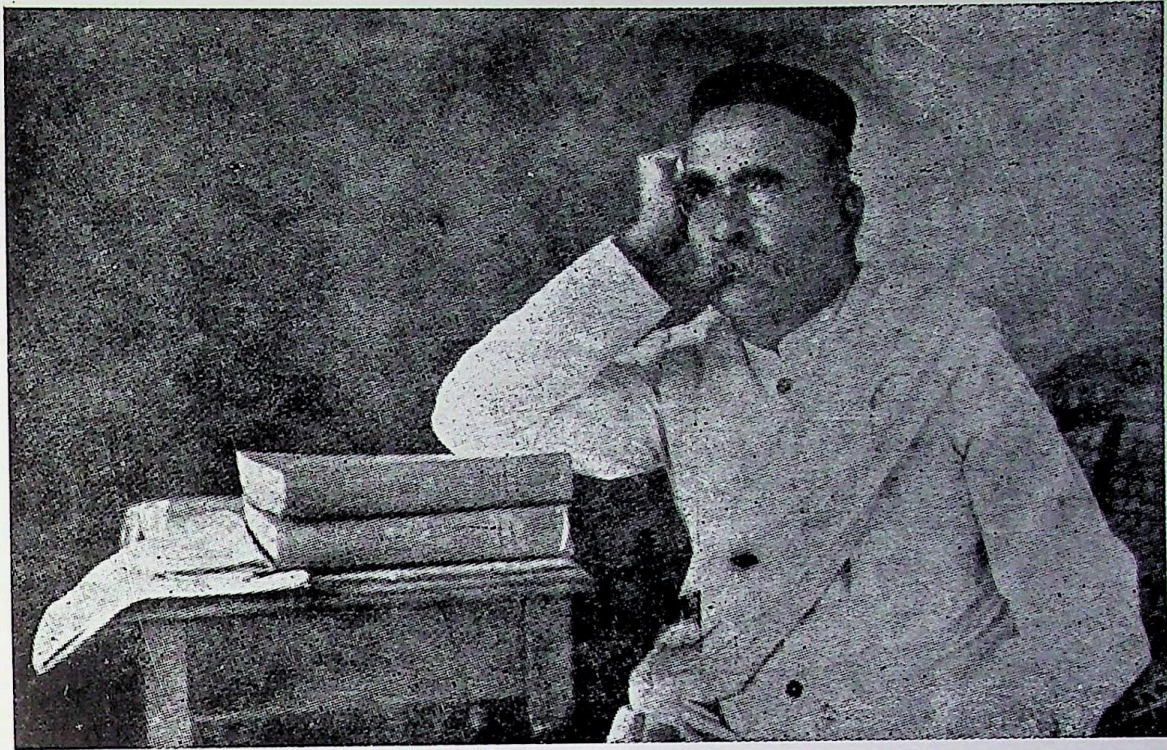
हिंदी प्रवर्तक

गोविंददास

स्वाभिमान, स्वावलंबन और स्वाध्याय इन तीनों की त्रिवेणी यदि किसी साहित्यकार में देखना हो तो वह आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के जीवन में प्रवाहित दिखाई देगी।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पश्चात् हिंदी का वर्तमान रूप बहुत दूर तक द्विवेदी जी की देन है। भारतेंदु ने अपना पद्य साहित्य ब्रजभाषा में ही लिखा परंतु द्विवेदी जी ने स्वयं भी कुछ पद्य रचना खड़ी बोली में की और अन्य अनेक खड़ी बोली के कवियों को जी भर प्रोत्साहन दिया, जिनमें प्रमुख राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त हैं जो आधुनिक काल में खड़ी बोली भाषा के उन्नायक माने जाते हैं। द्विवेदी जी की हिंदी के संबंध में कुछ विशिष्ट मान्यताएँ थी। हिंदी गद्य की भाषा व्याकरण संमत हो वे यह चाहते थे। हिंदी गद्य ही नहीं पद्य भी खड़ी बोली में लिखा जाए इसके वे हिमायती थे। देवनागरी लिपि की मान्यता हर प्रकार बढ़ाई जाए और सार्वजनिक कार्यों में सरकार हिंदी भाषा तथा देवनागरी लिपि काम में लावे यह उनका प्रयास रहा। हिंदी के लेखकगण अपनी रचनाओं में पर्याप्त परिश्रम करें इसके लिए वे लेखकों को सतर्क किया करते थे। चूँकि देश की 80 फ़ी सदी जनता गाँवों में रहती है और वे स्वयं भी गाँव के ही थे तथा कस्बों में अधिकतर रहा करते थे इसलिए ग्रामीण जनता का वे सदा ध्यान रखते थे। यह सब द्विवेदी जी ने उस काल की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका 'सरस्वती' द्वारा किया और 'सरस्वती' उस समय की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका उन्हीं के कारण ही तो बनी। 'सरस्वती' के संपादन में उन्होंने जो निर्भयता प्रदर्शित की और जो अंत तक चलती रही वह आज भी कम संपादकों में देखने को मिलती हैं। अँग्रेजी भाषा में जो स्थान डाक्टर जॉनसन का है वह

वर्तमान हिंदी में द्विवेदी जी का माना जाता है जो सर्वथा उचित है । न डाक्टर जॉनसन ने कोई वृहद् मौलिक साहित्य की रचना की थी और न द्विवेदी जी ने ही की । परंतु जिस प्रकार अँग्रेज़ी भाषा का वर्तमान रूप बहुत दूर तक डा० जॉनसन का दिया हुआ है उसी प्रकार हिंदी का वर्तमान रूप द्विवेदी जी का ।

मैं द्विवेदी जी के निकट संपर्क में सन् 1916 में आया । उस समय में एक संपन्न परिवार का महत्त्वाकांक्षाओं से ओत-प्रोत युवक था । साहित्य की ओर मेरा कुछ स्वाभाविक रुझान था । अतः वीर साहित्य ने मेरे मन में देश भक्ति की भावनाओं को भरा और उसी ने आगे चल कर मुझे काँग्रेस में संमिलित करा दिया । महत्त्वाकांक्षा प्रायः लोकेषणा को जन्म देती है अतः साहित्यिक क्षेत्र में उस समय मैं कीर्तिलोलुप था और मेरी रचनाओं का उद्देश्य स्वातंत्रसुखाय नहीं था । उस समय साहित्य के मूल्यांकन और साहित्यिक प्रतिष्ठा के लिए सबसे बड़े साधन पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनकी पत्रिका 'सरस्वती' थी । अतः मैंने पं० कामताप्रसाद जी गुरु द्वारा द्विवेदी जी से अपना नाता जोड़ा । द्विवेदी जी की मुझ पर कृपा भी हो गई । मेरा एक सचित्र परिचय 'सरस्वती' में निकला और उस समय के मेरे लिखे हुए एक महाकाव्य के कुछ अंश भी । इसी संदर्भ में मेरा द्विवेदी जी से पत्र-व्यवहार भी हुआ । इस पत्र-व्यवहार के कुछ अंशो को मैं यहाँ उद्धृत करना चाहता हूँ जिनसे ज्ञात होगा कि द्विवेदी जी का व्यक्तित्व किस कोटि का था ।

सन् 1920 में मध्यप्रदेशीय हिंदी साहित्य संमेलन के तृतीय अधिवेशन का जो सागर में हुआ मैं अध्यक्ष चुना गया । आज जब मैं उस घटना पर विचार करता हूँ तब मुझे जान पड़ता है कि जितना उचित मेरा सन् 1948 में अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन का सभापति पद पर चुना जाना था उतना ही अनुचित सन् 1920 में प्रांतीय हिंदी साहित्य संमेलन के सभापति पद पर निर्वाचन । मेरी न तो उस समय कोई बहुत बड़ी साहित्यिक रचनाएँ ही थीं और न हिंदी की कोई विशेष सेवा । मेरे इस पद पर निर्वाचन का पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी ने घोर विरोध किया था जो सर्वथा उचित था । उस समय प्रांतीय संमेलन के सभापति पद पर मेरा यह चुनाव पं० माधवराव जी सप्रे और पं० विष्णुदत्त जी शुक्ल ने कराया था । यह शायद इस आशा से कि मध्य प्रदेश के उस समय के सर्वश्रेष्ठ संपन्न कुटुंब के एक युवक को सार्वजनिक जीवन में लाने का यह चुनाव-साधन हो । मैंने संमेलन के उस अधिवेशन के भाषण की खूब तैयारी की और बाद में उसकी काफ़ी डुग्गी भी पिटवाई । भाषण की प्रतियाँ सभी साहित्यिकों को भेजीं, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी को भी उस भाषण की एक प्रति गई और उन्होंने मेरे उस भाषण पर जो संमति भेजी उस पर मुझे याद है उस समय मैं फूला नहीं समा रहा था । उस संमति को भी मैंने प्रकाशनार्थ न जाने कहाँ-कहाँ भेजा था । द्विवेदी जी ने मेरे उस भाषण पर दिनांक 6-8-20 को मुझे लिखे अपने पत्र में जिन बातों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया उन्हें यहाँ दे रहा हूँ ।

श्री मतांवर,

सागर के सम्मेलन में किए गए आपके अभिभाषण की एक कापी मुझे प्राप्त हुई । उस पर लिखा है—'वक्ता का प्रेमोपहार' । इस उपहार को मैंने सादर ग्रहण किया । इसके आरंभ का श्लोक मुझे बहुत पसंद आया । उस पर और उसके आगे भी जो दो श्लोक भागवत में इसी तरह के हैं उन पर भी मेरी बड़ी भक्ति है । श्रीमद्भागवत मेरा सबसे प्यारा ग्रंथ है ।

आपकी वक्तता बड़ी अच्छी है । सभी दृष्टियों से आपने हिंदी पर विचार प्रकट किए हैं । मैंने सानंद उसे पढ़कर आनंद प्राप्ति की ।

इस पत्र में आगे चल कर वे लिखते हैं :—

"पृष्ठ 15 पर 'स्त्रियोपयोगी' शब्द खटकता है । ज़रा आप भी विचार कर लीजिए । अंत के पद्यों की अंतिम पँक्ति में 'करके' में 'के' अधिक जान पड़ता है ।"

इसके बाद उनका दूसरा पत्र यद्यपि जो इसके पूर्व का है मेरे द्वारा उन्हें कुछ सेवा भेंट समर्पण की इच्छा व्यक्त करने पर उन्होंने मुझे लिखा था उसे यहाँ उद्धृत करता हूँ ।

डाकखाना दौलतपुर रायबरेली
22 जुलाई, 1920

श्रीमतांवर,

जुलाई का कृपा पत्र मिला। क्या आप स्वर्गवासी राजा गोकुलदास के वंशज हैं? कोई 35 वर्ष हुए, मैं भोपाल में स्टेशन मास्टर था। उनकी शायद वहाँ कोई कोठी थी। वे कभी-कभी वहाँ जाते थे। याद तो यही कहती है कि उनका नाम राजा गोकुलदास ही था, पर शायद वे और कोई हों। स्टेशन मास्टर की हैसियत से मुझे उनसे काम पड़ता था। वे मुझ से प्रसन्न रहते थे और मैं उनसे। उस समय रेल इटारसी से भोपाल ही तक थी।

आप मुझे बड़ा समझते हैं, यह आपके हृदय की महत्ता है। बड़ों के संपर्क से ही छोटे बड़े हो जाते हैं। न मैं विद्वान, न मैं कोई बड़ा लेखक और न और ही कुछ। किसी तरह पेट की रोटी कमा खाता हूँ।

मेहनत करके मज़दूरी लेना ही मुझे पसंद है। निष्काम कार्य और निष्काम सेवा संसार में दुर्लभ है। जिसे आप सेवा करना कहते हैं उसके भीतर दान का भाव छिपा रहता है और दान लेना मैं निषिद्ध समझता हूँ। दान देने वाले की दृष्टि में लेने वाला तुच्छ ज्ञात होता है। यह मुझे असह्य है। अब यह बताइए कि मेरा खयाल सच है या नहीं। अगर आप यह हृदय से समझते हैं कि मैंने अपनी भाषा का या किसी जनसमुदाय का कुछ उपकार किया है अतएव मैं सेवा या सहायता का यथार्थ पात्र हूँ तो आप अपनी संतुष्टि के लिए अपनी इच्छा पूर्ति कर सकते हैं। पर यह सेवा या सहायता निष्काम होनी चाहिए। उसमें दान की बू न होनी चाहिए। मुझसे उसके बदले में कुछ काम लेने की प्रवृत्ति भी मन में न होनी चाहिए। मैंने 175 रु० महावार की मुलाज़िमत छोड़कर 23 रु० पर 'सरस्वती' की संपादकता आरंभ की थी। इस बात को 17 वर्ष हो चुके। मैंने और भी कुछ आत्मत्याग किया है। इस दशा में मैं आपकी सेवा को अपनी कदरदानी मात्र समझूँगा।

देवता के मंदिर में जाकर उससे पूछा नहीं जाता कि सेवा करूँ या नहीं और करूँ तो कितनी और कैसी। देवता तो भक्ति देखता है। वह एक फूल और चार अक्षतों से भी प्रसन्न हो सकता है।

इस प्रलाप को आप क्षमा करें।

शुभानुध्यायी
महावीरप्रसाद द्विवेदी।

मैंने उनकी जो सेवा की तथा उन्होंने उदारतापूर्वक उसे जो स्वीकार किया उस सबके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं उनमें एक स्वाभिमानी, स्वावलंबी और स्वाध्यायी साधक तथा साहित्यकार के साथ कर्म, ज्ञान और निराभिमान की विविध धाराएँ एक साथ प्रवाहित थीं जो आज के साहित्यकार और साहित्य के लिए अनुकरण की वस्तु हैं।

राष्ट्र भाषा के उन्नायक स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की जन्म शती के इस शुभ अवसर पर एक शिष्यवत् मैं उनके चरणों में अपनी भाव श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

• • •

आचार्य की विनम्रता और शालीनता

रामचंद्र वर्मा

यों तो आचार्य द्विवेदी हिंदी साहित्य सेवियों के लिए सभी दृष्टियों से परम पूज्य और महान् हैं और हिंदी साहित्य के आरंभिक उन्नायकों में उनका प्रमुख स्थान है फिर भी अपने समय में कुछ लोगों की दृष्टि में उनके स्वभाव की उग्रता और प्रचंडता के संबंध में भी कई प्रकार की चर्चाएँ होती रहती थीं। परंतु जिन लोगों को उनके निकट संपर्क में आने और उनके व्यवहारों को सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करने का अवसर मिलता था, वे अच्छी तरह जानते थे कि आचार्य द्विवेदी का हृदय कैसी उदारता, विनम्रता और शालीनता से परिपूर्ण था। उनके इन गुणों की द्योतक एक घटना का उल्लेख मैं हिंदी साहित्य कोश के दूसरे खंड में पं० केदारनाथ पाठक की संक्षिप्त जीवनी के अंतर्गत कर चुका हूँ और जिसे यहाँ इसलिए दोहराना चाहता हूँ कि उस घटना के जानने वाले कदाचित बहुत ही थोड़े लोग बच रहे होंगे। घटना यह थी कि पं० केदारनाथ पाठक एक बार बहुत ही क्रुद्ध और रुष्ट होकर और अपने सरल स्वभाव के अनुसार पागलों की तरह बकते-बकते आचार्य द्विवेदी के जुही वाले निवास-स्थान पर जा पहुंचे थे। उनका वह विकराल रूप देखते ही आचार्य द्विवेदी जी ने चट कुछ मिठाई और एक गिलास पानी मँगाकर उनके सामने रखते हुए कहा—देवता, आप बहुत दूर से चलकर आ रहे हैं। पहले जलपान कर लीजिए और ठंडे हो लीजिए फिर यह मेरा डंडा और मेरा सिर दोनों आपके सामने हाज़िर हैं। उस डंडे से मेरा सिर फोड़कर अपना क्रोध शांत कर लीजिएगा। इतना सुनते ही पाठक जी झुककर आचार्य द्विवेदी के चरणों पर गिर पड़े और फूट-फूट कर रोने लगे। द्विवेदी जी ने उन्हें तत्काल उठाकर गले लगा लिया और फिर दोनों प्रेमपूर्वक बातें करने लगे। अब कहाँ मिलेंगे ऐसे पाठक जी और ऐसे द्विवेदी जी!

दूसरी घटना उस समय की है जब काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने आचार्य द्विवेदी के प्रति हिंदी वालों की कृतज्ञता और संमान का भाव सूचित करने के लिए द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ प्रकाशित करना और काशी में एक विशाल आयोजन कर के उन्हें वह ग्रंथ भेंट करना निश्चित किया था। इस प्रयत्न के मूल में रायकृष्ण दास और उनके कुछ ऐसे मित्र थे जो हृदय से द्विवेदी जी का आदर करते थे और उनका यथेष्ट संमान करना चाहते थे। उन्हीं लोगों में एक छोटा-सा स्थान इन पंक्तियों के लेखक का भी था। उस अभिनंदन ग्रंथ के संपादक बाबू श्यामसुंदर दास और रायकृष्ण दास नियत हुए थे। अभिनंदन ग्रंथ के लिए अधिकतर चित्र, लेख और अन्य सामग्री एकत्र करने-कराने का श्रेय रायकृष्ण दास ही को था। पर भूमिका लिखने का भार बाबू श्यामसुंदर दास पर डाला गया था। बाबू श्यामसुंदर दास और आचार्य द्विवेदी में बहुत पहले से कुछ अन-बन चली आ रही थी जिसके फलस्वरूप दोनों एक दूसरे से कुछ खिंचे से रहते थे। अभिनंदन ग्रंथ छप रहा था प्रयाग के इंडियन प्रेस में और उसके प्रूफ़ आदि देखने तथा छपाई की व्यवस्था करने के लिए सभा की ओर से आचार्य शिवपूजन सहाय प्रयाग भेजे गए थे जिन्होंने तीन-चार महीनों तक वहाँ रहकर बहुत ही योग्यतापूर्वक अभिनंदन ग्रंथ के मुद्रण का ही नहीं बल्कि संपादन का भी बहुत-कुछ कार्य किया था। परंतु जब अभिनंदन ग्रंथ के अंतिम चार-पाँच फार्म और भूमिका आदि की छपाई बाकी रह गई थी तभी अचानक काशी में शिवपूजन जी के पुत्र जो उस समय बहुत ही छोटे थे बहुत अस्वस्थ हो गए और जिसके कारण शिवपूजन जी को अचानक बाकी काम छोड़कर काशी आना पड़ा। उस समय निश्चय हुआ कि बाबू श्यामसुंदर दास के साथ इन पंक्तियों का लेखक प्रयाग भेजा जाए। हम लोग प्रयाग गए और इंडियन प्रेस के मालिकों के घर पर ही ठहरे। कोई दो दिन बाद जब भूमिका का प्रूफ़ मेरे सामने आया, तब मैंने देखा कि उसके अंतिम अनुच्छेद में तीन-चार वाक्य ऐसे थे जो किसी प्रकार

अभिनंदन ग्रंथ की भूमिका के लिए उपयुक्त नहीं थे। और उन्हीं वाक्यों के कारण इंडियन प्रेस के साहित्यिक कार्यकर्ताओं में तीव्र रोष भी व्याप्त हो चुका था जो मेरी समझ में उचित और स्वाभाविक ही था। मैंने उस फर्मे की छपाई रोक दी और प्रूफ़ लेकर मैं बाबू श्यामसुंदर दास के पास पहुँचा। मेरी बातें सुनकर उन्होंने कहा कि द्विवेदी जी की प्रशंसा करने वाले लेख तो अभिनंदन ग्रंथ में भरे ही पड़े हैं। कहीं उनके वास्तविक स्वरूप का भी तो दिग्दर्शन होना चाहिए। मैंने कहा—सभा आचार्य द्विवेदी का अभिनंदन कर रही है उनकी आलोचना नहीं। इस पर प्रायः दिन भर मुझ में और बाबू श्यामसुंदर दास में वाद-विवाद होता रहा और अंत में उन्होंने अपने स्वभाव के अनुसार खिजला कर मुझ से कहा—अच्छा जाओ जो तुम्हारे जी में आवे करो। पर एक वाक्य पर ज़ोर देते हुए उन्होंने कहा कि यह अवश्य रहना चाहिए। मैंने उन्हीं के सामने सभी आपत्तिजनक अंश काट कर निकाल दिए और जिस वाक्य के संबंध में उनका विशेष आग्रह था उसे भी बहुत कुछ बदल कर नया रूप दे दिया। बाबू साहब मन ही मन मुझ पर रुष्ट तो हुए पर कुछ बोले नहीं। दूसरे दिन सबेरे वह प्रूफ़ लेकर मैं प्रेस में गया, तब मुझे पता चला कि प्रयाग के कुछ साहित्य सेवी यह चाहते हैं कि द्विवेदी जी काशी तो जाएँ परंतु द्विवेदी अभिनंदन समारोह में संमिलित न हों। इस संबंध की एक और विशेष बात यह थी कि आचार्य द्विवेदी उसी दिन संध्या को प्रयाग आने वाले थे और बाबू श्यामसुंदर दास उसी दिन सबेरे प्रयाग से काशी लौट गए थे। मैं जानता था कि आचार्य द्विवेदी और बाबू श्यामसुंदर दास की अन-बन का मूल भी ठीक इसी प्रकार की ऐसी ही घटना से हुआ था जो बहुत दिन पहले काशी में घट चुकी थी। उस बार भी जिस दिन आचार्य द्विवेदी काशी आने वाले थे उसी दिन बाबू श्यामसुंदर दास किसी विशेष कार्यवश काशी से बाहर चले गए थे। इसके सिवा जब काशी में प्रथम हिंदी साहित्य संमेलन का अधिवेशन हुआ था तब भी आचार्य द्विवेदी काशी आए तो अवश्य थे परंतु संमेलन के अधिवेशन में संमिलित नहीं हुए थे। इसलिए मुझे भय हुआ कि इस प्रकार एक पुरानी घटना की पुनरावृत्ति आज हुई है उसी प्रकार कहीं दूसरी घटना की भी पुनरावृत्ति न हो जाए। उसी दिन संध्या को आचार्य द्विवेदी जी के कुछ साहित्यिक भक्तों ने उन्हें सब बातों से अवगत करा दिया था और उन्हें बता दिया था कि भूमिका में कुछ बातें बहुत ही अनुचित रूप से लिखी हुई आई थीं जो बाद में मेरे समझाने-बुझाने पर निकाल दी गई थीं। फिर भी द्विवेदी जी को सभा की ओर से असंतुष्ट और रुष्ट करने का कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा गया था। दूसरे दिन सबेरे जब मैं आचार्य द्विवेदी के दर्शनों के लिए उनकी सेवा में उपस्थित हुआ, तब मैंने देखा कि उनका हृदय स्वच्छ आकाश की तरह निर्मल है और उसमें प्रयाग वालों के कहने-सुनने का नाम को भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। आचार्य द्विवेदी ने बहुत ही प्रेमपूर्वक भाव से कहा—'आप लोग मेरा बहुत बड़ा संमान कर रहे हैं।' मैंने नम्रतापूर्वक कहा—'महाराज, आप तो ऐसे उच्च स्तर तक पहुँच चुके हैं कि जहाँ तक हम लोगों का किया हुआ मान-संमान पहुँच भी नहीं सकता। हाँ, आप के संमान के नाम पर सभा अपना ही संमान बढ़ा रही है।'

फिर भी मेरे मन में डर तो बैठा हुआ ही था। मैंने उसी दिन काशी लौट कर बाबू श्यामसुंदर दास और रायकृष्ण दास को फिर इस उद्देश्य से प्रयाग भेजा कि वे लोग आचार्य द्विवेदी को आदरपूर्वक फिर से निमंत्रित कर के अपने साथ काशी ले आवें। वे लोग उसी रोज रात को प्रयाग गए भी और आचार्य द्विवेदी से मिलकर दूसरे दिन लौट भी आए। उन लोगों की बातों से मुझे यही जान पड़ा कि आचार्य द्विवेदी का हृदय इतना महान् और विशाल है कि उस पर किसी बीती हुई घटना के कलुष या कटुता की नाम को भी कहीं कोई छाया नहीं है। वे काशी आए। उन्होंने शुद्ध हृदय से अभिनंदन ग्रंथ ग्रहण किया और उसका उत्तर देते हुए सभा के कामों की यथेष्ट प्रशंसा की। अंत में उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि वस्तुतः मैं तो इस सभा में झाड़ू देने योग्य भी नहीं हूँ फिर भी मैं सभा को एक सौ रुपए इसलिए भेंट करता हूँ कि वह इन रुपयों से एक वर्ष के लिए मेरी ओर से कोई झाड़ू देने वाला नौकर नियुक्त करे। उनकी यह विनम्रता और शालीनता देखकर प्रायः सभी लोगों का हृदय गद्गद् हो गया। ●

आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व

विनोदशंकर व्यास

मुझे अपने पिता और पितामह की कीर्ति और वैभव के साथ ही पुस्तकों का एक बड़ा भंडार मिला। जिसमें भारतेंदु और द्विवेदी काल की अधिकांश पुस्तकें थीं। इनमें सरस्वती की फ़ाइल मेरी विशेष-प्रिय वस्तु थी। उन्हीं के पन्ने उलटते-उलटते मुझे लिखने की प्रेरणा मिली। अतएव पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रति मेरी श्रद्धा होना स्वाभाविक है।

द्विवेदी जी अपने जीवन काल में एक गुरुकुल थे। हिंदी साहित्य के उस विशाल वट-वृक्ष की छाया में बैठ कर कितने लेखक, कवि और राष्ट्र-कवियों ने हिंदी भाषा को उज्ज्वल किया है, यह किसी से छिपा नहीं। मुझे उनके व्यक्तित्व का अध्ययन करने का जितना अवसर मिला है उसमें मैंने यही देखा है कि उनका ब्राह्मणत्व सबसे अधिक प्रबल रहा है। द्विवेदी जी के संबंध में भी कुछ विद्वानों की धारणा है कि उनमें अहमन्यता या अकड़ की मात्रा अधिक थी।

वह एक महान साहित्यिक योद्धा की भाँति द्वंद करते रहे। अहमन्यता कहना उचित नहीं उसे आत्म-संमान कहना ही उपयुक्त होगा। जिसकी पीठ ठोंकते उसे आगे ही बढ़ाते चले गए और जिससे रूठे उसे गहरे प्रहार का सामना करना पड़ा। वे सरल हृदय के थे और खुलकर वार करते थे। भीतर ही भीतर मीठी छुरी नहीं चलाते थे, और इसी स्वभाव के कारण वह किसी के सामने झुके नहीं। वह चाहते तो बड़े से बड़ा सांसारिक संमान प्राप्त कर सकते थे, लेकिन ब्राह्मण का संतोषी हृदय जीवन भर अपनी साधारण स्थिति से ही संतुष्ट रहा।

पाक्षिक जागरण ने सबसे पहिले द्विवेदी जयंती का प्रस्ताव उपस्थित किया था। 9 मई, 1932 संध्या समय सभा भवन में द्विवेदी जयंती मनाई गई। सभापति का आसन बाबू श्यामसुंदर दास ने ग्रहण किया था। बाबू रामचंद्र ने प्रस्ताव पढ़कर सुनाया जिसमें आचार्य द्विवेदी जी की अड़सठवीं वर्ष गाँठ पर उनकी दीर्घायु-कामना की गई थी। पं० रामचंद्र शुक्ल ने प्रस्ताव का अनुमोदन और प्रसाद ने समर्थन किया था।

द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ की योजना भाई शिवपूजन ने ही प्रस्तुत की थी और उन्हीं के घोर परिश्रम से वह पूर्ण भी हुआ था। वह महीनों इलाहाबाद रहकर इंडियन प्रेस में उसका कार्य करते रहे। यह ग्रंथ अत्यंत सुंदर और भव्य निकला किंतु इसका प्रचार न हो सका और अंत में आधे मूल्य पर बेचने पर उसकी छीछालेदर हुई।

पूज्य द्विवेदी जी अपने काम में कितने पक्के थे यह उन्हीं के शब्दों से प्रकट होता है—'एक दफे मैं एकाएक बीमार पड़ गया। जिगर बहुत बढ़ गया। हलके से हलका भोजन न पचने लगा। डाक्टरों ने डरा दिया। उनकी बातचीत से सूचित हुआ कि शायद मेरी परमायु समाप्ति के निकट है। इस पर मैंने तीन-चार दिन में धीरे-धीरे सामग्री एकत्र करके 'सरस्वती' की अगली तीन सँख्याओं का मसाला एक ही साथ प्रेस भेज दिया। यदि डाक्टरों का अनुमान सही निकले, तो मेरे बाद भी तीन महीने तक 'सरस्वती' समय पर निकलती रहे— यह सूचना न देनी पड़े कि संपादक के मर जाने से वह देर से निकल सकी या बंद रही। तीन महीने में कोई दूसरा संपादक मिल ही जाएगा।'

चिंतामणि बाबू सदैव द्विवेदी जी का आदर करते और उनकी स्वतंत्रता में कभी बाधक नहीं हुए। द्विवेदी जी अपने जीवन काल में इंडियन प्रेस के संचालकों से असंतुष्ट नहीं रहे। ऐसा उदाहरण क्या हिंदी संसार में दूसरा कहीं मिल सकता है?

द्विवेदी जी ने खुद लिखा है कि कुछ लोगों ने बड़ा कोलाहल मचाया और उन्होंने घोष बाबू से कहा—'यह मनुष्य बड़ा घमंडी, बड़ा कलहप्रिय, बड़ा तुनकमिजाज़ है। इससे तुम्हारी कभी न पटेगी। तुमने बड़ी भूल की, साल के भीतर ही यह महाभारत मचा देगा।' परंतु यह सारा भय निर्मूल साबित हुआ। वर्ष के दीर्घ काल में कभी एक बार भी ऐसा मौका न आया, जिसमें इस तरह की कोई बात हुई हो। घोष बाबू ने अपना फर्ज़ अदा किया, मैंने अपना।

किसी ने भी इसमें त्रुटि न होने दी। विवाद, वितण्डा और कलह हो कैसे ? यह कुछ तो हुआ ही नहीं, घोष बाबू ने मुझे यह सार्टिफिकेट अवश्य दिया---हिंदुस्तानी संपादकों में मैंने वक्त के पावंद और कर्तव्य-पालन के विषय में दृढ़प्रतिज्ञ दो ही आदमी देखे हैं, एक तो रामानंद बाबू दूसरे आप। उनकी इस संमति से मैंने अपने को कृतार्थ समझा।

आज से तीन युग पहले पं० वेंकटेशनारायण त्रिपाठी जी ने अपने एक लेख में द्विवेदी जी की तुलना डाक्टर जॉनसन से की थी और लिखा था डाक्टर जॉनसन का नाम यदि अमर है तो केवल इसी कारण कि उनकी प्रतिभा की छाप अँग्रेज़ी साहित्य पर इस तरह से लगी है कि यदि सदियों तक क्रूर काल उसको मिटाने की चेष्टा करेगा तो भी उसे क़ामयावी न होगी। इस तरह से लेखक को इसमें संदेह नहीं है कि द्विवेदी जी की संपूर्ण ग्रंथावली को आज से 100 वर्ष बाद लोग पढ़ेंगे। मैं इस मत से पूर्ण सहमत हूँ, किंतु दुर्भाग्य हिंदी का कि अभी तक कोई बासवेल पैदा नहीं हुआ है।

कुछ समालोचकों का कथन है····कि द्विवेदी जी को अँग्रेज़ी पर अधिकार नहीं था, वह मराठी और बँगला से ही सहायता लेते थे। यह बात कहाँ तक ठीक है इस पर मैंने थोड़ी छान-बीन की है। मैंने 'सरस्वती' की फ़ाइल के पन्ने इसी उद्देश्य से उलटे हैं और देखा है कि पाश्चात्य विद्वानों से उनका संबंध रहा है। उनके समय की 'सरस्वती' में उन विदेशी विद्वानों का परिचय और संस्कृत साहित्य में उनके ठोस कार्यों पर काफ़ी प्रकाश डाला गया है और उनका उदाहरण उपस्थित करते हुए यह बराबर ध्वनि निकलती रही कि एक वे हैं जो हमारी संस्कृति और साहित्य पर इतना मनन करते हैं और यहाँ भारत में हम उदासीन बैठे हैं।

डाक्टर मेकडानल जैसे विद्वानों को फटकारना द्विवेदी जी ही का काम था। मेकडानल का जन्म मुजफ्फरपुर (तिरहुत) में हुआ था। उन्होंने अपना नाम मुग्धानलचार्य रखा था। बेनफी, रोट और मैक्समूलर से उन्होंने वेद की शिक्षा ग्रहण की थी। अपने समय के वह संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान समझे जाते थे। वे भारत आकर संस्कृत के बड़े-बड़े पंडितों से मिले थे। उन्होंने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जुलाई, 1906 के जर्नल में एक लेख प्रकाशित किया था, जिसमें उन्होंने लिखा था कि इस देश के पंडित इस योग्य नहीं, भारतवर्ष के नालायक पंडितों से संस्कृत पढ़ने से विशेष लाभ नहीं। क्योंकि वे लोग गुण-दोष परीक्षापूर्वक संस्कृत पढ़ाना नहीं जानते। ये लोग सूक्ष्मदर्शी नहीं। इसलिए लंडन से ही सिविल सर्विस वालों को वहीं संस्कृत शिक्षा मिलनी चाहिए। उस समय पं० श्रीधर रामकृष्ण भंडारकर बंबई में एल्फिंस्टन कालेज में संस्कृताध्यापक थे। उन्होंने भी उनके लेख का खंडन किया और उसे उसी जर्नल में छापने के लिए भेजा किंतु उनका लेख वहाँ न छप सका। तब उन्होंने खुद उसे पुस्तकाकार छपवा-कर बँटवाया। अँग्रेज और नेटिव का प्रश्न था।

द्विवेदी जी ने सर विलियम्स द्वारा संपादित शकुंतला के अँग्रेज़ी अनुवाद और बूलर साहब के विक्रमांक-देव चरित के संबंध में जो त्रुटियाँ दिखाई हैं उससे उनके प्रकांड पाण्डित्य का परिचय भली-भाँति मिलता है। उन्होंने मुग्धानल की दलीलों का खंडन करते हुए लिखा है, कि बूलर, कीलहार्न, पीटर्सन आदि ने जो बड़ी-बड़ी किताबें लिख डालीं सो इस देश के भोले-भाले स्थूलदर्शी पंडितों की ही कृपा की बदौलत। डाक्टर मेकडानल ने द्विवेदी जी की विद्वत्ता के सामने चुपचाप अपने सिर को नीचा कर लिया होगा, क्योंकि उनकी त्रुटियों पर कलम चलाने वाले डाक्टर भांडारकर और द्विवेदी जी जैसे व्यक्ति भारतवर्ष में जीवित थे। मेकडानल बड़े अभिमानी स्वभाव के थे, इसीलिए लेख के अंत में द्विवेदी जी ने लिखा था कि मेकडानल के गुरु मैक्समूलर ने 14 वर्ष पहले अपनी एक फोटो उनके पास भेजी थी और उनके शिष्य अकड़ स्वभाव के मालूम पड़ते हैं। यह मैक्समूलर साहब जर्मन थे। उन्होंने अपना नाम मोक्षमूलर भट्ट रखा था। वैदिक साहित्य के संबंध में समस्त यूरोप की आँखें उन्होंने खोली थीं। उन्होंने अपनी एक पुस्तक भी भेंट स्वरूप द्विवेदी जी के पास भेजी थी। आज उसी मोक्ष मूलर भट्ट के कारण भारतवर्ष समस्त विश्व में अपने प्राचीन साहित्य के नाम पर गर्व करता है।

अंत में मैं इस महान आत्मा के प्रति इस शती समारोह के अवसर पर नतमस्तक होकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। ●

हिंदी साहित्य संमेलन और आचार्य द्विवेदी

रामप्रताप त्रिपाठी

आचार्य द्विवेदी जी का हिंदी साहित्य संमेलन से कभी घनिष्ठ संपर्क नहीं रहा। बताते हैं कि संमेलन तथा संमेलन की जननी काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तात्कालिक कर्णधारों से उनका कुछ मत-भेद था, जिसके कारण वह संमेलन के कार्यों तथा गतिविधियों में कोई विशेष रुचि नहीं लेते थे। किंतु इन पंक्तियों के लेखक को यह सौभाग्य नहीं मिल सका है कि वह इस जनश्रुति का खंडन या मंडन कर सके क्योंकि उसके साहित्यिक जगत में परिचय-लाभ प्राप्त करने के बहुत पहिले ही द्विवेदी जी का तिरोभाव हो चुका था। संमेलन के कार्यालय में प्राप्त रेकार्डों तथा संमेलन के अपने पुराने सहयोगियों से इस बात का कोई ग्राधार भी नहीं मिलता कि द्विवेदी जी संमेलन से क्यों दूर-दूर रहते थे। संभवतः अपनी वृद्धा-वस्था एवं स्वतंत्र चिंतन प्रणाली के कारण ही उन्होंने संमेलन के आरंभिक कार्यों में तथा उसके कर्णधारों की कार्य-प्रणालियों में गहरी रुचि नहीं ली होगी जिसके कारण उनकी अन्यमनस्कता को ही इस बात का आधार मान लिया गया होगा। मेरे इस अनुमान की पुष्टि स्वयं द्विवेदी जी के भाषण की निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं, जो कानपुर में आयोजित हिंदी साहित्य संमेलन के 13वें अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष के पद से उन्होंने प्रकट की थीं और जिनमें उन्होंने स्वयं ग्रपनी इस स्थिति को प्रकट करने का प्रयास भी किया था। वे कहते हैं—

"मैं एक व्यक्तिगत निवेदन करने के लिए आपकी आज्ञा चाहता हूँ। हिंदी का यह तेरहवाँ संमेलन है। इसके पहले एक को छोड़कर और किसी संमेलन में अभाग्यवश मैं उपस्थित नहीं हो सका। अस्वस्थता के सिवा और कोई इसका कारण नहीं। मैं दूर की यात्रा नहीं कर सकता और बाहर बहुत कम रह सकता हूँ। परंतु मेरे सुनने में आया है कि कुछ लोगों ने मेरी ग्रनुपस्थिति का कुछ और ही कारण कल्पित किया है। वे समझते हैं कि मेरे उपस्थित न होने का कारण, मेरा ईर्ष्या-द्वेष, मेरा मद और मत्सर, मेरा गर्व ग्रौर पाखंड है। अतएव मैं चाहता था कि संमेलन के प्रधान कार्यकर्त्ता मुझे कोई ऐसा काम देते जिससे मुझ पर गुप्त रीति से किए गए इन निर्मूल दोषारोपणों का आप ही आप परिहार हो जाता। मेरी हार्दिक इच्छा थी कि संमेलन में संमिलित होने के लिए समागत सज्जनों की सेवा का काम मुझे दिया जाता, तो मैं आपको अपना इष्टदेव समझकर पाद प्रक्षालन से आरंभ करके आपकी षोडशोपचार पूजा करता। ऐसा करने से मेरा पूर्व निर्दिष्ट दोषारोपजात धब्बा भी धुल जाता। संमेलन के विषय में मेरे भावों का भी पता लग जाता और साथ ही इस जराजीर्ण शरीर से पुण्य का संपादन भी कुछ हो जाता। परंतु इस पवित्र काम से मैं वंचित रखा गया और अनुरक्ति के वशीभूत होने से इस वंचना को भी मैंने अपने सौभाग्य का सूचक ही समझा। तथापि मेरा मन फिर भी नहीं मानता। मैं आप सब की मानसिक

अर्चना करता हूँ। आप लोग भी कृपा करके उसे उसी भाव से ग्रहण कीजिए।"

संमेलन का कार्यालय प्रयाग में ही अपने जन्मकाल के थोड़े ही दिनों बाद से चल रहा है। उसके आदिम सभापति एवं प्रेरणा-स्रोत स्व० महामना मालवीय जी तथा उसके प्राण प्रतिष्ठाता स्व० राजर्षि टंडन जी भी प्रयाग के ही निवासी थे, जहाँ आचार्य द्विवेदी जी की 'सरस्वती' का निवास था । संमेलन का जन्म सन् 1910 ई० में हुआ था। आरंभ में उसका भी कार्य उसी प्रकार चला जैसा किसी भी सार्वजनिक संस्था का उसके जन्मकाल के दो-चार वर्षों के भीतर चलता है। किंतु यह सचमुच बड़े आश्चर्य की बात है कि आचार्य द्विवेदी जी सन् 1923 ई० तक बराबर ही संमेलन से दूर-दूर रहे। कदाचित् इसका एक कारण यह भी रहा होगा क द्विवेदी जी रचनात्मक प्रतिभा तथा कृतित्व के अडिग विश्वासी व्यक्ति थे। प्रचार-प्रसार से दूर रहकर वह राष्ट्र भारती हिंदी के बिखरे हुए स्वरूप को सबल और शक्तिमान बनाकर उसके साहित्य की संवर्धना के हिमायती थे अतः संमेलन के कार्यों तथा प्रवृत्तियों के प्रति, जो सचमुच उन दिनों प्रचार तथा संगठन शक्ति पर ही अवलंबित थी, उपेक्षा बुद्धि रखते रहे होंगे। उनका विश्वास रहा होगा कि हमारे कार्य की दिशा में भेद है अतः जानबूझकर उन्होंने अपने को संमेलन के झमेले से दूर रखा होगा, जो उन दिनों अपने वार्षिक अधिवेशनों की चर्चा, उनमें स्वीकृत दर्जनों प्रस्तावों को कार्यान्वित करने की चिंता तथा उसकी विविध परिषदों के अध्यक्षों के चुनाव में अति व्यस्त रहा करता था।

द्विवेदी जी अपने साहित्यिक पदार्पण के संग आरंभ से ही हिंदी जगत के माने हुए कर्णधार बन गए थे। हिंदी जगत में अपने प्रवेश के साथ ही उन्होंने अपनी कारयित्री प्रतिभा तथा अदम्य संकल्प शक्ति का सुपरिचय दिया था। अतः यह कहना तो उचित नहीं होगा कि जिन दिनों संमेलन का श्रीगणेश हुआ और उसके कार्यों तथा बहुमुखी प्रवृत्तियों का विकास होने लगा, संमेलन के कर्णधारों का ध्यान द्विवेदी जी की ओर न गया होगा। गया अवश्य होगा किंतु संभवतः उनके स्वाभिमानी एवं निराले व्यक्तित्व के कारण वे लोग उनके सहयोग की याचना में संकोच करते रहे होंगे। सन् 1910 में, जब काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से उसके संचालकों ने हिंदी की उन्नति एवं प्रगति के लिए हिंदी प्रेमियों का एक अखिल भारतीय सम्मेलन काशी में बुलाने का सर्वप्रथम आयोजन किया होगा तो उन दिनों भी उनका ध्यान आचार्य द्विवेदी जी की बहुमुखी हिंदी-सेवाओं की ओर अवश्य गया होगा। अवश्य ही इस अधिवेशन म उनसे भाग लेने की प्रार्थना भी की गई होगी।

संमेलन का प्रथम अधिवेशन महामना मालवीय जी की अध्यक्षता में काशी में हुआ था, उसमें द्विवेदी जी ने भाग नहीं लिया था। क्या कारण था, इसे सुस्पष्ट करने के लिए आज बहुत कम लोग बचे हुए है । संभवतः द्विवेदी जी की प्रवासभीरुता अथवा ऐसे सार्वजनिक आयोजनों से बचकर केवल ठोस कार्य करते रहने की उनकी सहज इच्छा ही कारण रही होगी। किंतु जो भी हो, इस तथ्य को स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि द्विवेदी जी आरंभ से ही संमेलन के कार्यक्रमों में विशेष रुचि नहीं लेते थे। और वे अपनी प्रवृत्ति के अनुसार दिनरात हिंदी के वर्तमान संकटों तथा कठिनाइयों को दूर करने के साधनों तथा उपायों की एकमात्र जननी अपनी लेखनी का ही अवलंबन लेकर यथाभिलषित कार्य करते रहते थे। संमेलन के अधिवेशनों तथा समितियों द्वारा हिंदी के प्रचार-प्रसार अथवा प्रस्तावों की नरम या गरम भाषा तथा भाषणों द्वारा हिंदी के उन्नयन तथा विकास के प्रयासों में उनका उतना विश्वास नहीं रहा होगा, जितना संमेलन के कर्णधारों का था।

कानपुर में आयोजित सन् 1923 ई० के उपर्युक्त 13वें हिंदी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में द्विवेदी जी ने स्वागताध्यक्ष का पदभार ग्रहण किया था। बताते है कि इस पदभार को अंगीकार करने की स्वीकृति उन्होंने अपने अनन्य प्रियपात्र स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी के अनुरोध से ही दी थी। द्विवेदी जी उन दिनों कानपुर के ही समीप जूही में रहते थे। अतः यह अत्यंत अनुचित बात होती यदि इस अधिवेशन में उनका सान्निध्य अथवा योगदान न रहा होता। दूसरी बात यह भी थी कि कानपुर के इस अधिवेशन के

सभापति स्व० राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास जी टंडन थे, जो अपनी अदम्य हिंदी निष्ठा एवं तप त्याग के कारण इतने ही दिनों के अपने सत्प्रयासों के द्वारा हिंदी साहित्य संमेलन जैसी प्रचारात्मक संस्था को अखिल भारतीय स्वरूप एवं महत्त्व प्रदान करा चुके थे। संमेलन की बहुमुखी प्रवृत्तियों का विकास उतने ही दिनों में हो चुका था और वह मात्र अधिवेशन बुलाने वाली संस्था नहीं रह गई थी। उसकी परीक्षाओं का अखिल भारतीय प्रचार हो चुका था और उसकी अंगभूत संस्था दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की भी मद्रास में स्थापना हो चुकी थी।

आचार्य द्विवेदी को आरंभ में यह विश्वास भले ही रहा हो कि संमेलन जैसी प्रचारात्मक संस्थाओं से हिंदी का उतना हित नहीं हो सकता जितना उसके स्वरूप को सुदृढ़, सुनिश्चित एवं व्यापक बनाने तथा उसके साहित्य भंडार को उत्तरोत्तर समृद्ध एवं तेजस्वी बनाने से होगा। किंतु उन्होंने बाद में अवश्य ही अनुभव किया होगा कि हिंदी के उन्नयन एवं विकास के कार्यों की यह दिशा भी हृदय से अभिनंदनीय है । अपने स्वागत भाषण में राजर्षि टंडन एवं संमेलन के कार्यों की संक्षिप्त चर्चा करते हुए उन्होंने अपने जो उद्गार प्रकट किए हैं उनमें उनके उच्च मनोभाव की मनोहर झाँकी मिलती है। वे कहते हैं—

"श्री पुरुषोत्तमदास जी टंडन, एम० ए०, एल-एल० बी० इस अधिवेशन के सभापति का आसन ग्रहण करें—एतदर्थ मेरा सहर्ष प्रस्ताव है। आपकी आत्मा बड़ी उच्च है। आप प्रांत के ही नहीं देश भर के मान्य हैं। आपको मातृभाषा की बड़ी ममता है और संमेलन के जन्म से सदैव आप इसके कर्णधार रहे हैं। यदि आपका नेतृत्व न मिला होता तो संमेलन यह सब काम जो उसने इस अल्पकाल में किया है, न कर सकता। टंडन जी के आत्मोत्सर्ग का हम अभिमान है। आपकी दिव्यता, सहिष्णुता, सहृदयता और हिंदुस्तान की सेवा का हमें अभिमान है। आपका साहित्य प्रेम बड़ी उच्च कोटि का है। हमारी आशा है ऐसे योग्य व्यक्ति को सभापति के आसन पर पाकर यह संमेलन कृतकृत्य होगा।"

प्रकृत्या अतीव मितभाषी एवं लेखन में भी विशेषता-विहीन तथ्यपूर्ण भाषा के प्रयोक्ता आचार्य द्विवेदी का टंडन जी एवं संमेलन के प्रति यह मार्मिक उद्गार प्रकट करता है कि उनके हृदय में संमेलन और उसके प्राण प्रतिष्ठाता स्व० राजर्षि टंडन जी के प्रति कितना गहरा एवं उच्च प्रभाव था। और यह भी कि वह संमेलन की महिमा एवं इतने दिनों के कार्य-परिणामों से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं थे।

संमेलन के कर्णधारों को संमेलन के प्रति द्विवेदी जी की उपेक्षा भावना का पता न रहा होगा—यह बात भी नहीं थी। वे लोग यह जानते और मानते थे कि संमेलन के संग उनकी उतनी सहानुभूति नहीं है जितनी होनी चाहिए। बताते हैं, कई बार उन्हें संमेलन के वार्षिक अधिवेशनों का सभापति निर्वाचित करने का निष्फल प्रयास भी किया गया था किंतु द्विवेदी जी तैयार नहीं हुए। यह भी कारण हो सकता है कि जब प्रयास किया गया तब तक विलंब हो चुका था, क्योंकि द्विवेदी जी जैसे सर्वमान्य आचार्य को कब और किस अधिवेशन में सभापति बनाना चाहिए था, इसका भी निर्णय बहुत सतर्कता से यथासमय ही करना चाहिए था। संभवतः महामना मालवीय जी उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, पं० गोविंदनारायण मिश्र जैसे वयोज्येष्ठ महानुभावों के बाद आचार्य द्विवेदी जी ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें संमेलन का सभापति बनाया जाना चाहिए था। वैसे उनकी बहुमुखी हिंदी सेवा इन महानुभावों से भी अग्रगणनीय थी, क्योंकि वह केवल रचनाकार ही नहीं थे, एक युगनिर्माता थे और अपनी साधना एवं प्रतिभा के पुण्य जल से अनेक नए विरवों का सिंचन करके उन्होंने हिंदी साहित्य की वाटिका में उन्हें पल्लवित-पुष्पित एवं फलवान भी बना दिया था। कदाचित यह स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होगी कि यदि आचार्य द्विवेदी का वरद सहयोग न मिला होता तो हिंदी साहित्योद्यान के आज के अनेक समृद्धिमान वृक्षों का कहीं कोई पता भी न होता और आज की अनेक नूतन प्रतिभाओं की भाँति वे भी पथ-प्रदर्शन, प्रेरणा एवं सक्रिय सहयोग के अभाव में अकाल ही मुरझा गए होते। आज हिंदी जगत् में ऐसा कौन नायक अथवा संपादक है, जो द्विवेदी जी की भाँति अनगढ़ पाषाण खंडों में कलात्मक मूर्तियों का निर्माण करता है और

कुम्हलाए हुए नव अंकुरों में अपना प्रेरणामय पीयूष डालकर उन्हें उन्नत और हराभरा बनाता है। आज तो ऐसे बिरले संपादक हैं, जिन्हें अपने से अपरिचित अथवा उदीयमान लेखकों की रचनाओं का शीर्षक पढ़ने की भी सुविधा एवं सहृदयता प्राप्त है। अस्तु ।

द्विवेदी जी की हिंदी-निष्ठा की यहाँ क्या चर्चा की जाए। अति संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि हिंदी उनकी जीवनव्यापिनी––साधना और साध्य––दोनों ही थी। उनकी उद्दाम हिंदी आराधना का तीस-पैंतीस वर्षों तक हिंदी-जगत् पर एक समान अप्रतिम प्रभाव रहा। इतनी दीर्घावधि तक किसी भी भाषा के साहित्य पर किसी एक साहित्यकार या संपादक का प्रभाव कहीं भी देखने और सुनने को भी नहीं मिला। उनकी निष्कलुष एवं अविराम हिंदी सेवा का ही यह सुपरिणाम था कि उन्हें हम एक युगनिर्माता के रूप में सदा-सदा के लिए सादर याद करेंगे और हमारी भावी पीढ़ियाँ भी द्विवेदी युग और उसके प्रभाव के संबंध में वही धारणा व्यक्त करेंगी जो आज हमारी है। आज के भारतीय जनमानस में आधुनिक हिंदी की गंगा को प्रवाहित करने में उन्होंने जो कुछ किया है, वह पौराणिक पुरुष भगीरथ के प्रयत्नों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वे जब तक जिए, हिंदी के लिए ही जिए। हिंदी उनके प्राणों में रम गई थी। संमेलन के उक्त कानपुर अधिवेशन के अपने स्वागत भाषण के अंत में उन्होंने जो कुछ कहा है वह उनके अनुपम हिंदी-प्रेम की एक अतीव प्रेरणाप्रद सूक्ति है। वे कहते :–

"अब आप मुझे अपनी व्यक्तिगत अंतिम प्रार्थना के लिए क्षमा करें। इस वक्तव्य (स्वागत भाषण) के आरंभ में आपकी मानसिक पूजा कर चुका हूँ। पूजांत में साधक अपने इष्टदेव से कुछ माँगता भी है––वह अपनी अभिलषित वांछा की पूर्ति के लिए कुछ प्रार्थना भी करता है। पूजा के इस अंग का उल्लेख करना मैं यहाँ भूल गया हूँ। उस भूल की मार्जना कर डालने की अनुमति, अब मैं अंत में आपसे चाहता हूँ ।

मुझ अपुण्यकर्मा ने अपनी आयु के कोई 60 वर्ष अधिकतर, तिल, तंडुल, लवण और ईंधन की चिंता ही में बिता दिए। अपनी मातृभाषा हिंदी की उन्नति के लिए जो-जो काम करने का संकल्प मैंने किया था, वे सब मैं नहीं कर सकता। यह जन्म तो मेरा अब गया। आप उदारता और दयालुतापूर्वक मेरे लिए परमात्मा से अब यह प्रार्थना कर दीजिए कि जन्मांतर में ही वह किसी तरह वे काम कर सकने का सामर्थ्य मुझे दे। वह मुझ पर ऐसी कृपा करे कि मेरे हृदय में मातृभाषा का आदर सदा बना ही न रहे वह बढ़ता भी रहे और जिस भाषा में मेरी माँ ने मुझे अम्मा और बप्पा कहना सिखाया था उसी में हरि-हरि स्मरण करते हुए

प्राणाः प्रयांतु ममनाथ तव प्रसादात् ।"

जीवन भर अपनी उत्कट साधना में लगे हुए सच्चे एवं लोक संग्रही साधक की यह भावभूमि कितनी स्वाभाविक, प्रेरक और मार्मिक है––इसका अनुभव हमारे पाठक भी सहज ही कर सकते हैं और यह अनुमान भी लगा सकते हैं कि स्व० आचार्य द्विवेदी जी की हिंदी साधना का स्तर कितना ऊँचा था। वह अपनी आराध्या हिंदी के लिए अपना एक जन्म ही नहीं, जन्मांतर समर्पित कर चुके थे। सचमुच हिंदी धन्य है, जिसे परतंत्रता के उस कठोर युग में भी द्विवेदी जी के समान सच्चे साधक मिले। हमारी तो प्रभु से प्रार्थना है कि वह हिंदी के ऐसे सुपुत्रों को पुनः वापस करे, जो आज स्वतंत्रता के युग में राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर समासीन होने के बाद भी पदे-पदे अवमानित हिंदी के लिए अपने संपूर्ण जीवन की साधनानिधि को समर्पित कर सकें। हिंदी को आज भी ऐसे महावीरों और पुरुषोत्तमों की आवश्यकता है, जो उसके कंटकाकीर्ण पथ को विघ्न-बाधा विहीन बनाने में अपने सर्वस्व का सर्वात्मना उत्सर्ग कर सकें।●

आचार्य द्विवेदी जी घर में

रामस्वरूप दुबे

साहित्यकारों के ज्ञान और रचना शैली का परिचय उनके प्रकाशित ग्रंथों से सहज ही मिल जाता है और प्रायः साहित्यकार के इसी पक्ष की ओर ध्यान भी अधिक दिया जाता है। साहित्यकार का अपना जीवन भी कुछ है और उसकी वैयक्तिक मान्यताओं अथवा परिस्थितियों का भी कोई महत्व है, इस बात को दृष्टि में रखकर यदि उसकी रचनाओं का अध्ययन किया जाए तो अध्ययन एकांगी होने के दोष से निश्चय ही बच जाए। वास्तविकता यह है कि पूर्ण अध्ययन के लिए अभिव्यक्ति के साथ-साथ अनुभूति अथवा स्रोतस्थल का परिचय प्राप्त करने का भी प्रयत्न होना चाहिए।

साहित्यकार की रचनाओं का सृजन किन परिस्थितियों में हुआ इसका ज्ञान रचयिता के निकट संपर्क से, उसके संबंध में निकटस्थ व्यक्ति से हुई वार्ता के द्वारा अथवा रचयिता की आत्मकथा के अध्ययन से होता है। वैयक्तिक पत्रों में भी इससे संबंधित सामग्री प्रायः मिल जाती है। सौभाग्य से आचार्य द्विवेदी जी की आत्मकथा उपलब्ध है और साथ ही उनके कुछ पत्र भी। उनके पत्रों का एक अच्छा संकलन श्री बैजनाथसिंह विनोद ने किया है। संपादकाचार्य श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी समय-समय पर उनके कुछ पत्र उद्धृत किए हैं।

द्विवेदी जी ने अनेक मौलिक तथा अनूदित ग्रंथ हिंदी जगत को दिए और अनेक कवि तथा लेखकों का निर्माण किया, पथ-निर्देश किया, शुद्ध लिखना सिखलाया किंतु स्वयं उनका जीवन आर्थिक अभाव और संघर्ष का जीता जागता उदाहरण था। दौलतपुर के इस ब्राह्मण का प्रारंभिक जीवन कितना कष्टमय था। आत्मकथा में उन्होंने लिखा है—"मैं एक देहाती का एकमात्र आत्मज हूँ, जिसका मासिक वेतन सिर्फ़ दस रुपया था। अपने गांव के देहाती मदरसे में थोड़ी-सी उर्दू और घर पर थोड़ी-सी संस्कृत पढ़कर तेरह वर्ष

की उम्र में 36 मील दूर, रायबरेली के ज़िला स्कूल में अँग्रेज़ी पढ़ने गया। आटा-दाल घर से पीट पर लादकर ले जाता, दो आने महीना फीस देता था। दाल ही में आटे के पेड़े या टिकियाएँ पका पेट पूजा करता था। रोटी बनाना तक मुझे आता ही न था। संस्कृत भाषा उस समय उस स्कूल में वैसी ही अछूत समझी गई थी, जैसे कि मद्रास में नंबूदरी ब्राह्मणों में वहाँ की शूद्र जाति समझी जाती है। विवश होकर अँग्रेज़ी के साथ फ़ारसी पढ़ता था। एक वर्ष किसी तरह वहाँ काटा। फिर पुरवा फतेहपुर और उन्नाव के स्कलों में चार वर्ष काटे। कौटुंबिक दुरावस्था के कारण मैं उससे आगे न बढ़ सका। मेरी स्कूली शिक्षा की वहीं समाप्ति हो गई।"

द्विवेदी जी को भरण पोषण के लिए नौकरी ही करनी थी। एक साल अजमेर में एक रु० महीने पर नौकरी करके पिता के पास वापस पहुँचा और तार का काम सीखकर जी० आई० पी० रेलवे में 20 रुपए महीने पर तार बाबू बना। नए-नए काम सीखते रहकर, 21 वर्ष तक नौकरी करके वे 200 रुपया माहवार पाने भी लगे किंतु उनके द्वारा किसी दूसरे पर अत्याचार हो, यह उन्हें स्वीकार न था। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने इस्तीफ़ा दे दिया और 23 रुपया मासिक मात्र पर 'सरस्वती' मासिक के संपादक का कार्य स्वीकार कर लिया। इस संबंध में द्विवेदी जी ने जो कुछ भी लिखा उससे उनकी त्याग भावना एवं न्यायनिष्ठा और पत्नी की दृढ़ता का अच्छा परिचय मिलता है—"मैं यदि किसी के अत्याचार को सह लूँगा, तो उससे मेरी सहनशीलता तो अवश्य सूचित होती है पर उससे मुझे औरों पर अत्याचार करने का अधिकार नहीं हो जाता है। परंतु कुछ समयोत्तर बानक कुछ ऐसा बना कि मेरे प्रभु ने मेरे द्वारा औरों पर भी अत्याचार कराना चाहा। हुक्म हुआ कि इतने कर्मचारियों को लेकर रोज सुबह आठ बजे दफ़्तर में आया करो और ठीक दस बजे मेरे कागज़ मेरी मेज पर मुझे रक्खे मिलें। मैंने कहा कि मैं आऊँगा पर औरों को आने के लिए लाचार न करूँगा। उन्हें हुक्म देना हुजूर का काम है। बस बात बढ़ी और बिना किसी सोच-विचार के मैंने इस्तीफ़ा दे दिया। बाद को उसे वापस लेने के लिए इशारे ही नहीं, सिफारिशें तक की गईं। पर सब व्यर्थ हुआ। क्या इस्तीफ़ा वापिस लेना चाहिए, यह पूछने पर मेरी पत्नी ने विषण्ण होकर कहा—क्या थूककर भी कोई उसे चाटता है? मैं बोला—नहीं, ऐसा कभी न होगा, तुम धन्य हो। तब उसने तो आठ आना रोज़ तक की आमदनी से भी मुझे खिलाने-पिलाने और गृह कार्य चलाने का संकल्प प्रकट किया और मैंने सरस्वती की सेवा से मुझे हर महीने जो 20 रु० उजरत और 3 रु० डाक खर्च की आमदनी आती थी, उसी से संतुष्ट रहने का निश्चय किया। मैंने सोचा—किसी समय तो मुझे महीने में 15 रु० ही मिलते थे, 23 रुपए तो उसके ड्योढ़े से भी अधिक हैं। इतनी आमदनी मुझ देहाती के लिए कम नहीं।"

थोड़े में भी काम चला लेने में वे अपने प्रारंभिक जीवन में ही अभ्यस्त हो चुके थे। उनकी मितव्ययिता आदर्श थी। इस संबंध में द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ में श्री यज्ञदत्त शुक्ल ने लिखा है—एक बार उन्होंने मुझे खासी डांट बतलाई। द्विवेदी जी को मेरी फिज़ूल खर्ची का पता लग गया तो उन्होंने कहा—मैं तो अपने तेईस रुपए मासिक में से चार रुपए प्रतिमास बचा लेता हूँ और जनाब आप पौने दो सौ रुपए में से भी एक पैसा नहीं बचा पाते। आखिर हमें बतलाइए तो, कि आप किस चीज़ में ये पैसे उड़ा देते हैं। द्विवेदी जी की मान्यता थी—

"इदमेव हि पाण्डित्यामियमेव विदग्धता।
अयमेव परो धर्मो यदायान्नाधिको व्ययः॥

अर्थात्—आमदनी से खर्च ज्यादा न करने में ही पंडिताई, चतुराई और धर्मात्मापन है।

किंतु, इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि द्विवेदी जी कृपण थे। प्रत्युत वे इतने उदार हृदय थे कि उन्होंने अपनी गाढ़ी कमाई का अधिकांश भाग हिंदू विश्वविद्यालय को छात्रवृत्तियों के लिए अर्पित कर दिया था। इसके अतिरिक्त अपना समस्त पुस्तक संग्रह और एक हज़ार रुपया नक़द नागरी प्रचारिणी

सभा, काशी को दिया; रिश्ते की तीन भांजियों के विवाह और गौने तो किए ही, ग़ैरों की दो लड़कियाँ व्याहीं; गाँव की कई निर्धन लड़कियों के विवाह में सहायता की; कई विधवाओं का पालन किया और उन्हे वृत्तियाँ दीं; कूप-निर्माण कराया और कुटुंब की अंतिम स्त्री की मृत्यु हो जाने पर अंत्येष्टि-कर्म में व्यय के साथ दीन-दुखियों में एक हज़ार रुपए का वितरण भी किया।

श्रेष्ठ मनुष्य में जहाँ अनेक गुण होते हैं, वहाँ कभी-कभी कोई दुर्बलता भी उसे आ घेरती है। कुछ मित्रों के परामर्श के चक्कर में पड़कर विशेष माँग वाली और टके सीधे करने वाली कुछ सरस पुस्तकें तैयार करने का निश्चय द्विवेदी जी ने कर डाला। इस प्रकार की पहली पुस्तक जो उन्होंने लिखी उसका नाम था "तरुणोपदेश"। मित्रों को जब उसमें पर्याप्त सरसता न मिली तो उन्होंने दूसरी पुस्तक लिखी 'सोहागरात'। मित्रों ने यह पुस्तक विशेष सरस पाई और द्विवेदी जी की पीठ भी खूब ठोंकी। द्विवेदी जी को प्रतीत हुआ कि बिक्री से उनके घर धन की वृष्टि होने लगेगी। किंतु अश्लील पुस्तकों के रचयिता होने के कलंक से भी उन्हें अपनी पत्नी के विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण ही बचना था। उन्होंने ये दोनों पुस्तकें अपनी पत्नी से छिपकर लिखी थीं। एक दिन पत्नी ने वे पुस्तकें देख लीं। "देखा ही नहीं, उलट-पलटकर उसने उन्हें पढ़ा भी। फिर क्या था, उसके शरीर में कराल काली का आवेश हो आया। उसने मुझ पर वचन-विन्यास-रूपी इतने कड़े कशाघात किए कि मैं तिलमिला उठा। उसने उन दोनों पुस्तकों की कापियों को आजन्म कारावास या कालेपानी की सज़ा दे दी। वे उसके संदूक में बंद हो गईं। उसके मरने पर ही उसका छुटकारा उस दयामुलहव्स से हुआ। छूटने पर मैंने एकांत-सेवन की आज्ञा दे दी है, क्योंकि सती की आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति मुझ में नहीं।" इस प्रकार द्विवेदी जी की पत्नी ने उन्हें "साहित्य के उस पंक-पयोधि" में डूबने से बचा लिया।

द्विवेदी जी यदि चाहते तो साधारण पुरुषों के समान लोभ में अंधे बने रहकर गृह-कलह को जन्म देते, मारपीट करते और पुस्तकें बलात् लेकर प्रकाशित करा देते। किंतु उन्होंने पत्नी के जीवन में ही नहीं, उसकी मृत्यु के पश्चात् भी कोई काम ऐसा नहीं किया जो पत्नी की इच्छा के विरुद्ध हो। पत्नी की बात को वे विशेष महत्त्व देते थे और यही कारण था कि अल्प आय और संघर्षमय जीवन के दिनों में भी उन्हें घरेलू शाँति का पूर्ण लाभ सदैव प्राप्त होता रहा। उनका सद्व्यवहार पत्नी के प्रति ही न था वरन् नारी-मात्र के प्रति उन्हें विशेष सहानुभूति थी। कवींद्र रवींद्र के लेख 'काव्येर उपेक्षिता' (काव्य की उपेक्षिताएँ) ने उनकी इस सहानुभूति की भावना को और अधिक प्रोत्साहित किया। परिणाम यह हुआ कि सन् 1908 में 'सरस्वती' के जुलाई अंक में भुजंग भूषण भट्टाचार्य छद्म नाम से 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' लेख लिख डाला। इस लेख का ही यह प्रभाव था कि मैथिलीशरण जी गुप्त और बालकृष्ण शर्मा नवीन ने साकेत तथा उर्मिला शीर्षक प्रबंध काव्य लिखकर उपेक्षिता उर्मिला के चरित्र को विशेष रूप से उभारा। इतना ही नहीं आगे चलकर गुप्त जी, बलदेवप्रसाद मिश्र, सोहनलाल द्विवेदी आदि कवियों ने यशोधरा, मांडवी, तिष्यरक्षिता जैसे अन्य अनेक नारी पात्र लेकर उनकी भावनाओं का चित्रण सहानुभूतिपूर्वक किया। एक प्रेरणा का प्रभाव कितना व्यापक हो सकता है, यह उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है।

• • •
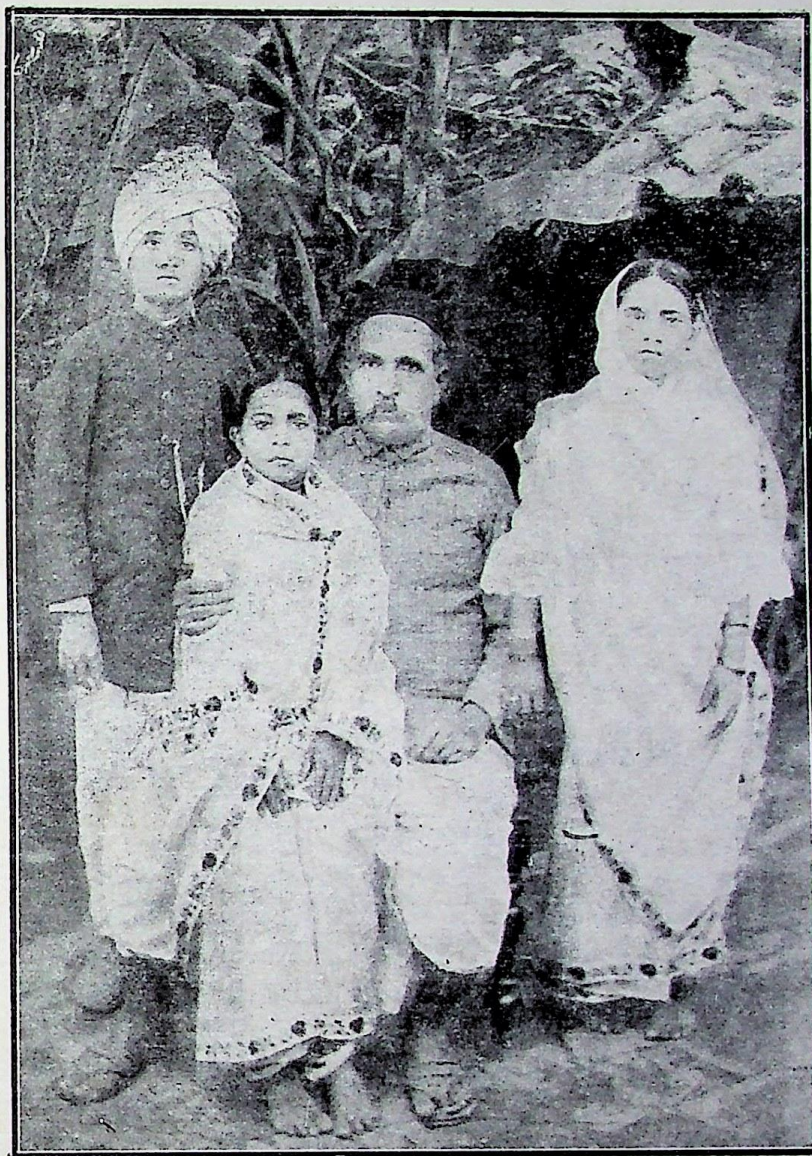
बाईं ओर से— (खड़े) द्विवेदीजी के भानजे श्री कमलाकिशोर त्रिपाठी, (बीच में कुर्सी पर बैठे) आ० द्विवेदीजी (गोद में उनकी छोटी भानजी कुमारी विद्यावती), (किनारे खड़ी) द्विवेदीजी की बड़ी भानजी कुमारी कमलावती (स्वर्गीया) संवत 1974—(सन् 1917)

पीछे की पंक्ति में खड़े (बाईं ओर से) द्विवेदी जी की भानजी श्रीमती विद्यावती देवी, द्विवेदी जी के भानजे श्री कमलाकिशोर त्रिपाठी, श्री कमलाकिशोर जी की पत्नी श्रीमती राधा देवी ।

बीच की पंक्ति में कुर्सी पर बैठे (बाईं ओर से) द्विवेदी जी की चचेरी बहन लक्ष्मीदेवी, (उम्र 90 वर्ष), आचार्य द्विवेदीजी, उनकी गोद में श्रीमती विद्यावती का पुत्र इंद्रदत्त (उम्र सात मास) लक्ष्मी देवी की निवासी (लड़की की लड़की) दुलारी देवी ।

नीचे की पंक्ति में, बैठे हुए (बाईं ओर से) श्री कमलाकिशोर जी के साले की लड़की रानी देवी, श्रीमती विद्यावती देवीका लड़का रुद्रदत्त, श्री कमलाकिशोर जी की लड़की मनोरमा ।

वत्सल पिता

कुंतल गोयल

"संपादक, विद्वान्, आचार्य द्विवेदी को सारा संसार जानता है परंतु सहृदय, वत्सल पिता को कितने लोग जानते हैं। निश्चय ही संपादक द्विवेदी से पिता द्विवेदी अधिक महान था।" हरिभाऊ उपाध्याय के शब्दों में द्विवेदी जी का यह परिचय अधिक ठीक है। द्विवेदी जी ने अपने सत् उद्योग, लगन और उत्साह से भाषा का भंडार जितना समृद्ध किया था उनका अपना जीवन-भंडार उतना ही वेदना, अशांति, संघर्षों और अभावों से परिपूर्ण था। साहित्य के इस महापंडित पर सरस्वती की जितनी कृपा थी, लक्ष्मी की उतनी ही क्रूर दृष्टि थी। तेरह वर्ष के इस सुकुमार बालक को शिक्षा प्राप्ति के लिए अत्यंत कठोर तप करना पड़ा था तभी उनकी साधना सफल हो सकी थी। बचपन का समय उनके कष्टों का समय था। किशोरावस्था में अपने परिश्रम से ही उन्होंने विविध भाषाओं का ज्ञान अर्जित किया। फिर जीवनयापन की कठिनाइयों को हल करने के लिए उन्हें नौकरी में लग जाना पड़ा पर मन न लगने से उन्हें दूसरी नौकरी के द्वार देखने पड़े। रेलवे में सिग्नलर से लेकर तार बाबू, टिकट बाबू, स्टेशन मास्टर, टेलीग्राफ़ इंस्पेक्टर तथा रेट्स के प्रधान निरीक्षक तक वे रहे। पर किसी भी नौकरी में वे अपनी रुचि का सामंजस्य नहीं कर सके। यह तो हिंदी का ही सौभाग्य था कि उनकी अशांति और असंतोष ने सरस्वती की अर्चना कार्य में तृप्ति पाई और आजीवन वे सरस्वती माता की सेवा में तल्लीन रहे।

बाह्य जगत में द्विवेदी जी जितने कठोर थे अपने अंतर्जगत में वे उतने ही भावप्रवण, कोमल और स्नेहिल थे। उनका विवाह किशोरावस्था में हुआ था। पत्नी को उन्होंने सच्चे अर्थों में जीवन संगिनी,

सहधर्मिणी माना। पत्नी के प्रति अटूट स्नेह था उनके हृदय में। उनकी सलाह का वे आदर करते थे, पत्नी प्रेम का एक प्रसंग अत्यंत मनोरंजक है :

द्विवेदी जी की स्त्री की एक सखी ने कहा कि द्वार पर पूर्वजों द्वारा स्थापित महावीरजी की मूर्ति पड़ी है उसके लिए पक्का चबूतरा बन जाता तो अच्छा होता। चबूतरा बनवाकर उनकी स्त्री ने महावीर शब्द की श्लिष्टता का उपयोग करते हुए कहा कि तुम्हारा चबूतरा मैंने बनवा दिया। सहृदय और प्रत्युत्पन्नमति द्विवेदी जी ने तत्काल उत्तर दिया ––तुमने हमारा चबूतरा बनवा दिया है। मैं तुम्हारा मंदिर बनवाऊँगा। हास्य की इस वाणी ने आगे चल कर यथार्थ का रूप धारण किया।

आचाय द्विवेदी की पत्नी

संयोग ही समझिए गंगा स्नान करते समय एकाएक वे जलमग्न हो गईं। द्विवेदी जी को पत्नी के इस आकस्मिक वियोग से दारुण दुःख हुआ और उन्होंने अपने पावन प्रेम का स्मारक स्मृति-मंदिर बनवाया। सरस्वती और लक्ष्मी की दो मूर्तियाँ जयपुर से मँगवाई गईं और लगभग एक सहस्र रुपया लगाकर एक शिल्पी के द्वारा पत्नी की एक सुंदर मूर्ति बनवाई। स्मृति-मंदिर में सरस्वती और लक्ष्मी की मर्तियों के मध्य पत्नी की मूर्ति स्थापित की गई। द्विवेदी जी के इस कार्य की लोगों ने खूब निंदा की, उन पर फब्तियाँ कसीं, उपहास किया, गालियाँ तक दीं पर इसका उन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे तो सच्चे एकनिष्ठ पत्नी-प्रेमी थे। पत्नी का विछोह उन्हें जीवन भर सालता रहा पर उन्होंने उसे कभी प्रगट नहीं किया। पारिवारिक सुख के इस अभाव के कारण अपने कुटुंबियों को उन्होंने बड़ी आत्मीयता से अपनाया और सब के सुख के लिए वे सदैव सहयोगी रहे।

अपने जीवन-काल में वे गाँवों में भी बहुत रहे। ग्रामीण जनों के लिए उनके हृदय में असीम स्नेह था। उनके हितों का उन्होंने सदैव ध्यान रखा। गाँव की उन्नति से ही देश की उन्नति संभव है, इसे ध्यान में रखके गाँव में उन्होंने अस्पताल, डाकखाना बनवाया, आमों के बगीचे लगवाए और ग्रामीणों को शिक्षित बनाने का उद्देश्य सम्मुख रखा।

धन का लोभ उन्हें कभी नहीं हुआ। अनौचित्य और अन्याय के लिए भी उनके पास स्थान नहीं था। निष्कपट और निरभिमान द्विवेदी जी अशिष्ट, कृत्रिम और स्वार्थी, दम्भी, मिथ्या प्रशंसा के घोर विरोधी थे। इन सब के लिए वे बड़े कठोर थे। वे कभी किसी के सामने नहीं झुके, अपने आदर्शों की अवहेलना उन्हें असह्य थी और इसके लिए कभी-कभी उन्हें बड़ी कठिनाई का सामना भी करना पड़ा है।

वे अनुशासन प्रिय थे। प्रत्येक कार्य को व्यवस्थित देखने के आकांक्षी थे। इसका प्रमाण निम्न प्रसंग से आसानी से मिलता है—वे सदैव अपने कमरे को स्वयं साफ़ किया करते थे। अपनी पुस्तकों, अपनी प्रत्येक वस्तुओं को वे व्यवस्थित, स्वच्छ तथा निश्चित स्थान पर रखते थे। एक बार अपनी पत्नी को थाली में रखे पदार्थों का नियमित क्रम भंग करने पर आक्षेप किया था। अपनी पुस्तकों का वे इतना ध्यान रखते थे कि एक बार कौशिक जी को रवींद्रनाथ की गल्पों का संग्रह देते हुए उन्होंने कहा था––

"इतना ध्यान रखिएगा कि न तो पुस्तकों में कहीं कलम या पेंसिल का निशान लगाइएगा, न स्याही के धब्बे पड़ने दीजिएगा और न पृष्ठ मोड़िएगा।"

उन्होंने जो कुछ किया बड़ी निष्ठापूर्वक किया। उन्हें न कभी पद और प्रतिष्ठा का मोह हुआ और न कभी कीर्ति का लोभ। निंदा और प्रशंसा की भी उन्होंने कभी परवाह नहीं की। वे शांति और सुख दूसरों के सुख और सेवा में पाते थे। उन्होंने लिखा है—'जब बदालु चमार की जूड़ी उतर जाती है तब मैं समझता हूँ मुझे कैसरे हिंद का तगमा मिल गया'। गरीबों के प्रति इतना स्नेह और किसे होगा ?

जीवन भर उन्होंने कष्ट सहा इसीलिए दूसरों के कष्टों को भी वे समझ सके। विषम परिस्थितियों में उन्होंने कभी अपने दृढ़ संकल्प, अध्यवसाय और विश्वास को कुंठित नहीं होने दिया और गरीबी की इस संतान ने साहित्य संसार की बागडोर अपने सुदृढ़ हाथों में थाम बड़ी शान से शासन किया। साहित्य जगत की आँधियाँ, आपत्तियाँ और प्रखर आलोचना उन्हें कभी अपने मार्ग से विचलित न कर सकीं।

द्विवेदी जी की साहित्यिक कठोरता को ध्यान में रखने वाले भाषा के प्रति उनके अनन्य प्रेम को कम ही जानते हैं। अपनी मातृभाषा हिंदी के प्रति वे तन-मन-धन से निछावर थे। अपनी मातृभाषा के प्रति लोगों की उदासीनता सहने के लिए वे कदापि तयार नहीं थे। ऐसे व्यक्तियों पर उनके व्यंग-वाण बड़ी कठोरता से चले हैं—

"समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जाति द्रोही है किंबहुना वह आत्म द्रोही और आत्महंता भी है।" अपनी भाषा की उपेक्षाकर दूसरी भाषा को अपनाने वालों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा है—

"अपनी माँ को निस्सहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़ कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा सुश्रूषा में रत रहता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए। इसका निर्णय कोई मनु, याग्वल्क्य या आपस्तंब ही कर सकता है।"

अपनी भाषा, अपने देश, अपने समाज, अपनी जाति का ऐसा हितैषी, कर्तव्यनिष्ठ अनन्य उपासक और सच्चा सुधारक महामानव और कौन होगा!

जीवन की साँध्य-बेला में !

अमरबहादुर सिंह 'अमरेश'

"आप अपना जीवन चरित्र क्यों नहीं लिखते ?"

आचार्य द्विवेदी जी ने उक्त प्रश्न सुनते ही शीश ऊपर उठाया। व्यथा से उनका संपूर्ण शरीर तड़प रहा था। फिर भी मुख-मंडल पर वही आभा और वही स्वाभिमान विद्यमान था जो यौवन के दिनों में था। प्रश्न ने द्विवेदी जी को झकझोर-सा दिया था। उन्होंने करवट बदल कर प्रश्न-कर्ता की ओर देखा। श्री यज्ञदत्त जी का हृदय डोल उठा। उन्होंने अपनी निगाहें झुका लीं। वे द्विवेदी जी से आँख न मिला सके। द्विवेदी जी यथावत् कुछ देर तक श्री यज्ञदत्त जी को देखते रहे फिर गंभीर मुद्रा में बोले—"मेरी जीवनी में क्या रखा है ?"

उस समय द्विवेदी जी अत्यधिक बीमार थे। काल का कराल-चक्र चल रहा था। मृत्यु धीरे-धीरे अपना काला-आँचल फैलाती हुई बढ़ी आ रही थी। हिंदी-साहित्य का महारथी शीघ्र ही उसकी गोद में जाने वाला था। आगत आशंकाओं से ही भयभीत होकर श्री यज्ञदत्त जी ने द्विवेदी जी से उक्त प्रश्न करने का दुस्साहस किया था। वे यह बात जानते थे कि आचार्य जी अपना जीवन-चरित्र स्वयं तो लिखेंगे नहीं, फिर भी यदि किसी प्रकार राजी हो जाएँ और चारपाई पर पड़े ही पड़े बोलते चलें तो वह उनकी आत्म-कथा लिख डालें। यह कार्य यदि अभी न हो सका तो कभी भी न हो पाएगा। जीवन भर इसका अभाव खटकता रहेगा। अभी अवसर है। यही सोच कर उन्होंने पुनः प्रश्न किया :

"यदि आप न लिखें तो मुझे ही बतलाते जाएँ, मैं लिखता जाऊँ।"

"क्यों ? "द्विवेदी जी ने पुनः प्रश्न किया। जब तक श्री यज्ञदत्त जी कुछ उत्तर दें कि उन्होंने स्वयं पूछा—"क्या मरने के बाद लोग किसी की जीवनी नहीं लिखते ?"

इस प्रश्न से श्री यज्ञदत्त जी निरुत्तर हो गए। किंतु वह हार मानने वाले भी नहीं थे। उन्होंने कहा—"मैं आपकी जीवनी स्वयं लिखना चाहता हूँ, मुझे सामग्री दीजिए।"

आचार्य जी इतना सुनते ही बरस पड़े—"तुमने कभी कोई छोटी-मोटी पुस्तक भी लिखी है ? जीवनी क्या लिखोगे ? बीछी का मंत्र न जाने, साँप के बिल में हाथ घुसेड़े।"

आज ऐसा लगता है कि द्विवेदी जी की आत्मकथा वास्तव में साँप का बिल ही था। उसी बिल में हमारे 'भुजंग भूषण' का निवास था। उस बिल की गहराई का पता ही नहीं चलता और साधारण आदमी का यह काम भी नहीं है कि उसका पता लगाकर उनकी आत्मकथा लिख सके। इस घटना के थोड़े दिनों बाद ही द्विवेदी जी पुनः बीमार पड़े। इधर कई वर्षों से उनका स्वास्थ्य खराब चल रहा था । कुछ तो जीवन की चिंताएँ और कुछ साहित्यिकों का प्रहार, दोनों ने मिल कर उन्हें जर्जर कर डाला था। अनेक बार वह मृत्यु के मुँह से निकल चुके थे। किंतु अब शरीर काफ़ी जर्जर हो गया था। लौकी की तरकारी, दलिया और थोड़ा-सा दूध ही उनका भोजन था। दवाइयों पर उन्हें बहुत ही कम विश्वास था। प्राकृतिक-चिकित्सा से ही वे जीवन की छोटी-मोटी बीमारियों को दूर करने के अभ्यासी थे। समय की पाबंदी, स्वल्पाहार एवं प्राकृतिक-चिकित्सा ने ही उन्हें इतना जीवन प्रदान किया था। बुढ़ापे में ज्यों-ज्यों उनका स्वास्थ्य गिरता गया, स्मरण शक्ति भी क्षीण होती गई। ऐसी स्थिति में भी वे लिखने-पढ़ने तथा अन्य कार्य करने में आलस्य न दिखाते थे।

अक्तूबर सन् 1938 में उनकी बीमारी अत्यधिक बढ़ गई। दिन में तीन-चार बार शौच के लिए जाया करते थे। जलोदर भी हो गया था । साथ-ही-साथ सूखी खुजली भी । खुजली धीरे-धीरे इतनी बढ़ गई कि वे इससे तंग आ गए। पहले तो आयुर्वेदिक दवाएँ करते रहे। बाद में होम्योपैथिक करने लगे।

कोई लाभ न हुआ। वह बढ़ती गई। दलिया, तरकारी भी वे नहीं खा सकते थे। खाते ही वमन कर देते। बड़ा ही कष्टप्रद जीवन चल रहा था। यही दशा उनकी अक्तूबर के अंत तक चलती रही। ऐसी स्थिति में भी वे पत्रों का उत्तर बराबर देते रहते। लोगों से मिलते रहते। बातें करते रहते। 20–10–38 को "हरिऔध" जी को उन्होंने पत्र लिखा किंतु उस पत्र में अपनी बीमारी का उल्लेख तक नहीं किया। खुजली दिन प्रतिदिन बढ़ती ही गई। अंत में विवश होकर उन्होंने अपने निकट संबंधी एवं रायबरेली के प्रसिद्ध डाक्टर शंकरदत्त जी अवस्थी को पत्र लिखा। द्विवेदी जी का यह अंतिम पत्र था। इसके बाद उन्होंने लेखनी नहीं उठाई। यह पत्र अत्यंत मार्मिक एवं हृदय विदारक है। पढ़ते ही आँखों में उनके जीवन का दुखद चित्र झूम उठता है। स्व० डा० शंकरदत्त जी के पास यह अंतिम पत्र एक अमूल्य निधि की भाँति सुरक्षित था। उन्हीं के पास से मैंने उसकी प्रतिलिपि ली थी। आज अपने पाठकों एवं हिन्दी जगत के समक्ष द्विवेदी जी का यह अंतिम पत्र रखते हुए मेरी आँखें सजल हो रही हैं।

पत्र यों था :

दौलतपुर,
रायबरेली,
7-11-38

श्रीमान अवस्थी जी को,

सादर प्रणाम।

आपका तारीख 4 का कार्ड आज अभी सुबह मिला। मेरी हालत अच्छी नहीं है। अगर कमला किशोर दो-एक दिन बाद आएँ तो उनके साथ कृपा करके चले आइए। मुझे देख लीजिए। दो-एक दिन रहिए। पेट छाती वगैरा की हालत का पता लगाने वाले यंत्र जो आपके पास हों लेते आइएगा। कुछ दवाएँ भी। खुजली के लिए कानपुर के डाक्टर रामनारायण वर्मा ने वैद्यों की भी सलाह से शुद्ध गंधक बनाया था। वह कई रोज़ खाया, कुछ लाभ नहीं हुआ। 'मरिचादि-तेल, काशीसादि-घृत' ने भी कुछ काम नहीं किया। कारबोलिक एसिड और तेल भी बेकार गया। अब सिर्फ़ सरसों का तेल मलता हूँ।

मेरी खुजली किसी आंतरिक विकार का फल मालूम होती है। दो हफ्ते से दलिया-तरकारी भी नहीं खा सका। एक भी ग्रास पेट में जाते ही कै हो जाती है। सुबह, दोपहर, शाम को ज़रा-सा दूध मुनक्के पड़ा हुआ लेता हूँ। वह भी बेमन। उसे भी देखते ही जी मचलाता है। जान पड़ता है मुझे जलोदर हो रहा है। पहले दिन में 3, 4 घूंट पानी पीता था। अब प्यास बहुत बढ़ गई है। पेट बेतरह फूला रहता है। बहुत भारीपन मालूम होता है। उठना-बैठना मुहाल है। चलना-फिरना बंद है। पेट गड़गड़ाया करता है। पेशाब सुर्ख होता है। पाखाना ठीक-ठीक नहीं होता। लेटे बैठे रहने से कम, खड़े होने से तथा चलने फिरने से पेट का भारीपन बढ़ जाता है। यहाँ के वैद्य कुछ नहीं कर सकते। शाम सुबह त्रिफला का चूर्ण खिलाते हैं।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी

पत्र पाते ही डाक्टर शंकरदत्त जी रायबरेली से दौलतपुर पहुँचे। वहाँ पहुँच कर उन्होंने आचार्य जी की स्वास्थ्य परीक्षा की। पेशाब बहुत कम पड़ गया था। यद्यपि उसमें अल्युमिन एवं सुगर नहीं जाती थी फिर भी यूरेट बहुत कम जाते थे। पेट में पानी आ गया था। 15 नवंबर तक डाक्टर चिकित्सा करते रहे। कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। अंत में विवश होकर उन्होंने द्विवेदी जी को रायबरेली ले जाना उचित समझा। 16 नवंबर को डाक्टर साहब श्री कमला किशोर जी को साथ लेकर रायबरेली गए। वहाँ मोटर का प्रबंध किया और दूसरे ही दिन मोटर लेकर रायबरेली से पुनः दौलतपुर गए। 18 नवंबर को द्विवेदी जी सदा-सर्वदा के लिए दौलतपुर छोड़कर रायबरेली की ओर चल पड़े। दौलतपुर से रायबरेली तक

मार्ग कच्चा था। स्थान-स्थान पर गड्ढे थे, खाँचे थे। बैलगाड़ियों के पहियों से धूल उभर आई थी। इस दुर्गम पथ में द्विवेदी जी का सारा शरीर झकझोर उठा। 'लोन नदी' पार करते समय तो वे चीख उठे थे। जब मोटर गड्ढों में पड़ती तो कराह उठते। किसी प्रकार सायंकाल चार बजे रायबरेली पहुँचे। यहाँ पहुँचते ही सभी ने संतोष की साँस ली। द्विवेदी जी ने आह भरते हुए कहा––"जीवन में इतना कष्ट कभी नहीं उठाया"।

रायबरेली पहुँचने पर डा० शंकरदत्त जी के घर में द्विवेदी जी रुके। दूसरे ही दिन से यहाँ के सिविल सर्जन डाक्टर जैन तथा व्यक्तिगत चिकित्सक डा० डे का इलाज प्रारंभ हुआ। किंतु कोई लाभ नहीं हुआ। कष्ट बढ़ता ही गया। जलोदर अब उग्र रूप धारण कर चुका था। 4 दिसंबर को डाक्टर जैन ने पेट से पानी निकाला। 5, 6 सेर पानी निकला। थोड़ा-सा लाभ हुआ। भूख भी लगी। फलों का रस दिया गया। इस पर भी स्वास्थ्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह क्षीण ही होता रहा। कानपुर के डाक्टर रामनारायण वर्मा जी को बुलाया गया। वे ही द्विवेदी जी के पुराने चिकित्सक थे। किंतु इस बार उनकी भी औषधियाँ बेकार गईं। उन्होंने अपना कोई चमत्कार न दिखाया। डा० वर्मा भी विवश हो गए। धीरे-धीरे मौत का खूनी पंजा बढ़ता गया। द्विवेदी जी रह-रह कर बेहोश होने लगे। लोगों की चिंता बढ़ी। डाक्टरों का दल परेशान हो उठा। जीने के कोई लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हो रहे थे। डाक्टर शंकरदत्त जी ने दुखी मन से द्विवेदी जी से पूछा––"क्या आप दौलतपुर जाना चाहते हैं"।

यह प्रश्न सुनते ही आचार्य जी के नयन छलछला उठे। शरीर में रोमांच-सा हुआ। कुछ चेतना जगी। उन्होंने अपने शरीर की संपूर्ण पीड़ा समेट कर बहुत दृढ़ शब्दों में उत्तर दिया––"दौलतपुर में क्या धरा है, जो वहाँ जाऊँ। मैं अब कहीं आऊँ-जाऊँगा नहीं। जो होना है वह अब यहीं होगा। यह मेरे प्रस्थान का समय है।" उनके इस उत्तर से सभी का अंतस् डोल उठा। 19 दिसंबर को बेहोशी अधिक बढ़ गई। डाक्टर बद्रीप्रसाद जी होम्योपैथ ने कुछ दवाएँ दीं। देखा भाला। यथा-शक्ति उपचार किया। किसी प्रकार दिन तो बीत गया। रात में उनका कष्ट और बढ़ा। रात भी बीती। प्रभात हुआ। 20 दिसंबर, 1938 का यह प्रभात उनके जीवन का अंतिम प्रभात था। पेट में बहुत पानी आ गया था। रह-कर कर बेहोशी बढ़ रही थी। दर्द भी बढ़ा और धीरे-धीरे जीवन का दीप भी बढ़ने की तैयारी करने लगा। साँझ हुई, पेट बहुत ही फूल आया था। साँस की गति बदल चली थी। सब लोग आशंका से चारपाई के निकट बैठे थे।

अर्धरात्रि बीत चली थी। बेहोशी अब तक वैसी ही थी। सभी प्रकार के उपचार कर, डाक्टर थक गए थे। क्षण-क्षण में हिचकियाँ आ रही थीं सब लोगों की आँखों में आँसू आ गए। डाक्टर शंकरदत्त जी ने नाड़ी की गति देखी। वह काफ़ी क्षीण हो गई थी। डाक्टर साहब ने उदास मन से एक बार परिवार के लोगों की ओर देखा। सभी उपस्थित व्यक्ति डाक्टर साहब के चेहरे पर अंकित भाव पढ़कर आकुल हो उठे। ठीक चार बजे के बाद द्विवेदी जी को एक हिचकी आई, उसी हिचकी के साथ मुख से कुल्ला भर पानी गिरा और जो समय उनके दैनिक जीवन में प्रातःकाल जगने का था, ठीक उसी समय पर वे सदा-सर्वदा के लिए सो गए। प्राण-पखेरू उड़ गए थे। 'आत्माराम' का केवल पिंजड़ा पड़ा था।

प्रभात हुआ। द्विवेदी जी का शव मोटर द्वारा रायबरेली से दौलतपुर लाया गया। मृत शरीर पर एक बार पुनः जन्मभूमि के रजकण पड़े। दौलतपुर क्या, चारों ओर कुहराम मच गया। सहस्र नर नारी, आबाल-वृद्ध रोते-चीखते, चिल्लाते अपने सुख-दुख के साथी के अंतिम दर्शन करने दौड़ पड़े। तीसरे पहर सुरसरि के पावन तट पर हिंदी साहित्य के भीष्म-पितामह, लेखकों के पथ-प्रदर्शक, कवियों के निर्माता, पत्रकारों के महान् पत्रकार एवं पंचायतों के प्रथम सरपंच का भौतिक शरीर जलकर क्षार हो गया। चिता की लपटें बुझ गईं। केवल राख का ढेर शेष रह गया। 21 दिसंबर, 1938 का दिन हिंदी साहित्य एवं पंचायतों के इतिहास में बज्रपात का दिन है। ●

कृतित्व

गद्य

हिंदी के वरद पूत

श्री० दा० सातवलकर

निबंध या प्रबंध लेखन साहित्य का एक प्रमुख अंग माना जाता है। आख्यायिकाओं और उपन्यासों के इस युग में भी यह स्वीकार किया जाता है कि विचारों को व्यक्त करने की सबसे स्पष्ट शैली निबंध की ही है। व्यक्तित्व की झलक दिखाने के लिए पाश्चात्य साहित्यकारों ने भी इसको सुंदरतम माध्यम माना है। कहानी या उपन्यास की वस्तुप्रधान व्यंजनाशैली की अपेक्षा निबंध की व्यक्ति प्रधान अभिधा शैली (Subjective Art) ज्यादा प्रभावोत्पादक होती है।

इस प्रकार की शैली के उन्नायकों में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम सर्वतोपरि अंकित किया जा सकता है। इनकी भाषा इतनी मधुर और स्निग्ध होती थी, कि चाहे कैसा भी गंभीर विषय हो, उसे अपने सरल शब्दों का जामा पहना कर इस प्रकार प्रस्तुत करते थे कि वह गंभीर विषय भी पाठक बड़ी ही रुचि से हृदयंगम कर लेते थे। उनकी भाषा कोमल कांत पदावलि से युक्त होती थी।

श्री द्विवेदी जी की प्रतिभा का क्षेत्र विशेषकर निबंध लेखन ही रहा है। पर उन निबंधों के द्वारा हिंदी भाषा को जो गौरव प्रदान किया, वह अतुलनीय है। कई पत्र-पत्रिकाओं के संपादक-पद पर कार्य करते हुए अपनी रचनाओं से उन्होंने हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि की। प्रयाग से प्रकाशित होने वाले 'सरस्वती' मासिक-पत्र के संपादन का कार्य भी उन्होंने कई वर्षों तक किया।

किसी विषय की गहराई में पूरी तरह उतर कर ही वे उस विषय पर लेखनी चलाते थ। स्वयं कवि न होते हुए भी अपने प्रबंध 'कवि और कविता' में उन्होंने कविता का जो सूक्ष्म विवेचन किया है वह किसी कवि के विवेचन से भी बढ़कर है।

मैं भी उनके संपर्क में एक दो बार आया। यों तो उनके लेखन एवं साहित्यिकता से मैं पूर्व ही परिचित था, और उनके लेखों को पढ़ा भी करता था। उनके लेखों को पढ़कर मेरा विचार श्री द्विवेदी जी के बारे में ऐसा बन गया था कि श्री द्विवेदी जी अपने व्यावहारिक जीवन में भी अवश्य ही बड़े गंभीर होंगे। पर उनके संपर्क में आने पर मुझे ज्ञात हुआ कि लेखों के द्विवेदी और व्यक्तिगत जीवन के द्विवेदी एक न होकर सर्वथा अलग-अलग हैं। मेरा कहने का तात्पर्य यह कि लेखों में द्विवेदी जी जितने गंभीर एवं प्रौढ़ दिखाई देते थे, उतने ही अपने व्यक्तिगत जीवन में वे हँसमुख और बालहृदयी थे।

साधक के सामने अनेक कठिनाइयाँ रहती ही हैं, पर सच्चा साधक वही है, जो इन कठिनाइयों को चीरता हुआ आगे बढ़ता चला जाए। और आज से 40–50 वर्ष पहले जब हिंदी साहित्य का विकास अपने प्रारंभिक स्तर पर ही था, हिंदी साहित्य के साधक की जीवन-कठिनाइयों का तो कहना ही क्या था? उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचंद का जीवन आज भी तात्कालीन साधकों के जीवन की परिस्थिति की याद दिलाता है। कुछ ऐसी ही कठिनाइयाँ द्विवेदी जी के सामने भी थीं, पर क्या मजाल कि उनके चेहरे पर किसी ने शिकन भी देखी हो। परिस्थितियों से निपटने की कला में श्री द्विवेदी जी पूरे माहिर थे। वे स्वयं कहते थे कि "साधना पथ बड़ा ही संघर्षमय है, पर इसी संघर्ष की आग में तपकर ही तो साधक का जीवन निखरता है। मैंने हिंदी के लिए जब अपना जीवन ही अर्पित कर दिया है, तो फिर मैं इन संघर्षों से डरकर पीछे कैसे हट सकता हूँ?"

ऐसी थी द्विवेदी जी की साधना, उनका जीवन और उनका व्यक्तित्व। आज हिंदी-लेखकों की वैसी अवस्था नहीं रही, जैसी पहले थी, इसके बावजूद भी उस समय जैसा साहित्य हिंदी में रचा गया, वैसा आज या अगले कुछ वर्षों में भी रचा जा सके, इसकी संभावना कम ही दीखती है।

हिंदी जगत के उस तपःपूत साधक की जन्मशती सब साहित्यस्रष्टाओं के लिए वरदान बनकर सिद्ध हो और हिंदी भाषा के उद्धार के लिए सबको प्रेरणा मिले, यह हमारी अभिलाषा है।●

रसज्ञरंजनकार की भावुकता

प्रमिला शर्मा

वाल्टर पेटर के अनुसार शैली के दो पक्ष हैं (1) आत्मपक्ष (soul in style) एवं (2) मानस पक्ष (mind in style)। शुक्ल जी के शब्दों में यही हृदयपक्ष या भावपक्ष तथा मस्तिष्क पक्ष या बुद्धि-पक्ष है—जिनका उचित सन्निवेश श्रेष्ठ निबंध की प्रथम शर्त है। बौद्धिकता की नींव पर खड़ा निबंध-प्रासाद उसी दशा में पाठक को अपनी अन्यतम मंज़िल तक ले जाने में सफल होगा जब भावुकता रसात्मकता की आश्रयदायिनी शलाखें घुमावदार जीने के संग-संग लहराती चली गई हो। आचार्यप्रवर पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के नौ निबंध 'रसज्ञ-रंजन' में संकलित हैं जिनमें उनकी भावसंप्रेषित शैली का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। काव्य के चारों तत्त्व—राग, बुद्धि, कल्पना, शैली, निबंध में भी रहते हैं किंतु प्राधान्य बुद्धि तत्त्व संपृक्त शैली तत्त्व का ही होता है। विषय की दृष्टि से इसके सुदूरव्यापी क्षेत्र में सभी तत्त्व अंतर्मुक्त हो जाते हैं। निबंध में सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं को सुगठित शैली सचित्र रूप में प्रस्तुत करने में सक्षम होती है।

आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास में 'बातों के संग्रह' (निबंध संकलन) के आधार पर यह सिद्ध किया है कि ऐसा लगता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है। प्रायः सभी आलोचक इस विषय में एकमत हैं कि द्विवेदी जी की शैली में, उग्र समालोचक होने के नाते समझिए या किसी भी कारण—प्रवाह की कमी है। एक ही भाव को बार-बार दुहराने के कारण रुक्षता तथा विषय के गांभीर्य को साधारण रूप में डाल देने की ओर रुझान दीख पड़ता है। किंतु उनके साहित्यिक निबंधों के सर्वोत्तम संग्रह रसज्ञ-रंजन को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि वस्तुतः तथ्य कुछ और है। नल का दुस्तर दूत कार्य और हंस संदेश में एक ओर जहाँ आलंकारिक वर्णन की विशेषता है वहाँ दूसरी ओर भावों की ऊहापोह और उच्चकोटि के शृंगार रस का समुचित स्वाद मिलता है[1]। दमयंती को खेदवती देखकर सखी उससे प्रश्न करती है—क्या बात है? क्या कारण कि यह अतर्कित आई हुई पियराई, कनक चंपे के समान तेरी गौर कांति को बिगाड़ रही है? भावुक निबंधकार की शैली अलंकारिकता-संपन्न है जिसने श्री-सुषमा को द्विगुणित किया है—"पर बेचारी दमयंती को उस महाशीतल शय्या पर वैसा ही संताप हुआ, जैसा कि मार्त्तण्ड की प्रचंड किरणों से उत्पन्न हुए गढ़े में पड़ी हुई मछली को होता है।" (उदाहरण अलंकार) × × × "तेरे कारण पंचशर से पीड़ित किया गया कुबेर आँखे बंद करके चंद्र मौलि के पास से हट कर उसकी सखियों के पास चला जाता है। (अतिशयोक्ति अलंकार) × × × दमयंती के ओष्ठ-बंधुक रूपी धन्वा से वाणी के बहाने निकली हुई मन्मथ की पंचवाणी (पाँचबाण) कानों की राह से नल के हृदय के भीतर धँस गई।" (रूपक)

[1]रसज्ञरंजन (भूमिका : जीवन परिचय पृ० 5, संस्करण 1949)

प्रेयसी के विलाप को सुनकर नल प्रलापावस्था में अपने अवरुद्ध विचारों को व्यक्त करता है और आप देखें कि लेखक की भाषा-शैली कितनी आसानी से भावों की सतरंगी चूनर लहराती है--"आँखों से आँसुओं की झड़ी बंद कर, मंद मुस्कान रूपी कौमुदी को फैलने दे, मुख-कमल को विकसित होने दे, नेत्र खजंरीटों को यथेच्छ विहार करने दे। बोल बोल, अपनी मधुमयी वाणी सुना कर मेरे मुरझाए हुए हृदय-पुष्प को फिर प्रफुल्लित कर दे। चंद्रमा की निशा नारी के समान तू ही नल की एकमात्र प्राणाधार है।" 'बोल बोल' की पुनरुक्ति में, अंतिम पंक्ति की उपमा में मात्र अलंकारिकता ही नहीं है अपितु वह विरह-विह्वल प्रणयी की सुकुमार भावनाओं की सफल अभिव्यक्ति है। साहित्यकार की आंतरिक संवेदना उसके वैयक्तिक स्वातंत्र्य की शर्त है और इसी के माध्यम से वह मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा कर पाता है।[2] और इस संदर्भ में "कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता" निबंध का स्मरण दिलाया जा सकता है जिसने मैथिलीशरण जी गुप्त की लेखनी को साकेत-धाम की ओर अग्रसर किया। 'मानिषाद' का अनुगम्यक जिसके प्रति अल्पादल्पतरा संवेदना तक प्रकट न कर सका। 'नानापुराण निगमागम सम्मत' रचना करने वाले तुलसी भी जिसके बहते आँसुओं को अनदेखा कर गए, करुणा के महाकवि भवभूति भी सीता के 'इयमप्यपरा का' ? के प्रश्न को लक्ष्मण के हाथ से चित्र ढका का ढका ही छोड़ गए--उनके प्रति निबंधकार को अपर्ष है। लेखक कुढ़कर अपने पाठकों से प्रश्न करता है--"सदाचरण का सत्यानाश करने के लिए क्या इससे बढ़ कर कोई युक्ति हो सकती है? युवकों को कुपथ पर ले जाने के लिए क्या इससे अधिक बलवती और कोई आकर्षणशक्ति हो सकती है?" अमर्ष और आंकुचित व्यंग मर्मभेदिनी शक्ति संपन्न है।

अच्छी निबंध-शैली में व्यक्तित्व और निर्व्यक्तित्व का सम्मिश्रण वांछनीय है।[3] और कहने की आवश्यकता न होगी कि उद्धृत प्रकरणों में, विषय में व्यक्तित्व मिलकर स्वयं बोलने-सा लगा है और इसका कारण है उसके व्यक्तित्व का आवश्यक उपादान--'भावुकता'। मिडिल्टन मरे ने श्रेष्ठ शैली के लिए द्विधा कसौटी रखी है--"On the one hand it is a concentration of peculiar and personal emotion, on the other it is complete projection of this personal emotion into created thing."[4]

किंतु इसी स्थल पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भावुकता की भी सीमाएँ हैं। अतिवादिनी होकर यह 'भूषण' न रहकर 'दूपण' हो जाती है जैसा कि द्विवेदी जी के निबंधों में अनेक स्थलों पर द्रष्टव्य है। गद्य साहित्य में भावात्मक और काव्यात्मक गद्य का भी एक विशेष स्थान है, यह तो मानना ही पड़ेगा ··· पर जहाँ गंभीर विचार और व्यापक दृष्टि अपेक्षित है, उसे घसीटे जाते देखकर दुख होता है। ···जिन विषयों के निरूपण में सूक्ष्म और सुव्यवस्थित विचार परंपरा अपेक्षित है, उन्हें भी हवाई शैली पर हवा बताना कहाँ तक ठीक होगा।[5] कवि कर्तव्य, कवि बनने के सापेक्ष साधन, कवि और कविता, कविता ··· इन चारों निबंधों में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ निबंधकार ने विषय को यों ही चलता कर दिया है। काव्य का रसास्वादन करते समय सहृदय सामाजिक आलोचक सामान्य मधुमति भूमिका में पहुँच कर रसास्वादन करता है--उसका रचयिता के साथ तादात्म्य हो जाता है। काव्य का सत्य क्या होता है, किस प्रकार वह हमारी वृत्तियों को एकोन्मुखी बनाता है--इस गंभीर विश्लेषण से परांङ्मुख होकर लेखक सीधे-साधे शब्दों में कह देता है :--

"हाय बाल्मीकि! जनकपुरी में तुम उर्मिला को सिर्फ एक बार दिखाकर चुप हो बैठे···जिस दिन राम और लक्ष्मण, सीता देवी के साथ चलने लगे--जिस दिन उन्होंने अपने पुरत्याग से अयोध्या नगरी को

---

[2] साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृ० 44, ले० डा० रघुवंश।

[3] सिद्धांत और अध्ययन, पृ० 233 (पंचम संस्करण), डा० गुलाबराय।

[4] The Problem of style, p. 35 t, Middleton Murry.

[5] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 235-36 (नवम संस्करण), आचार्य रामचंद्र शुक्ल।

अंधकार में, नगर निवासियों को दुःखोदधि में और पिता को मृत्युमुख में निपतित किया, उस दिन भी आपको उर्मिला याद न आई। उसकी क्या दशा थी, वह कहाँ पड़ी थी, सो कुछ भी आपने नहीं सोचा, इतनी उपेक्षा।" × × × × नवोढ़त्व को प्राप्त होते ही जिस उर्मिला ने रामचंद्र और आनकी के लिए, अपने सर्वस्व सुख पर पानी डाल दिया उसी के लिए अंतर्दर्शी आदिकवि के शब्द भंडार में दरिद्रता?

उन्हें तुलसी से शिकायत है जिन्होंने "गए लषण जहँ जानकि नाथा" कह कर उर्मिला के प्रकरण को टाल दिया। "अपने कमंडलु के करुणावारि का एक बूंद भी आपने उर्मिला के लिए न रक्खा। सारा का सारा कमंडलु सीता को समर्पण कर दिया।" ऐसे स्थलों पर हमें ऐसा आभासित होता है कि अनुभूति और अभिव्यक्ति एकाकार हो गई हो। अनुभूति जैसे प्रकाश राशि है और अभिव्यक्ति रंगबिरंगे काँच के टुकड़ों पर उसका विकिरण और यहाँ यह कहना अनावश्यक ही होगा कि प्रकाश की तीव्रता की भाँति काँच की निर्मलता भी रंगों और उनके प्रकाश विस्तार के लिए सहज काम्य है।[6] भाव को अपने अनुरूप भाषा मिल जाने से शैली में निखार आ गया है।

भावना केवल कविता की अनिवार्यता नहीं है प्रत्युत् वह साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में वांछनीय है। लेखक का स्व जब तक अपने को वैयक्तिक स्तर पर स्वर नहीं देता तब तक वह साहित्य नहीं होता, साहित्य तो वह है जो सराबोर ज़िंदगी है··· वह तो तब आती है जब लेखक की स्वाभक्ति उसका अनुभव करती है।[7] द्विवेदी जी ने नायिका भेद की विषय-सामग्री का खूब सरस शैली में विवरण प्रस्तुत किया है····

"अब देखिए इस प्रकार की पुस्तकों में लिखा क्या रहता है। लिखा रहता है परकीया (पर स्त्री) और वेश्याओं की चेष्टा और उनके कलुषित कृत्यों के लक्षण और उदाहरण! परकीया के अंतर्गत अविवाहित कन्याओं के पापाचरण की कथा!! पुरुषमात्र में पति बुद्धि रखने वाली कुलटा स्त्रियों के निर्लज्ज और निरर्गल प्रलाप!!!" "कमल के समान आँखें नहीं होती, कोकिला का-सा कंठ किसी का नहीं होता, जो कुछ इसमें लिखा है झूठ है—इस प्रकार की बातें मन में आते ही कविता का सारा रस जाता रहता है। कविता में जो कुछ कहा गया है उसे ईश्वर वाक्य मान कर उसका रस लेना चाहिए।" कविता क्या है? जैसे गंभीर प्रश्न को "अंतःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है" कह कर टाला-सा गया है या पाठक की बुद्धि पर अविश्वास कर सरलतम रूप दिया गया है। हमारा दैनंदिन क्रिया व्यापार तक अंतःकरण की वृत्तियों का चित्रांकन है—कविता किस प्रकार विशिष्ट सत्ता रखती है इसे निबंधकार सहज रूप में छोड़ गया है।

किंतु तत्कालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन किए जाने पर निबंधकार का लोहा मानना होगा। सामयिक दृष्टि से आलोचक, कवि और निबंधकार की त्रिवेणी में अवगाहन करने वाले आचार्य द्विवेदी का हिंदी साहित्य अनुगत है। कौन जानता है कि रसज्ञ-रंजनकार की यत्र-तत्र उभरती भावाकुल शैली ने ही प्रवाल, साधना (रायकृष्णदास) भावना, अंतर्नाद (वियोगी हरि) ताजमहल, दिल्ली का लालकिला (डा० रघुवीर सिंह) का सूत्रपात नहीं किया? सीमाओं में वंदिनी होने पर भी रसज्ञरंजनकार की भाव प्रवणशैली सलज-सलज अवगुंठिता के श्यामल नयनों के स्वप्नविहंगम सी अद्यतन निबंध-साहित्य के प्रांगण में विचरण कर रही है। ●

---

[6] प्राच्य साहित्य, ले० आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री।

[7] समीक्षा और आदर्श, ले० डा० रांगेय राघव।

गद्यकाव्य के उन्नायक

हरिमोहनलाल श्रीवास्तव

गद्य काव्य की उद्भावना :

'गद्यकाव्य' शब्द की सृष्टि आधुनिक काल की अवश्य है, तथापि उसकी उद्भावना हिंदी-साहित्य में बहुत पहले देखी जा सकती है। अँग्रेज़ी प्रभाव को लेकर निर्माण पाने वाली 'उद्भ्रांत प्रेम' और 'गीतांजलि' नामक बंगला कृतियों के द्वारा हिंदी-साहित्य में गद्यकाव्य के सूत्रपात की बात अब पुरानी पड़ गई है। वस्तुस्थिति के निष्पक्ष विवेचन से यह सिद्ध है कि गद्यकाव्य से हिंदी का परिचय उसकी जन्मदात्री भाषा संस्कृत के द्वारा हो चुका था। कालांतर में इधर कुछ भुलावे के कारण काव्य के माध्यम के रूप में गद्य-साहित्य का सम्मान ऐसा न रहा। भारतेंदु-काल के कतिपय साहित्यिकों ने अपनी गद्यात्मक रचनाओं में कवितागत सौंदर्य का यत्र-तत्र सुंदर दिग्दर्शन किया है, परंतु पद्य को ही कविता समझने की एक धारणा बन जाने के कारण वह सब गद्यकाव्य अनजान में रचित समझा जाता है, और इस कारण उसे अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता।

द्विवेदी जी की बहुमुखी प्रतिभा :

हिंदी-साहित्य के उद्यान में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रथम उद्यानपाल हुए हैं, जिन्होंने गद्य और पद्य को समान रूप से कविता का संदर्भ समझने वाली संस्कृत के उस आदर्श में खोया हुआ विश्वास जगाया, और इस प्रकार उसकी एक विशिष्ट सत्ता बनाते हुए गद्यकाव्य का योग्य प्रवर्त्तन किया। निबंध और आलोचना, अनुवाद और संपादन जिस प्रकार द्विवेदी जी के आभारी हैं, उसी प्रकार हिंदी गद्यकाव्य भी उनका चिर ऋणी है। वस्तुतः आचार्य द्विवेदी हमारे सामने कई रूपों में आते हैं, जिनमें समालोचक का रूप कुछ विशेषता रखता है। परंतु समालोचना के साथ ही उन्होंने कविता को भी संपन्नता प्रदान की, और यह बहुत अंशों में दो विरोधी तत्वों का सुंदर समन्वय है, जो आचार्य के व्यक्तित्व की एक बड़ी विशेषता है।

द्विवेदी जी केवल ग्रंथकार न थे वे ग्रंथकारों के निर्माता भी थे। व्याकरण की त्रुटियों का परिहार और भाषा के स्वरूप की प्रतिष्ठा करते हुए वे भाषा की अर्थोद्घाटिनी शक्ति में सुंदर वृद्धि एवं अभिव्यंजना-प्रणाली का नूतन प्रसार दिखा कर ही संतुष्ट नहीं हो गए, अपितु उन्होंने नए विषयों के समावेश को प्रोत्साहन दिया। अपनी शिक्षात्मक पद्धति का अनुसरण करते हुए आचार्य ने हिंदी-काव्य को भी एक दिव्य संदेश सुनाया है, जो एक कवि की अपेक्षा कवियों के निर्माता के रूप में उनका बढ़ा हुआ महत्त्व सिद्ध करता है। कविता के प्रति उनके संबोधन में कवि का रूप कम आलोचक का रूप अधिक मुखरित है। गद्य के महत्त्व को पहचानते हुए उन्होंने 'गद्यं कवीनां निकषं वदंति' को समुचित प्रतिष्ठा दिलाई, और इस महान् उपलब्धि में ही गद्यकाव्य के उन्नायक-रूप में आचार्य का अपना महत्त्व है।

काव्य-संबंधी धारणाएँ :

द्विवेदी जी संस्कृत-काव्य के क़ायल थे, और अपने इस आदर्श के अनुसार वे यह समझने के पक्षपाती थे कि गद्य और पद्य दोनों में ही कविता का प्रवाह संभव है। कविता की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है :—'अंतःकरण

की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। नाना प्रकार के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते, तब वे आप ही आप मुख के मार्ग से बाहर निकलने लगते हैं, अर्थात् वे मनोभाव शब्दों का स्वरूप धारण करते हैं वही कविता है;—चाहे वह पद्यात्मक हो, चाहे गद्यात्मक' इस प्रकार द्विवेदीजी ने स्पष्ट कर दिया है कि गद्य में भी काव्य-धारा का प्रवाह पद्य की भाँति सहज और संभव है।

एक दूसरे कथन से भी उनके इस आशय की पुष्टि भली प्रकार होती है—जो बात एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाए कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर ज़रूर पड़े, उसी का नाम कविता है। हृदय को स्पर्श करने वाले इस काव्य को उन्होंने पद्य की नपी-तुली शब्द-स्थापना से कहीं अधिक श्रेष्ठता दी है। उनका कथन है:—आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज़ समझ रखा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है, जो अँग्रेज़ी की पोइट्री (Poetry) और वर्स (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं। वह नपी-तुली शब्द स्थापना मात्र है।

कविता के प्रधान गुण :

द्विवेदी जी के मतानुसार मनोरंजकता (मनोरंजन) और प्रभावोत्पादकता (प्रभावोत्पादन) कविता के प्रधान गुण हैं। अपने इन गुणों से विभूषित होने पर ही कविता का सच्चा महत्त्व है, और ये गुण पद्य तथा गद्य दोनों में मिल सकते हैं। अनुप्रास और छंद, काफिया और वज़न कविता के अनिवार्य गुण नहीं, ये गुण तो पद्य के लिए आवश्यक हैं।

द्विवेदी जी का मत है—'यह समझना अज्ञानता (अज्ञान) की पराकाष्ठा है कि जो कुछ छंदबद्ध है, सभी काव्य है। कविता का लक्षण (अर्थात् प्रभावोत्पादन) जहाँ कहीं पाया जाए, चाहे वह गद्य में हो चाहे पद्य में, वही काव्य है। लक्षण-हीन होने से कोई भी छंदोबद्ध लेख काव्य नहीं कहलाए जा सकते, और लक्षण-युक्त होने से सभी गद्य-बंध काव्य-कक्षा में सन्निविष्ट किए जा सकते हैं। द्विवेदी जी ने स्वीकार किया है कि अलंकार और छंद के समावेश से कविता का आकर्षण कुछ बढ़ जाता है, तथापि इनकी खोज में कवि के विचार-स्वातंत्र्य को वाधा पहुँचने की वे सच्ची संभावना देखते हैं। एक दूसरे स्थान पर उनका कथन है—कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे। पर काफिया और वज़न उसकी स्वाधीनता में विघ्न डालते हैं। वे उसे अपने भावों को स्वतत्रंतापूर्वक प्रकट नहीं करने देते। क़ाफ़िया और वज़न को पहले ढूँढ़ कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं, इसका मतलब यह हुआ कि प्रधान बात अप्रधान हो जाती है, और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता पा जाती है।

गद्यकाव्य को योग :

ब्रजभाषा काव्य की परिधि से हिंदी कविता को निकाल कर एवं उसे खड़ी बोली का प्रचलित रूप देकर भी आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने गद्यकाव्य के सृजन में सीधा योग दिया। उनका मत था कि बोलचाल की भाषा से कविता का दूर जा पड़ना प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है, और इस व्यतिक्रम से भाषा की उन्नति रुक जाती है, गद्य के प्रबल संस्कारों का पद्य पर अनिवार्य प्रभाव सिद्ध करते हुए उन्होंने कहा है:—"गद्य की इस समय उन्नति हो रही है। अतएव अब यह संभव नहीं कि गद्य की भाषा का प्रभाव पद्य पर न पड़े। जो प्रबल होता है, वह निर्बल को अवश्य अपने वशीभूत कर लेता है। यह बात भाषा के संबंध में भी तद्वत् पाई जाती है।"

द्विवेदी जी के काव्य-संबंधी उपर्युक्त विचारों की गवेषणा करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि उनके ये विचार गद्य-काव्य का जितना हित-संपादित करते हैं, उतना पद्य-काव्य उनसे लाभान्वित नहीं होता। काव्य-जगत में एक नया साथी मिल जाने के अतिरिक्त पद्य को कुछ विशेष लाभ नहीं। निश्चय ही द्विवेदी जी ने विचारों की इस परंपरा के द्वारा गद्यकाव्य के आविर्भाव के लिए साहित्य-संसार में एक नवीन जागृति की। अपनी इस अनूठी विचार शैली के फलस्वरूप उन्होंने उद्भ्रांत प्रेम और गीतांजलि से कुछ पहले ही हिंदी-साहित्य में गद्यकाव्य का व्यवस्थित स्वरूप दिखा दिया। उनके समकालीन सरदार पूर्णसिंह, बाबू ब्रजनंदन सहाय प्रभृति लेखकों के गद्य में काव्य का जो उन्माद विखर रहा है, उसके श्रेय का एक बड़ा अंश निस्संदेह द्विवेदी जी को है।

द्विवेदी जी स्वयं गद्य-काव्य-रचना की ओर ऐसा ध्यान नहीं दे सके। इसका कारण उनकी वह शिक्षात्मक पद्धति रही, जिसके अवलंबन ने उन्हें युगप्रवर्तक की गौरव-पूर्ण पदवी से विभूषित किया। गद्य काव्यात्मक अभिव्यंजना की चिंतित विरलता के होते हुए भी आचार्य द्विवेदी जी की रचना-शैली उससे शून्य नहीं, और वह जो कुछ है, वह गद्य-काव्य के क्षेत्र में अपने विशिष्ट स्थान की अधिकारी है :—

कविता-रूपी सड़क के इधर-उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले बहते हों, दोनों तरफ़ फलों-फूलों से लदे हुए पेड़ हों, जगह-जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों, प्राकृतिक दृश्यों की नई-नई झाँकियाँ आँखों को लुभाती हों।

भाव में सौंदर्य और कोमलता, अनुभूति में सच्चाई और शक्ति एवं भाषा में लय और सौष्ठव, अर्वाचीन गद्य-काव्य के अपने लक्षण हैं, और इनसे बढ़कर आवश्यकता उसके लिए कवि के अज्ञात की भावपूर्ण व्यंजना है। द्विवेदी जी का उक्त गद्य-बंध इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति एक साथ भले ही न करे, तथापि उसमें विक्षेप शैली का जो थोड़ा आभास है, वह उसकी योग्यता सर्वथा प्रमाणित करता है। ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण है :—

कहीं कोई नायिका अँधेरे में यमुना के किनारे दौड़ी जा रही है, कहीं कोई चाँदनी ही के रंग की साड़ी पहन कर घर से निकल किसी लता मंडप में बैठी हुई किसी की मार्ग–प्रतीक्षा कर रही है, कहीं कोई अपनी सास को अंधी और अपने पति को विदेश गया बतला कर द्वार पर आए हुए पथिक को रात भर विश्राम करने के लिए प्रार्थना कर रही है, कहीं कोई अपने प्रेम-पात्र के पास गई हुई सखी के लौटने में विलंब होने से कातर होकर आँसुओं की धारा से आँखों का काजल बहा रही है।

आचार्य की झुंझलाहट दिखाने वाला यह गद्यांश केवल स्मृति पर आघात पहुँचाकर एवं कल्पना को उकसा कर गद्यकाव्य के रूप में संतोष प्रदान करता है। संस्कृत-साहित्य के अमूल्य रत्नों को हिंदी-माता को भेंट करते हुए भी द्विवेदी जी ने गद्यकाव्य के भंडार में पर्याप्त वृद्धि की है, किंतु उस समय तक गद्यकाव्य की एक स्वतंत्र सत्ता निर्धारित न होने के कारण उनमें ऐसी पूर्णता दृष्टिगोचर नहीं होती। और यह किसी प्रकार द्विवेदी जी के आभार को कम करने वाली बात नहीं।

संमिलित स्वरूप से साहित्यिक मापदंड :

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने एक स्थान पर कहा है:—"यद्यपि उनकी भाषा में का बौद्धिक उपकरण, भावावेशमूलक उपकरण से कहीं अधिक था, पर जिस युग में वे पैदा हुए थे, उस युग के लिए यह कमी गुण हो गई। ××× और आचार्यों ने जहाँ अन्य विषयों से साहित्य के भंडार को भरा, वहाँ द्विवेदी जी ने भाषा को माँज-घिसकर उपयुक्त बनाने में सबसे अधिक परिश्रम किया।" यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जिस समय उन्होंने आलोचना का कार्य प्रारंभ किया था, उन दिनों विदेश में भी आलोचना का आदर्श निश्चित नहीं हुआ था। काव्य के क्षेत्र में वे रसवादी, वक्रोक्तिवादी, अभिव्यंजनावादी, प्रभाववादी, एवं चमत्कारवादी सब कुछ होकर किसी एक वाद को सर्व-प्रधान मानने वाले न थे। डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के अनुसार :—"द्विवेदीजी केवल मस्तिष्क को ही सजग नहीं रखते थे, कभी-कभी हृदय के प्रवाह को भी बिना रुकावट बहने देते थे। ××× द्विवेदी जी की विशेषता यह है कि उनकी रचनाएँ विशेषता अथवा विलक्षणता से विहीन हैं।"

डा० नगेंद्र का कथन है—"उनके भाव-प्रधान लेख छोटे-छोटे वाक्यों से गुंफित हैं, जो चंचल शिशुओं की भाँति एक दूसरे को ढकेलते हुए आगे बढ़ते हैं। इनमें हमें भारतेंदु जी की चंद्रावली आदि में प्रयुक्त लेखन-शैली और आधुनिक युग के गद्यकाव्य के लेखकों की शैली के बीच की कड़ी मिलती है।" अस्तु कवि, आलोचक और निबंधकार के संमिलित स्वरूप को लेकर अपने समय के साहित्यिक मापदंड बनाने वाले उनके कर्मठ व्यक्तित्व में साहित्यिक विधाओं की संपूर्णता का समावेश है। द्विवेदी जी का महत्त्व पथ-प्रदर्शन में है, जो गद्यकाव्य के क्षेत्र में भी उनके यश-शरीर को उस उच्चासन पर आसीन देखता है। ●

द्विवेदी जी और खड़ी बोली

बलवीर त्यागी

कौन जानता था कि गाँव के धूल भरे पथ पर रायबरेली की ओर कमर पर आटा-दाल बाँध कर जाने वाला बालक एक दिन हिंदी का उन्नायक होगा। सिपाही के बेटे में साहित्यिक प्रतिभा! यह हिंदी का सौभाग्य ही तो था। द्विवेदी जी अपने समय की राजभाषा पढ़ कर कहीं किसी राजपद पर शोभित हो सकते थे। किंतु उनका अनुराग तो था हिंदी से। और इसी अनुराग के कारण वह हिंदी के देदीप्यमान नक्षत्रों में प्रतिष्ठित हुए। साहित्यिकों ने उनके नाम पर एक युग निर्धारित कर संमान दिया।

द्विवेदी जी के पूर्व भारतेंदु युग में पद्य की भाषा ब्रज और गद्य की भाषा खड़ी बोली थी। द्विवेदी युग में प्रथम बार कविता में खड़ी बोली अपनाई गई। द्विवेदी जी इन कविताओं का संशोधन कर सरस्वती में प्रकाशित करते थे। सरस्वती पत्रिका का संपादन कर द्विवेदी जी ने हिंदी की आधुनिक कविता के विकास में बहुत सहयोग दिया। उन्होंने भाषा का संस्कार कर उसका शुद्ध रूप उपस्थित किया।

द्विवेदी जी का युग हिंदी साहित्य का परिष्कार युग माना जाता है। द्विवेदी जी अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण अपने युग पर छाए रहे। संपादक पद पर आरूढ़ होकर उन्होंने लेखकों का पथ प्रदर्शन किया और शृंगार रस की कलुषित धारा से साहित्य की धारा को बचाया। द्विवेदी जी स्वयं सशक्त निबंधकार एवं आलोचक थे। उनके निबंध विचारात्मक होते थे। आलोचना को पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का प्रयत्न भी द्विवेदी जी ने ही किया। उन्होंने संस्कृत लेखकों की कृतियों के अनुवाद तथा भाषा की शुद्धि की ओर अधिक ध्यान दिया। 'कालिदास की निरंकुशता' आदि में यह बात स्पष्ट है।

द्विवेदी जी उर्दू को अलग से कोई भाषा नहीं मानते थे। उनके लेख की ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं: 'मुख्य विषय साहित्य की उन्नति करना है। हिंदी का साहित्य बड़ी ही दुरवस्था को प्राप्त हो रहा है। उसकी अभिवृद्धि करने की इच्छा से अच्छे-अच्छे ग्रंथ लिखना इस समय अत्यावश्यक है। हिंदी बोलने वालों का यह परम धर्म है (सरस्वती, फरवरी-मार्च 1903) ...। जिस समय ब्रज भाषा के रूप में हिंदी अपना अधिपत्य जमा रही थी, उसी समय उसकी एक दूसरी शाखा उससे पृथक हो गई। इस शाखा का नाम उर्दू है। उर्दू कोई भिन्न भाषा नहीं है। वह भी हिंदी है। उसमें चाहे कोई जितने फ़ारसी, अरबी और तुर्की के शब्द भर दे, उसकी क्रियाएँ हिंदी ही की बनी रहती हैं। उसकी रचना हिंदी के व्याकरण का अनुसरण करती है।'

फ़ारसी और अरबी शब्दों से मिली हुई उर्दू नामधारणी हिंदी अभी कल उत्पन्न हुई है। उर्दू नामधारणी हिंदी में फ़ारसी और अरबी के शब्दों की अधिकता होने और देवनागरी अक्षरों को छोड़ कर फ़ारसी अक्षरों में उसके लिखे जाने से जो लोग उसे एक भिन्न भाषा समझते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। वह कदापि भिन्न भाषा नहीं है। वह भी सर्वथा हिंदी ही है। संस्कृत शब्दों की प्रचुरता होने से जैसे हमारी विशुद्ध हिंदी कोई भिन्न भाषा नहीं हो सकती, वैसे ही फ़ारसी या अधिक विदेशी शब्दों की प्रचुरता होने से उर्दू नामधारणी हिंदी भी कोई भिन्न भाषा नहीं हो सकती।

(सरस्वती, फरवरी—मार्च, 1903)

द्विवेदी जी खड़ी बोली की पाँच शैलियाँ मानते हैं:—

(1) मुंशी शैली—मुंशी जी की, पंडित जी की और मौलवी साहिब के बीच की हिंदी।
(2) मौलवी शैली—फ़ारसी और अरबी (कठिन तत्सम) संज्ञाओं से भरी हिंदी।
(3) पंडित शैली—संस्कृत के कठिन शब्दों के प्रयोग वाली हिंदी।
(4) यूरेशियन शैली—दूसरी भाषाओं के शब्दों के बाहुल्य वाली हिंदी।
(5) यूरोपियन शैली—अंग्रेज़ी के तत्सम संज्ञा शब्दों से भरी हिंदी।

'सरस्वती' के सितंबर 1902 के अंक में इन शैलियों पर एक पाँच मुखों वाला व्यंग-चित्र छपा था और साथ ही छपा था दविवेदी जी का यह दोहा:—

दो पैरों पर एक धड़, फिर सिर पाँच अनूप।
मुझ पच रंगे पद्य का, देखो सुकर स्वरूप॥

आलोचक द्विवेदी

रामस्वरूप भक्त 'विमेश'

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हमारे सामने कई रूपों में आए—संपादक, कवि, निबंधकार, आलोचक आदि। उनमें उनका आलोचक रूप ही विशेष ख्याति प्राप्त कर सका। उन्होंने बीस वर्ष तक 'सरस्वती' का संपादन किया था। यह बीस वर्ष हिंदी साहित्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इन्हीं बीस वर्षों में हिंदी के विभिन्न अंगों का विकास हुआ जिससे आगे चलकर हिंदी काफ़ी समृद्ध हुई।

यह हिंदी का सौभाग्य था कि वैसे समय में जबकि हिंदी के क्षेत्र में सर्वत्र अव्यवस्था ही अव्यवस्था थी, आचार्य जी का पदार्पण हुआ। उन्होंने बीस वर्षों तक अपने सबल हाथों हिंदी को आगे बढ़ाया। इस कार्य में उनका संपादक रूप बहुत सहायक हुआ। वे अपने जिन विचारों को पाठक, लेखक और आलोचक तक पहुँचाना चाहते थे, उन्हें पहुँचाने में कठिनाई होती यदि वे संपादक नहीं होते। इसलिए श्री गुलाबराय जी ने कहा है, "समालोचक के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह संपादक ही हो, किंतु यदि वह संपादक के आसन पर भी विराजमान हो, तो आलोचना का कार्य उसके जीवन के कार्य से संबंधित हो जाता है।" इसके साथ मैं इतना जोड़ देना चाहता हूँ कि वह सुगम भी हो जाता है।

फिर द्विवेदी जी वैसे लोगों में नहीं थे जो काम को बेगार समझकर किया करते हैं। उन्होंने जो कुछ भी किया था वह उनके मनोयोगपूर्वक अध्ययन, चिंतन-मनन का फल था। बिना इसके साहित्यिक जीवन में गंभीरता का आना संभव नहीं, खासकर उनका जीवन जिन्हें चौबीसों घंटे अपने पाठकों, लेखकों और आलोचकों के विचारों, भावनाओं और समीक्षाओं को सुनना है और सुनकर ठोस उत्तर देना है। अतः उन्होंने जो कुछ आलोचनाएँ कीं और टिप्पणियाँ दी थीं वे सब बड़े महत्त्व की हैं। यह बात दूसरी है कि उनसे अद्र्ध शताब्दी आगे बढ़कर जब हम उनका मूल्यांकन करने लगे तो आज हमें वे हलके लगें। लेकिन मूल्यांकन करते समय देश-काल का ध्यान रखना भी उचित है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने समालोचना के दो मार्ग बताए हैं। वे लिखते हैं:—'समालोचना के दो प्रधान मार्ग होते हैं; निर्णयात्मक (Judicial) और व्याख्यात्मक (Inductive)। गेले और स्कॉट के आधार पर उन्होंने यह वर्गीकरण किया है। इन दोनों मार्गों की व्यवस्था भी उन्होंने की है। निर्णयात्मक आलोचना किसी रचना का गुण-दोष निरूपित करके उसका मूल्य निर्धारित करती है। उसमें लेखक या कवि की कहीं प्रशंसा होती है, कहीं निंदा। व्याख्यात्मक आलोचना किसी ग्रंथ में आई हुई बातों को एक व्यवस्थित रूप में सामने रखकर उनका अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण करती है। यह मूल्य निर्धारित करने नहीं जाती। ऐसी आलोचना अपने शुद्ध रूप

में काव्य-वस्तु तक ही परिमित रहती है। अर्थात् उसके अंग-प्रत्यंग की विशेषताओं को ढूँढ़ निकालने और भावों की व्यवच्छेदात्मक व्यवख्या करने में प्रस्तुत रहती है। पर इस व्याख्यात्मक समालोचना के अंतर्गत बहुत-सी बातों का विचार होता है—जैसे, राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक परिस्थिति आदि का प्रभाव। ऐसी समीक्षा को ऐतिहासिक समीक्षा (Historical Criticism) कहते हैं। (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० सं०—526–27)।

वे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को पहली कोटि में रखते हैं। उनका संकेत (कालिदास की आलोचना) की ओर है। हिंदी साहित्य में शायद यह पहली आलोचना-पुस्तक थी जिसके लेखक आचार्य द्विवेदी ही थे। शुक्ल जी के अनुसार इसमें दोषों का ही उल्लेख हो सका, गुण नहीं ढूँढ़े गए।

चाहे जो हो, इतनी बात तो अवश्य हुई कि आचार्य द्विवेदी जी ने समालोचना का एक मार्ग निर्धारित किया जिस पर आलोचना का काम होने लगा।

द्विवेदी जी आलोचनाओं के संबंध में श्री गुलाबराय ने तीन बातों पर विचार करना आवश्यक बताया है। (1) उनके आलोचना संबंधी सिद्धांत, (2) उनकी लिखी आलोचनाएँ, और (3) आलोचकों में उनका स्थान।

द्विवेदी जी के आलोचना संबंधी विचार 'सरस्वती' पत्रिका में समय-समय पर लिखे गए निबंधों में प्राप्त होते हैं। ऐसे निबंधों के कई संग्रह भी निकले जिनमें रसज्ञ-रंजन प्रमुख है। उनमें कविता, कवि-कर्तव्य, कविता की भाषा, नायिका भेद, नल का दुस्तर दूत कार्य आदि निबंधों को संकलित किया गया है।

कर्तव्य शीर्षक निबंध में वे लिखते हैं:—

"छंद, अलंकार, व्याकरण आदि तो गौण बातें हुईं, इन्हीं पर ज़ोर देना अविवेकता प्रदर्शन के सिवा और कुछ नहीं। ··किसी पुस्तक या प्रबंध में क्या लिखा गया है, जिस ढँग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं, यदि नहीं तो उससे पुरानी ही बातों को नए ढँग से लिखा है या नहीं—यही विचारणीय विषय है।"

साथ ही द्विवेदी जी किसी काव्य का गुण-दोष बतलाना भी समालोचक का कर्तव्य समझते थे। केवल एक शर्त थी, वह यह कि आलोचक कवि से व्यक्तिगत रूप से द्वेष-भावना नहीं रखे। इसी के आधार पर उन्होंने महाकवि कालिदास तथा अन्य संस्कृत कवियों की आलोचनाएँ कीं। ऐसा करने में उन्हें रवींद्रनाथ ठाकुर, अरविंद घोष, ईश्वर चंद्र विद्यासागर प्रभृति विद्वानों से प्रेरणाएँ मिली थीं, लेकिन द्विवेदी जी की इस ढँग की आलोचना में एक बात खटकने वाली थी। केवल दोष दर्शन से आलोचना में एकांगिता आ जाती है। इससे पाठक के सामने केवल कृति का अंधकार पक्ष ही आता है। फिर अंधकार में पड़े प्राणी को प्रकाश चाहिए न कि निविड़ अंधकार। यदि दोष के साथ ही गुणों का भी वर्णन होता है तो आलोचना श्रद्धा की वस्तु बन जाती है, अन्यथा उसका मूल्य बहुत कम हो जाता है।

द्विवेदी जी ने साहित्यिक और राजनीतिक दोनों विषयों पर आलोचनाएँ लिखी थीं। जो कुछ भी उन्होंने लिखा उनमें उनकी शक्ति का परिचय मिलता है। अपने क्षेत्र में वे पूर्णतया निर्भीक थे, उनमें पांडित्य था, सतर्कता थी, विषय-विवेचन का सूक्ष्म ज्ञान था, साथ ही अपनी बात मनवाने का दृढ़ हठ भी था। जो उनका कहा नहीं मानता, उसे वे अपने व्यंग्य वाणों से बेधे बिना नहीं रहते। ऐसे थे द्विवेदी जी!

आलोचकों में द्विवेदी जी का स्थान निर्धारित करना आसान काम नहीं है। यों भी किसी साहित्यकार का साहित्य में स्थान निर्धारित करना कठिन काम है—तुलसी का पत्ता, क्या छोटा, क्या बड़ा—सब भगवान के मंदिर में समान संमान का अधिकारी होता है। फिर यह काम बड़े-बड़े विज्ञ आलोचक ही कर सकते हैं। मेरे जैसे लोग द्विवेदी जी का ऐतिहासिक महत्व मानते हैं। वे हिंदी-भवन के उन निर्माताओं में से थे जिन्होंने आरंभ की ईंट जोड़ी थी और बाद में चल कर जिसके आधार पर इतने विशाल महल का निर्माण हुआ। वे उस दिशा-संकेतक स्तंभ के समान थे जो पथिक को भूल से बचाता है, निर्दिष्ट मार्ग देता है। उन्होंने हिंदी के पाठकों, लेखकों और आलोचकों का निश्चित दिशा-निर्देश किया। उनके समकालीन आलोचकों में पंडित पद्मसिंह शर्मा और मिश्रबंधु प्रमुख थे।

द्विवेदी जी जिस समय हिंदी के क्षेत्र में आए थे उस समय विदेशों में भी आलोचना का आदर्श निश्चित नहीं हुआ था। द्विवेदी जी पर प्राचीन संस्कृत आलोचकों का प्रभाव था। साथ ही आधुनिकता के प्रकाश में जो कुछ भी उन्हें विदेशों से मिला उन्होंने ग्रहण किया। उन पर अपने समय का भी प्रभाव था। वे हिंदी, अँग्रेज़ी, मराठी, गुजराती, संस्कृत और उर्दू के भी ज्ञाता थे। आलोचना के क्षेत्र में एक दूसरे पर आक्षेप करने की जो प्रवृत्ति काम कर रही थी, द्विवेदी जी भी उससे अछूते नहीं रह सके।

किंतु इस सत्य पर ध्यान देना आवश्यक है कि यद्यपि मिश्र बंधुओं से द्विवेदी जी का बराबर वाद-विवाद होता रहा तो भी दोनों के आलोचना संबधी आदर्श कुछ बातों में मिलते थे। पंडित पद्मसिंह शर्मा और द्विवेदी जी दूसरों की हँसी उड़ाने में एक से थे, किंतु द्विवेदी जी का शास्त्रीय पक्ष अधिक सबल हुआ करता था। हास्य और व्यंग्य के साथ भी द्विवेदी जी संयमी थे।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल भारतीय आलोचना मार्ग में उनके समान थे, पर उनका विदेशी साहित्य-शास्त्र का अध्ययन भी गंभीर था। इसलिए उन्होंने समन्वयात्मक मार्ग अपनाया और इसी कारण वे मौलिक आलोचक कहलाए। शुक्ल जी भी निर्दोष नहीं थे, वे भी कबीर जैसे ज्ञानमार्गी संत के साथ न्याय नहीं कर सके। यही बात छायावाद के साथ भी लागू होती है।

फिर भी इसे विस्मरण कैसे किया जाए कि जिस युग में आचार्य द्विवेदी जी पैदा हुए, वह युग ही अव्यवस्था का था। और एक ऐसी परिस्थिति में उन्होंने आने वाली पीढ़ी को आलोचना करना सिखलाया।

हिंदी का यह क्षेत्र तो अब सर्वाधिक उर्वर हो गया है और आलोचना के क्षेत्र में भी विभिन्न वादों का प्रवेश हो चुका है। इससे जहाँ एक ओर पक्षपात और एकांगिता का खतरा है, वहाँ दूसरी ओर बड़ी-बड़ी शुभ संभावनाएँ भी हैं।

इस विकास के लिए हम आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को अर्घ्य चढ़ाए बिना नहीं रह सकते।

द्विवेदी : महान आलोचक

ए० एस० सुलोचना

साहित्यकार अपने युग की परिस्थितियों से निर्मित होता है। अतः उसके युग में जो कुछ गुज़रता है, उसका प्रभाव उस पर पड़ता है। उसका मस्तिष्क उन्हीं बातों पर विचार करता है। विचार करते-करते उसे अच्छाई और बुराई की पहचान भी होती है। अच्छी बातों को स्थाई रूप देने का वह भरसक प्रयत्न करता है। अच्छे विषयों की आलोचना करना उसकी प्रशंसा करना आसान है, मगर ग़लत, अनुचित तथा बुरे विषयों की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करना तथा उसे इस तरह सुधारना कि लिखने वाले तथा पढ़ने वाले दोनों के मन को आघात न पहुँचे, बहुत ही महान कार्य है। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने ऐसे ही काम को सफलतापूर्वक करके दिखाया।

पंडित जी ने देखा कि भाषा की उन्नति के बदले अवनति हो रही है। किसी को अच्छी हिंदी का ज्ञान नहीं है। सब लोग मनमाने ढंग से लिखते थे। यह उनसे देखा न गया। उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका में इस बारे में अनेक लेख लिखे तथा व्याकरण की ग़लतियों का सुधार किया। अनेक लोगों को शुद्ध भाषा लिखने का प्रोत्साहन दिलाया। अगर द्विवेदी जी का आविर्भाव उस समय न होता तो शायद ही आज हिंदी को इतना ऊँचा स्थान मिलता।

पंडित जी की इतनी सफलता का कारण उनकी शैली ही है। उन्होंने ऐसी सरल, सुगम शैली अपनाई जो सब की समझ में आने वाली थी। सरल से सरल भाषा में एक ही बात को कई ढंग से कभी-कभी कई बार दुहराते थे, जिस तरह हम छोटे बच्चों को समझाते हैं। इससे किसी-किसी को उनकी शैली अच्छी न लगती थी, फिर भी उनकी भाषा की सुगमता, सरलता तथा शुद्धता के कारण लोग उनको पढ़ते थे।

द्विवेदी जी जैसे महान पत्रकार तथा व्याकरणविद् विद्वान के हाथों में जाकर 'सरस्वती' में भाषा संस्कार का अभूतपूर्व कार्य हुआ उसका पूरा-पूरा श्रेय पंडित जी ही को है। खासकर उस समय पंडित जी को यह काम करना पड़ा जब कि सारा समाज, अँग्रेज़ी साहित्य, सभ्यता तथा संस्कृति की ओर झुकता जा रहा था। अँग्रेज़ी पढ़ना, अँग्रेज़ी सभ्यता का अनुकरण करना, उसी के साहित्य की प्रशंसा करना तथा उसी में लीन रहना ही जब फैशन समझा जा रहा था, द्विवेदी जी ने हिम्मत के साथ लड़खड़ाती हुई हिंदी को ठीक करके, उसे साहित्यिक रूप देकर लोगों के सामने खड़ा किया। अँग्रेज़ी की ओर झुके हुए कई नवयुवकों को हिंदी की ओर खींचने का महान कार्य पंडित जी ने किया।

धीरे-धीरे हिंदी गद्य साहित्य की वृद्धि होने लगी। खासकर सरस्वती पत्रिका के प्रकाशन तथा काशी की नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के उपरांत हिंदी की दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि होने लगी। भाषा में गांभीर्य, शुदधता, तथा क्लिष्टता आई, शक्ति आई तथा विभिन्न प्रकार की शैलियों का जन्म हुआ।

भारतेंदु के समय से ही साहित्यिक समालोचनाएँ होने लगी थीं, पर पंडित जी के समय में उसका रूप निश्चित हुआ। पंडित जी की समालोचनाएँ निर्णयात्मक होती थीं। 'सरस्वती' में केवल पुस्तकों की ही नहीं, परंतु हिंदी तथा संस्कृत के कुछ कवियों की भी पंडित जी ने आलोचनाएँ लिखीं। उनकी चलाई हुई समीक्षा प्रणाली का आज भी अनुकरण हो रहा है। उनकी समालोचनाएँ भाषा की गड़बड़ी को दूर करने में तथा संयत होकर लिखने में सहायक हुईं।

समालोचना का काम बहुत महत्त्वपूर्ण है और उसे सफलतापूर्वक निभाना सबका काम नहीं है। द्विवेदी जी के निबंधों में विचारों की योजना कहीं-कहीं विश्रृंखल हो गई है। संपादन कार्य में अधिक व्यस्त रहने के कारण उनके स्वतंत्र लेखों में विश्रृंखलता दष्टिगोचर होती है। अतः संतों की वाणी याद करके हमें शुद्ध अमृत का पान करके पानी को छोड़ देना चाहिए।●

काव्य

आचार्य द्विवेदी के 'रस'-संबंधी विचार

नंददुलारे बाजपेयी

रस-संबंधी नवीन विवेचन के कुछ उपकरण भारतेंदु युग से दृष्टिगत होने लगते हैं--परंतु इन्हें विवेचन की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त नहीं है। वास्तव में युगीन भावना के अनुरूप भारतेंदु-युग के कुछ लेखकों ने कुछ नई बातें कहीं हैं। स्वयं भारतेंदु ने अपनी 'नाटक' नामक पुस्तक में 'कौतुक', 'सामाजिक संस्कार' और 'देशवात्सल्य' को श्रृंगार और 'हास्य' के साथ नाटक का प्रतिपाद्य बताया है। श्रृंगार और हास्य तो ठीक है—परंतु 'कौतुक' नया शब्द है—जिसके द्वारा नाटक की कथा-योजना का ही इंगित होना है। समाज सुधार और देशवात्सल्य-नाट्य-सामग्री मात्र है जिससे नाट्य की कथा का निर्माण होता है--नाटक की सामग्री प्रस्तुत की जाती है। इनका विनियोग सीधे इस तत्व से नहीं होता। ये जीवन पक्ष की वस्तुएँ हैं--जिनकी कल्पना के माध्यम से काव्य का नाट्य रूप में परिणमन होता है और इस परिणमन के पश्चात् ही रस की स्थिति आती है। भारतेंदु जी के समसामयिक लेखकों ने भी इसी परिधि में रहकर अपने विचार व्यक्त किए हैं। हम कह सकते हैं कि रीति-कालीन काव्य की कलापक्षीय प्रवृत्तियों के विरुद्ध यह एक नए आंदोलन का आरंभिक विकास था, परंतु इसमें शास्त्रीय विवेचना की गंभीरता नहीं आ सकी थी। नए प्रस्ताव रखे जा रहे थे, परंतु उनके समर्थन के लिए जो विवेचन अपेक्षित थे, उनका कोई तर्क संगत या प्रामाणिक स्वरूप उद्घाटित नहीं किया जा सका। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि भारतेंदु युग में नई सामाजिक चेतना रचनात्मक साहित्य में जितने उत्साह और उल्लास से संलग्न हुई थी, उतनी विवेचना के कार्य में नहीं। कदाचित् यही कारण है कि भारतेंदु युग में समीक्षात्मक निबंधों की कमी दिखाई देती है।

बीसवीं शताब्दी का आरंभ होने पर हिंदी साहित्य में विचार-पक्ष की प्रौढ़ता आने लगी। द्विवेदी युग के लेखकों ने साहित्य समीक्षा के संबंध में लिखना आरंभ किया और धीरे-धीरे साहित्य संबंधी विशेष दृष्टिकोण निर्मित होने लगा। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस दृष्टिकोण के निर्माण में विशेष रूप से योग दिया। द्विवेदी जी शास्त्रीय विचारक उतने नहीं थे, जितने एक स्वतंत्र लेखक। अतएव काव्य शास्त्र के संबंध में उन्होंने कतिपय फुटकर निबंध ही लिखे हैं। उनका मुख्य क्षेत्र व्यावहारिक समीक्षा का ही रहा है। रस के सैद्धांतिक विवेचन में उन्होंने विशेष रुचि नहीं दिखाई। काव्य की भाषा आदि पर उनके निबंध अधिक उल्लेखनीय है। प्राचीन कवियों की कतिपय विशेषताओं पर उन्होंने अच्छा प्रकाश डाला है, किंतु उसमें भी सैद्धांतिक पक्ष या प्रश्न पर जमकर विचार करना उनके समीक्षा कार्य में संमिलित नहीं है। रीतिकालीन कवियों की भर्त्सना और भारतेंदु हरिश्चंद्र आदि की प्रशंसा उन्होंने अवश्य की है! 'हिंदी नव रत्न' नामक ग्रंथ का विवेचन करते हुए उन्होंने कतिपय साहित्यिक आदर्शों का संकेत किया है। साहित्य का संबंध मानव जीवन के उन्नयनकारी तथ्यों एवं तत्वों से होना चाहिए। काव्य में सरलता का गुण अपेक्षित है ताकि अधिक से अधिक जन-समाज के लिए उपादेय हो सके, इस प्रकार के उल्लेख उन्होंने किए हैं। हम कह सकते हैं कि

साहित्य के आदर्शोन्मुख स्वरूप पर उनकी दृष्टि केंद्रित थी, यद्यपि काव्य-चमत्कार और उक्ति भंगिमाओं पर भी वे सदैव ध्यान रखते थे। इस प्रकार एक नए साहित्यादर्श की रूपरेखा द्विवेदी जी और उनके सहयोगियों के प्रयत्न से निर्मित हुई थी। परंतु नए साहित्यादर्श की रूपरेखा का निर्माण एक बात है और उसे एक सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित करना दूसरी बात है। द्विवेदी जी ने साहित्यादर्श की नवीनता तो अवश्य प्रतिष्ठित की, परंतु उसे सैद्धांतिक समग्रता कुछ समय पश्चात् आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी के साहित्यिक निबंधों और ग्रंथों द्वारा ही प्राप्त हो सकी।

यहाँ हम आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की 'वाग्विलास' पुस्तक की 'निवेदन' शीर्षक भूमिका में आई हुई इन पंक्तियों को उद्धृत करते हैं—इनसे रस संबंधी द्विवेदी जी के विचारों का कुछ आभास मिलता है। वे लिखते हैं:—

'मनुष्य का हृदय अनेक विकारों का आकार है। यों तो वे सुप्त अवस्था में रहते हैं, पर कारण उपस्थित होते ही जागृत हो उठते हैं। उनके जागरण से मनुष्य तद्नुकूल व्यवहार करने लगता है। यह जागरण जितना ही उद्दाम या प्रबल होता है—मानवीय व्यवहार भी उतना ही कठोर हो जाता है। इस जागृत विकारों का ही नाम 'रस' है। काव्य शास्त्र में इन्हीं की संज्ञा रस है। इनकी प्रेरणा से जो काम होते हैं—उनके कुछ चिह्न भी मनुष्य में प्रकट हो जाते हैं। चाहें तो आप इन्हीं को अनुभाव कह सकते हैं।'

रस विषयक इस संक्षिप्त उल्लेख की ओर दृष्टिपात करते ही हमें कुछ बातों का अनायास परिचय मिलता है। पहली बात यह है कि इस उद्धरण की शब्दावली शास्त्रानुमोदित या परंपरागत नहीं है। नवीन विवेचन की भूमिका पर भी इसमें सुसंबद्ध विचार नहीं आए हैं। मनुष्यों के हृदय में वासना रूप से कतिपय मनोभाव प्रकट रूप से विद्यमान रहते हैं। काव्याध्ययन के द्वारा वे सुप्त भाव प्रसंगानुकूल जागृत होते हैं और काव्यास्वाद की सृष्टि करते हैं—यह काव्यास्वाद ही 'रस' है। वासना रूप में संस्थित इन स्थायी भावों का जागरण कवि के काव्यवैशिष्ट्य के अनुसार कभी अतिशय तीव्र और कभी अपेक्षाकृत मंद हो सकता है। परंतु प्रत्येक स्थिति में आस्वाद की भूमिका तो समरस रहती है। द्विवेदी जी ने इस आस्वाद के एक दूसरे पक्ष पर भी ध्यान दिलाया है। मानवीय व्यवहार का काव्यास्वाद से प्रभावित होना और तदनुरूप बन जाना। जिस काव्य में यह प्रेरणा शक्ति जितनी अधिक होगी—मानवीय व्यवहार उससे उतना ही अधिक प्रभावित होगा—रस संबंधी यह विवेचना शास्त्रीय शब्दावली में अभिव्यक्त न होकर भी नवीन है। रस की शास्त्रीय धारणा आवरण-भंग जनित आत्म तत्त्व के उन्मीलन पर आश्रित है—रस विशुद्ध आनंदमूलक होता है। आनंद ही काव्य की चरम-उपलब्धि है। परंतु द्विवेदी जी आनंद का उतना आग्रह नहीं करते, जितना काव्यास्वाद के पश्चात होने वाले मानवीय व्यवहार का करते हैं। स्पष्ट है कि काव्य की और उसके मूल तत्त्व रस की यह विवेचना वास्तविक नहीं है—केवल व्यवहाराश्रित है। काव्य ही क्यों—अन्य अनेक प्रकारों से मानव व्यवहार का नियमन किया जा सकता है। वैसी स्थिति में काव्य की अपनी स्वतंत्र-सत्ता और रस का अपना निर्विरोध आनंद अतिशय गौण हो जाता है और कविता केवल मानव-व्यवहारों को किसी विशेष दिशा में ले जाने का साधन बन जाती है। रस की यह उपयोगितावादी व्याख्या द्विवेदी जी से ही आरंभ होती है और आगे चलकर यह अनेकोनेक रूपों में परिणत होती है।

यहाँ द्विवेदी जी ने रसास्वाद के पश्चात् सहृदय में प्रकट होने वाले किन्हीं अनुभावों का उल्लेख किया है। रस संबंधी शास्त्रीय विवेचना में विभाव, अनुभाव आदि में स्थायी भाव की पुष्टि होती है और तब सहृदय को काव्य में रस बोध होता है अतः अनुभाववादी रस की परिवर्तिनी विषय वस्तुएँ नहीं हैं वरन् उसकी पूर्ववर्तिनी हैं। यहाँ भी द्विवेदी जी ने शास्त्रीय विवेचन का आधार न लेकर काव्य के प्रेरणापक्ष को—व्यवहार के परिप्रेक्ष्य को अपने समक्ष रखा है। यह दृष्टि नवीन है, परंतु यह क्रमागत विचारणा से भिन्न है और इसमें नवीन शास्त्रीय विवेचना और शब्दावली का प्रयोग नहीं है। आगे चलकर आचार्य शुक्ल जी ने नए विचारों को संतुलित रूप में रखने का उद्योग किया है।●

द्विवेदी जी की काव्य-परिभाषा और काव्य स्वरूप का विवेचन

इंद्रनाथ चौधुरी

आधुनिक युग के प्रारंभिक काल में राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्रेरित हिंदी के विद्वानों ने, संस्कृत-काव्यशास्त्र का गंभीर अध्ययन प्रारंभ किया था। समय की गति के साथ-साथ इन विद्वानों ने यह अनुभव किया कि संस्कृत काव्य-शास्त्र में कवि पक्ष तथा उनके कर्म के बहुत-से पहलू अछूते पड़े हुए हैं और उनका पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन आवश्यक है। इस भावना को प्रारंभिक रूप देने वाले प्रथम विद्वान थे, महावीरप्रसाद द्विवेदी। सैद्धांतिक आलोचना के क्षेत्र में महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'नाट्यशास्त्र' (सन् 1920) और 'रसज्ञ-रंजन' (सन् 1920) विशेष उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। इनमें से 'रसज्ञ-रंजन' में उन्होंने स्फुट निबंधों में काव्य-विषयक चर्चा की है। इन दोनों कृतियों के अतिरिक्त उन्होंने अपने 'विचार-विमर्श' (सन् 1932), 'समालोचना-समुच्चय' (सन् 1928), 'आलोचनांजलि' (सन् 1928) आदि अन्य निबंध-संग्रहों में भी स्वतंत्र अथवा प्रासंगिक रूप से काव्य-सिद्धांत की चर्चा की है। द्विवेदी जी ने भाषा, छंद, अनुवाद-कार्य का महत्त्व, काव्य स्वरूप आदि अनेक विषयों का विस्तृत विवेचन किया है। सैद्धांतिक आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने मूलतः संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का ही आधार ग्रहण किया है तथापि युगचेतना के प्रभावस्वरूप पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आधार पर प्राचीन नियमों का नवीन ढंग से विवेचना करना भी नहीं भूले हैं। द्विवेदी जी की काव्य-परिभाषा तथा काव्य-स्वरूप का विवेचन करने से उनकी काव्यगत मान्यताओं के संबंध में हम एक धारणा बना पाते हैं और काव्यशास्त्र के अध्ययन की दिशा में उनके योगदान से परिचित होते हैं।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'रसज्ञ-रंजन' में ही कविता की तीन परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं जो निम्नलिखित हैं :––

'नाना प्रकार के विकारों के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते, तब वे आप ही आप मुख से निकलने लगते हैं। अर्थात् मनोभाव शब्दों का रूप धारण करते हैं। यही कविता है चाहे वह पद्यात्मक हो चाहे गद्यात्मक।' एवं––

'जो बात असाधारण और निराले ढंग से शब्दों द्वारा इस तरह प्रकट की जाए कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसी का नाम कविता है।'[1] एवं––

---

[1]––रसज्ञ-रंजन, पृ० 39, 'हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास' में उद्धृत।

"किरण की चित्र का नाम कविता है ।"[2]

कविताओं की इन परिभाषाओं को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी जी कविता को मनोभावों का वाङ्मय स्वरूप, गद्य-पद्यमय, निराली अभिव्यक्ति तथा चित्रमय मानते हैं । साथ ही द्विवेदी जी के अन्याअन्य कथनों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें कविता के लिए बोलचाल की सामान्य भाषा अधिक पसंद है[3] तथा गुणों के प्रति भी उनकी आसक्ति है ।[4] एक स्थान पर द्विवेदी जी चमत्कार को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं और कहते हैं कि शिक्षित कवि की कविता में चमत्कार का होना अत्यावश्यक है ।[5]

महावीरप्रसाद द्विवेदी के उक्त कथनों का विवेचन करने से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि कविता की परिभाषा तथा स्वरूप विषयक उनके मतामत पूर्णरूपेण स्वच्छंदतावादी पाश्चात्य लेखकों के मंतव्यों से प्रभावित हैं । जब वे कविता को मन में न समाने वाले मनोभावों का स्वाभाविक (आप ही आप) प्रकाश मानते हैं तो वस्तुतः वे वर्डस्वर्थ की बातों को ही अपने शब्दों में दोहरा देते हैं कि कविता बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन होती हैं । शांत अवस्था में भाव के स्मरण से उसका उद्भव होता है । उस भाव का भावन किया जाता है——यहाँ तक कि एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया द्वारा——शनैः-शनैः शांतता का लोप होकर वैसा ही भाव उत्पन्न हो जाता है जो पहले भावन का किया जा रहा हो और भाव वास्तव में मन में अस्तित्व ग्रहण कर लेता है । प्रायः ऐसी मनोदशा में सफल रचना का सूत्रपात होता है ।[6]

कोलरिज ने भी एक स्थान पर कविता के संबंध में यह कहा है कि सौंदर्य के माध्यम से प्रत्यक्ष आनंद प्राप्त करना ही कविता है जिसका आधार मनोभावों की उत्तेजना है ।[7] कवि के भीतर सामान्य व्यक्ति से कहीं अधिक मनोभावों की स्थिति रहती है ।[8] इस संबंध में हमें भी कोई आपत्ति नहीं क्योंकि कविता का वास्तविक आधार ही मनोभावों

---

[2] कविता कलाप की भूमिका, 'हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास' में उद्धृत ।

[8] इसी प्रकार जब बोलचाल की भाषा की कविता को या आजकल के और दूसरे पद्यों को साधारण लोग भी पढ़ने लगें तब समझना चाहिए कि कविता और कवि लोकप्रिय हैं । आजकल संस्कृतमयी कविता का रचा जाना और भी अधिक हानिकारक है । रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ 18 ।

[4] 'सादगी', असलियत और जोश यदि यह तीन गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है । परंतु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एक-आध गुण की कमी पाई जाती है——काव्य और कविता लेख ।

[5] शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार का होना परमावश्यक है । चमत्कार अलंकारमूलक भी हो सकता है एवं अभिव्यक्तिमूलक और औचित्यमूलक भी हो सकता है ——रसज्ञ-रंजन ।

[6] Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings; it takes its origin from emotion recollected in tranquillity. The emotion is contemplated till, by a species of reaction, the tranquillity gradually disappears, and an emotion, kindered to that which was before the subject of contemplation, is gradually produced, and does itself actually exist in the mind. In this mood successful composition generally begins.

Loci Critici, page 280.

[7] The excitement of emotion for the purpose of immediate pleasure through the medium of beauty—Biographia Literaria.

[8] A more than usual state of emotion, Loci Critici, p. 309.

का वाङमय प्रकाश होता है[9] परंतु द्विवेदी जी जब यह कहते हैं कि जो मनोभाव मन में नहीं समाते वे ही शब्दों का रूप धारण कर कविता बन जाते हैं तो हमें आपत्ति करनी पड़ती है। आपत्ति का मुख्य कारण है कि कविता का संबंध मनोभावों की संपूर्ण-सत्ता के साथ है न कि उन मनोभावों के साथ जिनका कवि-हृदय में कोई स्थान नहीं। अँग्रेज़ी विद्वान टी० एस० इलियट का यह कहना है कि मन की अनुभूति तथा भावनाओं का संपूर्ण सामंजस्य ही कविता का रूप धारण करता है।[10] वस्तुतः कवि का मन असंख्य भावनाओं, पदावलियों, बिंबों के ग्रहण एवं संचयन के निमित्त एक आधान-पात्र की भाँति होता है और वे तब तक वहाँ रहते हैं जब तक वे सब घटक, जिनके संयोग से कोई नया यौगिक पदार्थ बन सकता हो, एक साथ एकत्र नहीं हो जाते। टी० एस० इलियट, वर्ड्सवर्थ की परिभाषा की आलोचना करते हुए अपने भावों को और भी स्पष्ट करते हैं। उनका कहना है कि शांत अवस्था में अनुस्मृत भाव का सूत्र मिथ्या है क्योंकि यहाँ न तो भाव है, न अनुस्मृति––यदि अर्थ को तोड़े-मरोड़े नहीं तो––न शांति। यह तो समाहरण है और अनेकानेक अनुभवों के समाहार से जनित एक नई वस्तु है।[11]

इसके अतिरिक्त महावीरप्रसाद द्विवेदी ने गद्य और पद्य की भाषा को एक माना है तथा बोलचाल की भाषा को ही कविता के लिए उपयुक्त माना है। यह विचार भी पूर्णरूपेण वर्ड्सवर्थ के ही हैं। वर्ड्सवर्थ ने स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया है कि कविताओं में मेरा उद्देश्य रहा है जन-साधारण के जीवन से घटनाओं तथा स्थितियों का चयन

---
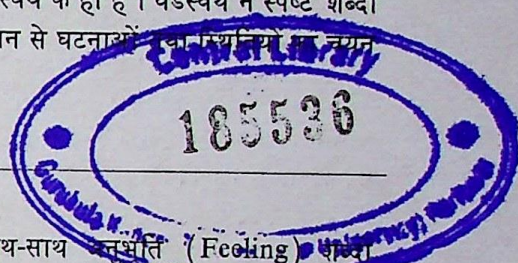
[9] वर्ड्सवर्थ तथा कालरिज ने मनोभाव (Emotion) के साथ-साथ अनुभूति (Feeling) शब्द का भी प्रयोग किया है और ऐसा लगता है कि उनके लिए मुख्यतः ये दो भिन्न पदार्थ हैं। सामान्यतया इस संबंध में दो मत हैं (1) अनुभूति तथा मनोभाव एक ही चीज़ हैं, (2) यह दोनों भिन्न पदार्थ हैं। भारतीय विद्वान इन दोनों को एक ही मानते रहे परंतु पाश्चात्य विद्वानों के लिए यह दोनों भिन्न पदार्थ रहे। वे मनोभावों को मानसिक अवस्था मानते हैं और अनुभूति को सुख-दुःखात्मक विचारों पर निर्भर मानते हैं। यद्यपि वर्ड्सवर्थ की परिभाषा में इन दोनों का सापेक्षिक संबंध स्पष्ट है इसी संबंध के आधार पर हमारा विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

[10] The poet's mind is in fact a receptacle for seizing and storing up numberless feelings, phrases, images, which remain there until all the particles which can unite to form a new compound are present together—'Tradition and the Individual talent' Selected Essays, p. 19.

[11] We must believe that 'emotion recollected in tranquillity is an inexact formula. For it is neither emotion, nor without distortion of meaning, tranquillity. It is a concentration and a new thing resulting from the concentration, p. 21.

उक्त पंक्तियों के उपरांत इलियट ने एक ऐसा वाक्य कह दिया जिससे उनके संबंध में धारणा ही बदल सकती है। उन्होंने कहा, Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape of emotion. वस्तुतः यह एक विरोधाभास है क्योंकि उनके संपूर्ण निबंध के पाठ के उपरांत यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त पंक्ति का मुख्य उद्देश्य यह व्यक्त करना था कि कविता अनावश्यक मनोभावों से पलायन है जिससे कि आवश्यक मनोभावों को कविता में स्थान मिल सके। उनके निबंध के एक वाक्य को प्रमाण के रूप में लिया जा सकता है—Very few know when there is an expression of significant emotion, emotion which has its life in the poem and not in the history of the poet. Page 22.

करना तथा उन्हें जनता के वास्तविक व्यवहार की भाषा से चुनी हुई शब्दावली में अभिव्यक्त करना।[12] और एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि यह निश्चित पूर्वक कहा जा सकता है कि गद्य और कविता की भाषा में न कोई मूल भेद है और न हो सकता है।[13] कालरिज ने वर्डस्वर्थ का विरोध करते हुए यह स्पष्ट कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी भाषा होती है जो वैयक्तिक वर्गगत और सार्वजनिक तत्वों से युक्त होती है। अतएव 'वास्तविक भाषा' जैसी कोई वस्तु नहीं है—'वास्तविक' के स्थान पर 'साधारण' शब्द का प्रयोग अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण तथा निम्न-वर्ग की जनता की भाषा का ग्रहण भी काव्य के लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता क्योंकि शिक्षा दीक्षा के अभाव में उसका विचार-क्षेत्र अत्यतं संकुचित होता है, अतएव उसकी अभिव्यक्ति के साधन सर्वथा सीमित तथा अस्पष्ट होते हैं।[14] गद्य और पद्य की भाषा के भेद को स्पष्ट करते हुए कालरिज ने कहा है कि छंद का आविजीव आवेग-दीप्ति के कारण होता है, अतः यह आवश्यक है कि छंदोमयी रचना का भाषा भी सर्वत्र आवेगदीप्त हो।[15] छंद ही कविता का उचित परिच्छेद होता है और बिना छंद की कविता अपूर्ण एवं सदोष रह जाती है।[16] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता का सबध छद से है जिसका आविर्भाव आवेगदीप्ति के कारण होता है। फलतः कविता की भाषा आवेगमय होती है जो अनिवार्यतः गद्य की भाषा से भिन्न है।

जहाँ तक महावीरप्रसाद द्विवेदी कविता को 'निराली अभिव्यक्ति' मानते हैं वहाँ विवेचन के लिए कोई अव-काश नहीं क्योंकि 'निराली' से उनका क्या तात्पर्य है यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। कविता की भाषा को चित्रमय मानने के संबंध में हमारा यह कहना है कि द्विवेदी जी का यह मत भी हूबहू वर्डस्वर्थ से मिलता है। वर्डस्वर्थ का कहना है कि कविता और चित्रकला के साम्य के निरूपण का हमें चाव है और इस साम्य-निरूपण के फलस्वरूप हम उन्हें स्वर्गीय कलाएँ कहते हैं।[17] चित्रमय भाषा कविता का एक धर्म है और परिभाषा में केवल इसके संबंध में कहने से यह तात्पर्य निकलता है कि अन्यान्य धर्मों के स्थान पर आलोचक केवल इस पर ही गुरुत्व आरोपित करना चाहता है। जो अनुपयुक्त ही सिद्ध होगा। चित्रात्मकता के आधिक्य से काव्यवस्तु (Poetic statement)

---

12 The principal object, then proposed in these poems was to choose incidents and situations from common life, and to relate or describe them, throughout, as far as was possible in a selection of language really used by men——Preface to lyrical Ballads, Loci Critici, Page 264.

13 It may be safely affirmed, that there neither is, nor can be any essential difference between the language of prose and metrical composition—*Ibid*, Page 269.

14 Everyman's language has, first its individualities, secondly the common properties of the class to which he belongs and thirdly words and phrases of universal use........ For 'real' therefore we must substitute, ordinary, or lingua communis——Biographia Literaria, Chap. XVII, Loci Critici, p. 319.

15 As the elements of metre owe their existence to a state of increased excitement, so the metre itself should be accompanied by the natural language of excitement. Biographia Literaria Chap. XVIII, P. 326.

16 Metre the proper form of poetry, and poetry imperfect and defective without metre. *Ibid*, p. 331.

17 We are fond of tracing the resemblance between poetry and painting, and accordingly, we call them sister, Loci Critici, p. 269.
महावीरप्रसाद द्विवेदी का कहना है चित्रकला और कविता का घनिष्ठ संबंध है। दोनों में एक प्रकार का अनोखा सादृश्य है। दोनों का काम भिन्न-भिन्न प्रकार के दृश्यों और मनोविकारों को चित्रित करना है। जिस बात को चित्रकार चित्र द्वारा व्यक्त करता है, उसी बात को कवि कविता द्वारा व्यक्त कर सकता है। कविता भी एक प्रकार का चित्र है। कविता-गत किसी भाव को चित्र द्वारा स्पष्ट करने से भी उसकी वृद्धि होती है—कविता-कलाप की भूमिका।

के वर्णन में बाधा पहुँच सकती है और संपूर्ण कविता विंबों का भग्नस्तूप प्रतीत हो सकती है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने एक स्थान पर गुणों पर भी काफ़ी गुरुत्व आरोपित किया है। इस संबंध में हमें इतना ही कहना है कि गुण काव्य के उत्कर्ष-साधन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है परंतु गुण के अभाव से काव्यत्व की हानि नहीं होती है। यह काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने काव्य की परिभाषा के संबंध में और एक बात कही है कि शिक्षित कवि की कविता में चमत्कार का होना अत्यावश्यक है। यद्यपि चमत्कार से उनका क्या तात्पर्य है यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। अभिनव गुप्त ने शैव सिद्धांत के आधार पर इस की व्याख्या करते हुए चमत्कार शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार स्थायी भाव 'वीतविघ्न प्रतीतिग्राह्य' होकर रसत्व को प्राप्त करता है और वह विघ्नों से सर्वथा रहित प्रतीति चमत्कार कहलाती है। और उससे उत्पन्न होने वाले कंप और रामांचोदय आदि विकार भी चमत्कार कहलाते हैं। भोग करने वाले के, अद्भुत भोगात्मक व्यापार से आविष्ट मन का चमत्कृत हो जाना ही 'चमत्कार' कहलाता है अर्थात् रसानुभूति तथा उससे जन्य पुलकादि दोनों के लिए चमत्कार शब्द का प्रयोग होता है। और वह साक्षात्कारात्मक मानस अध्यवसाय, या संकल्प, अथवा स्मृति, इस रूप से प्रतीत हो सकता है।[18] इस प्रकार अभिनव गुप्त के अनुसार चमत्कार चित्त के आह्लाद तथा वस्तु और अर्थ के साक्षात्कार का द्योतक है। विश्वनाथ ने रस के स्वरूप की व्याख्या करते हुए 'चमत्कार' शब्द का व्यवहार किया है और उनके अनुसार यह चित्त का विस्तार—जिसका दूसरा नाम विस्मय है—का द्योतक है।[19] काव्यानंद के साथ विस्मय की मिश्र भावना का उद्रेक होता है। धर्मदत्त के ग्रंथ से दो पंक्तियाँ उद्धृत कर विश्वनाथ ने अपने वक्तव्य का समर्थन किया है कि रस का सार है चमत्कार जो रस में सर्वत्र ही अनुभूत होता है और उस चमत्कार का सार है अद्युत[20] रस। विदेश के सौंदर्यशास्त्र में भी सौंदर्यानुभूति में विस्मय (Wonder) का तत्त्व अनिवार्य माना गया है। इसका आशय यही है कि यह अनुभूति स्थूल न होकर सूक्ष्म है। प्रत्यक्षता के अतिरिक्त इसमें बौद्धिकता भी वर्तमान रहती है, डेकार्टे ने यही बात कही है।[21] परंतु यह निश्चित है कि 'चमत्कार' अथवा 'अद्युत' रस का स्थान नहीं ले सकता यह रस का अंतर्गुण मात्र है इससे अधिक नहीं। और फिर 'अद्युत' सब रसों का सार नहीं हो सकता क्योंकि सर्वत्र विस्मय का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार परिभाषा में रस अथवा आनंद के स्थान केवल मात्र चमत्कार अथवा अद्युत का प्रयोग उचित नहीं।

कविता की परिभाषा और उसके स्वरूप के संबंध में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जो-कुछ भी कहा है उससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि द्विवेदी जी पाश्चात्य स्वच्छंदतावादी आलोचक वर्डस्वर्थ से प्रभावित थे। उन्होंने काव्यगत अनुभूति को सबसे अधिक महत्त्व दिया और काव्य के लिए गद्य-पद्यमय भाषा को प्रमुखता देते हुए आधुनिक कविता के भावी स्वरूप को शास्त्रीय मान्यता प्रदान की। अनुभूति के साथ ही अभिव्यक्ति और अभिव्यक्ति के प्रमुख उपादान विंब-विधान को काव्य के लिए आवश्यक माना जो आधुनिक पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी काव्याभिव्यक्ति का प्रमुख उपादान माना जाता है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में 'चमत्कार' को महत्त्व देते हुए द्विवेदी जी ने अनुभूति की सूक्ष्मता और उसके साथ संयुक्त बौद्धिक भाव-पद्धति को भी महत्व दिया है।●

---

[18] अभिनव भारती, भाष्यकार, आचार्य विश्वेश्वर, 6/131 पृष्ठ 471।

[19] 'चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः', साहित्यदर्पण।

[20] 'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कार-सारत्वे सर्वत्राप्यद्युतो रसः॥'

[21] There are only six primary emotions, wonder, love, hatred, desire, joy and sadness. Wonder is a sudden surprise of the Soul. It leads to fixing of attention on what seems to be rare and extraordinary. It is caused by an impression in brain..........It is distinct from other emotions in as much as it is not accompanied by any charge in heart or blood..........It is related to brain only. It forms an element of almost all emotion. Descartes, explained by Dr. K. C. Pandey, Western Aesthetics, p. 198.

द्विवेदी जी की काव्य-सृष्टि

गंगाप्रसाद विमल

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 'गद्य भाषा के आचार्य' थे । निबंध, अनुवाद और पत्रकारिता के लेखन क्षेत्र में उन्होंने एक युग का समारंभ किया था ।[1] गद्य-भाषा को सुनिश्चित परिसंस्कृत[2] रूप देने का काम करने के साथ साथ गद्य और पद्य की एक भाषा[3] का समर्थन उन्होंने किया था । वे अपने आप कवि थे और कविता के पीछे उनके निहित उद्देश्य में कोई रहस्य नहीं था । अधिकांश कविताएँ किसी विशिष्ट उद्देश्य की परिपूर्ति मानी जा सकती हैं ।[4] उनका अनुवादक-व्यक्तित्व ही कविता में प्रतिबिंबित हुआ है । संस्कृत कविताओं की प्रतिच्छाया लेकर उन्होंने खड़ी बोलीं में भाषा के शुद्ध रूप के उदाहरण प्रस्तुत किए तथा ब्रजभाषा के प्रवाह को हिंदी में अनूदित करने का प्रयत्न किया था । वस्तुतः गहराई से देखने पर ज्ञात होता है कि कविता कविता के लिए न रचकर उन्होंने कविता को एक विशिष्ट अनुकरण के लिए आधार बनाया था । यह अनुकरण इतिहास-समय की अनिवार्यता के संदर्भ में सापेक्ष और नियत कहा जा सकता है । आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी एक 'मिशनरी' थे और वे अपने उस 'मिशन' के यंत्र थे जिसके अनुसार उनके द्वारा हिंदी का एक आधुनिक साहित्यिक व्यक्तित्व बनता है । अतः इस पूरे संदर्भ में उनकी कविताओं की सौंदर्यपरक व्याख्या और सर्वेक्षण हमारी सीमा है, उनके कवि-व्यक्तित्व तथा कविताओं की तथ्यात्मक आलोचना अभीष्ट नहीं ।

परंपरा के सूत्र और आधुनिक युगारंभ

हिंदी गद्य के आरंभ को साधारणतः हमारे साहित्येतिहासकार आधुनिक काल की संज्ञा देते हैं । गद्य विधा का जन्म आधुनिक काल के नामांकन के लिए पर्याप्त नहीं है, तथा इस प्रसंग में गद्य विधा का जन्म ही विवादास्पद होने

---

[1] महावीरप्रसाद द्विवेदी—युग प्रेरक साहित्यकार थे ।—आधुनिक हिंदी कवियों के काव्य सिद्धांत (डॉ० सु० च० गुप्त), पृष्ठ 97

[2] इन्होंने भाषा के परिष्कार में बहुत यत्न किए —खड़ी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास (ब्रजरत्न दास) पृ० 186 ।

[3] देखिए—हिंदी साहित्य का इतिहास (रामचंद्र शुक्ल)

[4] द्विवेदी जी का अधिकांश काव्य सौद्देश्य लिखा गया था ।—खड़ी बोली में अभिव्यंजना (आशा गुप्ता) पृ० 243 ।

के कारण आधुनिक काल की संज्ञा ठीक नहीं बैठती। भारतेंदु-पीढ़ी तक कविता में ब्रज के मुहावरे का जो प्रभाव था, गद्य में उप-क्रियाओं का जो रूप था, उसे परंपरा-प्रयोग का प्रभाव कहा जा सकता है। रोमांटिक कविता की एक परंपरा संस्कृत से होती हुई विदेशी सूत्रों के प्रभावों से अमुक्त होकर श्रीधर पाठक तक आती है और बाद में छायावादी कविता में एक नया संस्कार पाती है। द्विवेदी जी ने परंपरा के दोनों आधारों को नहीं स्वीकारा था। उन्होंने ब्रज भाषा के मुहावरे का हिंदी में अनुवाद किया था तथा क्रियाओं और उप-क्रियाओं के हिंदी रूप स्वीकारे थे। रोमांटिक-प्रवृत्ति उनके गद्य-व्यक्तित्व के अनुकूल नहीं थी इसलिए उनकी काव्य-रचना के परंपरा सूत्रों का कोई एक बिंदु ऐसा नहीं है, जिसे हम प्रेरणा के सूत्र या प्रभाव के सूत्र कह सकें। उनमें परंपरा के स्थूल रूप के प्रति भी लगाव कविता के संदर्भ में नहीं पाया जा सकता। भाषा का परंपरा सूत्र व्याकरण और भाषा का परंपरा सूत्र संस्कृति दो ऐसे आधार हैं जिन्हें सही अर्थों में आचार्य द्विवेदी ने व्याख्या दी है तथा उनके नवीनीकृत रूप सामने रखे हैं। इसलिए बीसवीं शताब्दी के आरंभ का साहित्यिक व्यक्तित्व और बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों का विश्वव्यापी प्रभाव आधुनिक काल की संज्ञा के अनुरूप क्षेत्र बनाता है। आधुनिक काल भी, बोध और संवेदना के स्तर पर नहीं, केवल गद्य-पद्य-भाषा-संस्कृति और राष्ट्रीयता के आधार पर कहा जा सकता है। भाषा-संस्कृति और राष्ट्रीयता की चेतना के तीनों तत्त्व द्विवेदीयुगीन काव्य रचनाओं में अपना सामयिक व्यक्तित्व लिए होते हैं। द्विवेदी युग की परंपरा का सच्चे अर्थों में वहन करने वाले राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त कहे जा सकते हैं। क्योंकि द्विवेदी युगीन भाषा प्रयोगों का स्वभाव और राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का संरक्षक उन्हें कहा जा सकता है।

काव्य का वस्तु चेतना, उपलब्धि का प्रथम चरण :

कविता में वस्तुवृत का महत्त्व मानकर द्विवेदी जी की काव्य रचना के संबंध में गंभीरता से विचार किया जा सकता है। 'वस्तु चेतना' का विस्तार उनकी गद्य रचनाओं में जितना है कविताओं में आनुपातिक दृष्टि से कम नहीं है। यह पूरा प्रसंग युगसंदर्भ में देखा जाए तो युगीन वस्तु-प्रवृत्ति को सामाजिक आधारों से अलग करके नहीं रखा जा सकता। आचार्य द्विवेदी समय के संदर्भों से भली भाँति परिचित थे। इसीलिए उनका वस्तुवृत न तो कोई रोमांटिक अवधारणा का आग्रह लिए हुए है और न ही किसी तरह के आध्यात्मिक-परिवेश की रचना करता है। इस दृष्टि से आचार्य द्विवेदी शास्त्रीय परंपरा के अनुगामी होते हुए भी अपने वर्तमान से विलग नहीं हैं। वर्तमान यथार्थ की उपेक्षा करना साहित्य को परिकल्पनाओं का एलबम बना देना है। द्विवेदी युग का 'वर्तमान यथार्थ' स्वाधीनता[5], हिंदी प्रेम[6], बाल विधवा समस्या[7], प्रकृति वर्णन[8], कांता सम्मति (उपदेशादि)[9], कविता की परिभाषा[10] भक्ति भावना[11], समाज सुधार[12] तथा महिमा गुणगान[13] की वस्तु चेतना तक कविता के संदर्भ में स्वीकृत रहा। गद्य

---

5. देखिए कविता—'जन्मभूमि में' (द्विवेदी काव्य माला) तथा 'हे स्वतंत्रते ! जन्म तुम्हारा कहाँ, बता यह प्रश्न हमारा'
   स्वतंत्रता—शूर देशहित तजते जहाँ प्राण जन्म मेरा है वहाँ (द्विवेदी काव्य माला)।
6. गुण ग्राम की आगरी नागरी है।
   प्रजा की जु सन्मानसोजागरी है। (द्विवेदी काव्य माला) पृ० 210
7. 'बाल विधवा विलाप' (द्विवेदी काव्य माला) पृ० 222
8. कुमुद पुष्प सुवास सुवासिता, वकुलचम्पक गंधविमिश्रिता। (द्विवेदी काव्य माला) पृ० 82
9. द्विवेदी काव्य माला—पृष्ठ 295
10. द्विवेदी काव्य माला—पृष्ठ 291
11. इष्ट देव आधार हमारे (द्विवेदी काव्य माला) पृ० 454
12. देखिए—देशोपालक और आर्यभूमि कविताएँ (द्विवेदी काव्य माला)
13. द्विवेदी काव्य माला—पृष्ठ 367

भाषा में वस्तु-वृत्त का विस्तार कुछ अधिक मिलता है। इसके साथ-साथ सामयिक-समस्याओं का छुट-पुट वर्णन द्विवेदी जी ने भी किया है किंतु मुख्य रूप से इसे आधार अन्य कवियों ने बनाया। स्पष्ट रूप से यह प्रभाव भारतेंदु युग की देन है, किंतु इसको द्विवेदी युगीन उपलब्धि के रूप में कई तरह से आँका जा सकता है। प्रथम द्विवेदी युग में आकर काव्य भाषा के निश्चित आधार, देश भाषा के निश्चित आधार तथा स्वदेश के प्रति प्रेम भावना का एक और ही रूप सामने आया, द्वितीय-भारतेंदु युग प्रयोग युग था जब कि द्विवेदी युग एक विशिष्ट दिशा निर्देश का युग कहा जा सकता है। भारतेंदु का व्यक्तित्व अपनी साहित्य रचना तथा मंडल वृत्त में प्रभावशाली रहा है। किंतु द्विवेदी जी के व्यक्तित्व ने कविता, कथा, निबंध तथा समालोचना आदि क्षेत्रों को प्रभावित और प्रेरित किया है। यह कहा जा सकता है कि वस्तु चेतना का क्षेत्र द्विवेदी युग में अधिक विस्तार पा गया था तथा काव्य कलाओं की अनेक विधाओं को ठोस रूप मिलने लग गया था। वस्तु चेतना का रुख 'प्रकृति की सुरम्य भाव प्रतिमा स्थापन' की ओर परवर्ती रचनाकारों ने मोड़ा, द्विवेदी जी ने उसे एक वस्तु व्यंजना के निहित उद्देश्य परक दायरे तक सीमित रखा। यह युग की प्रवृत्ति थी और उसका प्रतिनिधित्व स्वयं द्विवेदी जी करते थे। उन्होंने काव्य रचना की ओर अनेक लोगों को प्रेरित किया। काव्य रचना की वस्तु चेतना के संकेत लोगों को दिए, यहाँ तक कि 'सरस्वती' में प्रकाशित रवि वर्मा की कलाकृतियों पर कविताएँ स्वयं भी लिखीं तथा लोगों से भी लिखवाईं। धर्माडंबर, 'राजनैतिक स्थिति' तथा 'भारतीय संस्कृति के कथावृत्तों' का भी कहीं कहीं आंशिक रूप से उन्होंने आधार लिया किंतु मुख्य रूप से अन्य कवियों को प्रेरित किया। इस संक्षिप्त विवरण से आरंभिक हिंदी की विस्तृत वस्तु चेतना का अनुमान हम स्वयं लगा लेते हैं क्योंकि द्विवेदी जी की कविता में केवल परंपरागत काव्य-वर्ण्य-विषय ही नहीं थे अपितु उन्होंने अपने पूरे सामाजिक परिवेश से वर्ण्य विषय लिए थे।

कला चेतना, भाषा परिसंस्कार :

द्विवेदी जी की कविता को कलात्मक आधारों पर विद्वान उच्चकोटि की कविता नहीं मानते।[16] इस संबंध में द्विवेदी जी ने स्वीकारोक्ति भी दी है कि 'कविता का विषय मनोरंजक और उपदेशजनक होना चाहिए।'[15] फिर भी उन्होंने प्रकृति कविताओं में स्वच्छंद भाव से भाव व्यंजना की है क्योंकि 'प्रकृति के उपमानों की विभिन्न योजनाओं द्वारा भावों की व्यंजना की जाती है।'[16] वस्तुत: उनके युग की कला चेतना की सीमा भावों की यही अतिरिक्त व्यंजना मानी जा सकती है। जैसा कि डा० उदयभानु सिंह ने कहा है कि "आधुनिक हिंदी काव्य के इतिहास में उनकी कविताओं के लिए एक विशिष्ट पद सुरक्षित रहेगा––सौंदर्यमूलक आलोचना के आधार पर नहीं किंतु जीवन मूलक और ऐतिहासिक समीक्षा की दृष्टि से।"[17] यहीं पर हमें उनकी काव्य सृष्टि के एक अंतरंग सत्य का अनुमान लगा लेना चाहिए जिसकी जड़ें कला के कलावादी परिवेश में निहित नहीं है अपितु जिसकी जड़ें

---

14. व्यक्तित्व की वास्तविक रमणीयता का उचित समावेश नहीं हो पाया (हिंदी भाषा तथा साहित्य डा० उदयनारायण तिवारी), पृ० 141
    तथा देखिए हिंदी-साहित्य का इतिहास (रामचंद्र शुक्ल) और हिंदी साहित्य (डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी)
15. रसज्ञ रंजन––(आचार्य महावीरप्रसाद, द्विवेदी) पृ० 23
16. प्रकृति और काव्य (डा० रघुवंश) पृ० 158
17. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग (डा० उदयभानु सिंह), पृ० 92

गहरे तक कला के जीवनवादी परिवेश में जमी हुई हैं। दूसरे रूप में उनके इस जीवन मूलक सत्य को देश प्रेम, हिंदी प्रेम, प्रकृति प्रेम तथा देशोद्धार की कामना के अंतर्गत देखा जा सकता है। और यह जीवनमूलक अवधारणा उनकी उन क्रियात्मक योजनाओं में देखी जा सकती है जिनके द्वारा वे 'देशीय मस्तिष्क' को सामान्य से असामान्यता की ओर ले जाने का स्वप्न देखते हैं। हमें तो यह लगता है कि द्विवेदी जी अपने इस जीवनमूलक सत्य के आधार पर देश को बौद्धिक जागरण की प्रेरणा और चेतना देने में संलग्न थे। इसीलिए उनकी कविताओं को विचारात्मक वर्ग की कहना उचित जान पड़ता है।[18] उस विचारात्मक तथ्य ज्ञान को वे समग्र भारत में प्रसारित करना चाहते थे। इसके लिए उनके पास 'सरस्वस्ती' का मंच था तथा 'सरस्वती' के मंच के लिए उन्होंने काव्य-अध्येताओं को आकर्षित भी किया था। देखा जाए तो 'मंच स्थापन' के मूल में अपने विचार भावों का संप्रेषण एक अनिवार्यता थी। कविता द्वारा अधिक लोगों का आकर्षण मिले इस बात को हम इस प्रसंग में लेते हैं। कविता के बारे में इसलिए क्योंकि कविता के संबंध में वे पर्याप्त 'लिबरल' भी थे, उन्होंने कहा भी है 'कविता का लक्षण जहाँ कहीं भी पाया जाए चाहे वह गद्य में हो चाहे पद्य में, वही काव्य है।'[19] उनका यह भी विचार था कि 'कविता यदि सरस और भावमयी होगी तो उसका अवश्य ही आदर होगा।'[20] 'सरस और भावमय' दो तत्वों को उन्होंने भाषा की सहजता के साथ स्वीकारा है। इसीलिए उनकी कलाचेतना की सारी जागृति 'भाषा परिसंस्कार' में संकेंद्रित हो गई थी। 'उन्होंने कठोरता के साथ माँज घिस कर भाषा को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया।'[21] तथा 'भाषा की शिथिलता दूर कर उसे दृढ़ता प्रदान की।'[22] भाषा संस्कार की यह योजना विचारों के सहज संप्रेषण की आधारभूत बात का परिणाम है। इसमें संदेह नहीं कि द्विवेदी जी जिस गरिमामय खड़ी बोली का स्वप्न देखते थे तथा जिसमें काव्य माधुरी की नव्यतम सृष्टि की परिकल्पना करते थे, ठीक उस रूप में भाषा प्रवाह हिंदी कविता को मिला है। बाद में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा था कि 'उनकी भाषा बहुत गद्यवत् हो गई थी।'[23] सही अर्थों में वे गद्य के क्षेत्र के लेखक थे। उनमें दोनों रूप विधाओं में 'भाषा का मार्जन, अधिक है।'[24] तथा यही भाषा मार्जन भाषा को आगे चल कर सामर्थ्य शक्ति तथा काव्य गुणों से संपन्न करने की आधारशिला बनती है। द्विवेदी जी की कविताओं में कला विधान के प्रबंध, मुक्तक, प्रबंधमुक्तक, गीत एवं गद्यकाव्य रूप उपलब्ध होते हैं, उन्होंने सायास प्रबंध काव्य रूप में किसी खण्ड काव्य या महाकाव्य की रचना नहीं की। महाकाव्य की रचना की प्रेरणा अवश्य द्विवेदी जी ने दी है। कहने का तात्पर्य यह है कि कला रूपों के संस्कार उस का प्रश्न वक्त उठता ही नहीं था यद्यपि द्विवेदी जी ने इस दिशा में कार्य भी किया था तथापि उनके सामने भाषा संस्कार की समस्या ही सबसे बड़ी समस्या थी।

---

18. द्विवेदी जी की कविता वास्तव में विचारात्मक है—हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास—(रामबहोरी शुक्ल; भगीरथ मिश्र) पृ० 194
19. रसज्ञ रंजन (महावीरप्रसाद द्विवेदी), पृ० 13
20. विचार विमर्श (आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी), पृ० 27
21. हिंदी साहित्य (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी), पृ० 410
22. आधुनिक काव्यधारा (डा० केसरीनारायण शुक्ल), पृ० 102
23. हिंदी साहित्य का इतिहास (आचार्य रामचंद्र शुक्ल), पृ० 611
24. हिंदी साहित्य (बाबू श्यामसुंदर दास), पृ० 286

काव्य सृष्टि : एक समग्र दृष्टि

कवि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की काव्य रचनाओं में हमें सामयिक कविताएँ, व्यंग्य कविताएँ एवं सोद्देश्य कविताएँ मिल जाती हैं। इन्हीं तीनों आधारों पर हम एक सर्व सामान्य तथ्य का आभास पाते हैं। उनकी सोद्देश्य कविताओं में एक आदर्श की झलक है, इसी तरह सामयिक समस्याओं के समाधान के लिए भी उनके पास अस्पष्ट-सा समाधान है, व्यंग्य कविताएँ वे आदर्शच्युत जीवन भोगियों को चेतावनी देते हुए रचते हैं अंततः वहाँ भी एक आदर्श की परिपूर्ति होती है। अतः कहा जा सकता है कि 'द्विवेदी जी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक थे जो समय पाकर प्रेमचंद जी आदि के उपन्यास साहित्य में फूला फला।'[25] अपितु यह भी कहा जा सकता है कि काव्य रूपों में वह आदर्शवाद मैथिलीशरण गुप्त द्वारा भी अनुकृत किया गया है। इसी आधार पर हम आचार्य द्विवेदी के आदर्श व्यक्तित्व की काव्य सृष्टि की एक समग्र दृष्टि आदर्शवाद (साहित्यिक आदर्शवाद) को, उनकी कविता की केंद्रीय चेतना बिंदु मान सकते हैं। उनकी कविता में काव्य गुण, काव्य रमणीयता न हो तथा उसमें बेशक चमत्कार भी न हो किंतु इतना सत्य है कि उनकी कविता दृष्टि ने आगे की कविता पीढ़ी को भाषा का संस्कारित स्वरूप, आदर्श की एक भव्य प्रतिमा तथा साहित्य रचना के लिए अनेक विधाएँ दी है। द्विवेदी जी की काव्य सृष्टि को हम केवल कविता तक ही सीमित नहीं रख सकते अपितु हमें समसामयिक जीवन बोध को सामने रखना होगा। समसामयिक जीवन बोध परंपरा के आदर्श और आदर्श के पाखंडवत रूप से मुक्त होने की छटपटाहट महसूस कर रहा था। आचार्य द्विवेदी कवि रूप में पहले आदमी थे जिन्होंने इस छटपटाहट के सूत्रों को पकड़ा तथा उन्हें एक नियमन और संचालन दिया।

---

25. हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी (आचार्य नंददुलारे वाजपेयी), पृ० 12

द्विवेदी-काव्य : प्रयोजन और विषय

--अशोक महाजन

प्राग्द्विवेदी-युग में हिंदी कविता श्रृंगारिकता से आक्रांत थी। श्रृंगार या रतिभाव से परे भी जीवन की कुछ उपादेयता अथवा क्रियाशीलता है, इसकी ओर इस काल के कवियों का ध्यान न जा सका। अतएव मांसल-सौंदर्य एवं विरह-मिलन के नाना ऊहात्मक स्वरूपों तक ही कवि का कौशल सीमित हो गया। प्राग्द्विवेदी काल में यद्यपि रीवा-नरेश रघुराज सिंह, ललित किशोरी, राजा लक्ष्मणसिंह आदि कवि ब्रजभाषा में रचना कर मानव-मानस को रस-सिक्त करने में प्रयत्नशील रहे परंतु उनके इस प्रयास में आकर्षण का अभाव था। इसके बाद साहित्याकाश में भारतेंदु का उदय हुआ और उन्होंने ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली में रचनाओं को प्रणीत किया, लेकिन 'भारतेंदु' के अस्त और 'प्रताप' के तिरोहित हो जाने पर जब हिंदी-साहित्य पतवारहीन नौका की भाँति असहाय होकर डगमगाने लगा, उस समय द्विवेदी जी ने आगे आकर हिंदी का नेतृत्व ग्रहण किया। उन्होंने खड़ी बोली को समस्त साहित्यिक अभिव्यक्तियों का माध्यम बनाकर 'गद्य-पद्य की एक पक्की व्यवस्था की और दोनों प्रणालियों द्वारा पूर्व और पश्चिम की, पुरातन और नूतन, स्थायी और अस्थायी ज्ञान-संपत्ति संपूर्ण हिंदी भाषा-भाषी प्रांतों में मुक्त हस्त से वितरित की।' इससे कविता का चोला ही बदल गया और सतोगुण की सन्यासिनी के रूप में वह हिंदी रंगमंच पर प्रकट हुई।

काव्य का प्रयोजन

मनुष्य में सत् के प्रति जो पक्षपात रहता है, वह जब उसकी साहित्य-रचना का नियंत्रण करने लगता है तब साहित्य में आदर्शवाद का जन्म होता है। द्विवेदी जी और उनके अनुयायियों का आदर्श समाज में एक सात्विक ज्योति जगाता था। दीनता और दरिद्रता के प्रति सहानुभूति, समय की प्रगति का साथ देना, श्रृंगार के विलासवैभव का निषेध--ये सब द्विवेदी युग के आदर्श हैं। यद्यपि अपने कवि-जीवन के आरंभिक वर्षों में संस्कृत के अतिश्रृंगारिक काव्यों को सब के पढ़ने योग्य बनाने के लिए द्विवेदी जी ने संस्कृत के वैराग्य शतक, गीत गोविंद, महिम्न स्तोत्र, ऋतु सहार, श्रृंगार शतक और गंगा स्तवन के छंदोबद्ध अनुवाद किए लेकिन उनकी बाद की रचनाओं का प्रयोजन 'कांतासंमति तथोपदेश' ही रहा। द्विवेदी जी की मौलिक रचनाएँ वस्तु की केवल व्यंजना करती हैं, वे अंतर के तारों को झनझनाती नहीं, वरन् बाहर ही ठकठक करके चुप हो जाती हैं। "द्विवेदी जी के खड़ी बोली के आरंभिक पद्यों में अर्थ की रमणीयता चाहे जितनी खो गई हो और भाषा के विषय का अनियम भी थोड़ा-बहुत क्यों न हुआ हो, पर एक नई परिपाटी-भावाभिव्यक्ति की तीखी, लाइन-क्लियर की-सी स्वच्छ-सपाट शैली--अवश्य चल निकली है जिसमें संस्कृत का-सा दूरान्वय दोष या अर्थक्लिष्टता कहीं नहीं है। कविता जिस प्रकार की सौंदर्य सामग्री का व्यवहार कर अंतर का मधुर रस उच्छ्वसित करती है, उसका स्पर्श करने में द्विवेदी जी जैसे लोक-लाज से डरते रहे हों।"

द्विवेदी जी के काव्य में रवींद्र बाबू की तरह न कल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि, केवल एक शुद्ध प्रेरणा है जो भाषा का मार्जन करती है और समयानुकूल सरल उदात्त भावों का भी सत्कार करती है। द्विवेदी जी की कविताएँ कपास की भाँति नीरस होते हुए भी गुणमय फल देती हैं। लेकिन सौंदर्य की दृष्टि से द्विवेदी जी की कविताओं को इतिवृत्तात्मक मात्र कहना हृदयहीनता है। उनकी सभी रचनाओं को आद्योपांत

पढ़ जाइए---उनमें रति, करुणा, हास्य, निर्वेद, जुगुप्सा, क्रोध आदि भावों की विविधता है। उन विविध भागों के ऊपरी धरातल के नीचे एक अंत:सलिला सरस्वती की धारा भी है जो इस बात की प्रतीक है कि हिंदी के प्रति उनकी सदा सात्विक श्रद्धा भावना रही है।

सामाजिक क्रांति के पक्षपाती

परंपरागत धर्माचार के नाम पर बालविधवाओं को बलात् अविवाहित रखना, समय और समाज की मूढ़ता एवं नृशंसता है। अतएव शोकार्त बाल-विधवाओं की कारुणिक दशा से द्विवेदी जी अभिभूत हुए बिना न रह सके। 'बालविधवा विलाप' में उन्होंने एक बाल विधवा का मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है :

उच्छिष्ट, रुक्ष, अरु नीरस अन्न खैहों,
चांडलिनीव मुख बाहर मूँदि जैहों ।
गालिप्रदान निशिवासर नित्य पैहौं,
हा हंत ! दुखमय जीवन यों बितैहौं ।।
रंडे ! तुही अवसि मत्सुत लीन खाई,
त्वमातु नाथ ! जब तर्जिह यों रिसाई ।
ह्वैहे इहै जब महीप मताधिकाई,
पृथ्वी फटै त्वरित जाउ तहाँ समाई ।।

इसके अतिरिक्त 'कान्यकुब्ज अबला विलाप' और 'ठहरौनी' में अबलाओं के प्रति सहानुभूति की निदर्शना परवर्ती द्विवेदी युग की सामाजिक कविता की विशेषता है। विधवा विवाह को धर्मसंगत बतलाते हुए द्विवेदी जी ने हिंदूधर्म की कठोर रूढ़ियों के विरुद्ध लेखनी चलाई। उन्होंने कहा कि ईश्वर की प्रसन्नता मूर्तिपूजन, गंगास्नान या सविध संध्योपासन में नहीं है। परिणामस्वरूप टीकाधारी कट्टर कान्यकुब्जों ने क्रोधांध होकर उन्हें नास्तिक तक कह डाला। 'कथमहं नास्तिक' द्विवेदी जी के उसी आहत हृदय की धार्मिक अभिव्यक्ति है।

द्विवेदी जी की राष्ट्रीय कवि भावना

द्विवेदी जी वस्तुतः गांतरकारी सूत्रधार थे। वे देश की तत्कालीन अधोगति से क्षुब्ध थे। इसीलिए उन दिनों उन्होंने लिखा था---

यदि कोई पीड़ित होता है,
उसे देख सब घर रोता है,
देश दशा पर प्यारे भाई,
आई कितनी बार रुलाई।

इतना ही नहीं, द्विवेदीजी ने भारत के सुनहले अतीत का वर्णन करते हुए कहा था—

जहाँ हुए व्यास मुनि प्रधान,
रामादि राजा अति कीर्तिमान।
जो थी जगत्पूजित धन्यभूमि,
वही हमारी यह आर्यभूमि ।

राष्ट्र विकास के लिए नागरिकों में एकता होना अत्यावश्यक है:---

हिंदू-मुसलमान ईसाई, यश गावें सब भाई-भाई,
सबके सब तेरे शैदाई, फूलो-फलो स्वदेश।

द्विवेदी जी के मत में, वह व्यक्ति पशु होता है, जिसमें अपने देश के प्रति संमान और गौरव-भाव नहीं होता।

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर पशु निरा है और मृतक समान है।

आचार्य द्विवेदी और छायावाद

सुधाकर पांडेय

आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिंदी के ऐसे विधायक के रूप में इतिहास में प्रतिष्ठित हैं, जिनका कृतित्व 20वीं सदी के आरंभ के दो दशकों तक अनन्य श्रीसंपदामय है। हिंदी काव्य-मंदिर में खड़ी बोली की कविता के प्राण प्रतिष्ठापक तक तथा कथा साहित्य की दीपशिखा के ज्योतिवर्द्धक के रूप में भी उनका मान सदैव से श्रद्धावंदित रहा है। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिंदी साहित्य ने काव्य के श्रेत्र में जिस नवीन चेतना को जन्म दिया, उसको संयम एवं अनुशासनपूर्वक यौवन के द्वार तक पहुँचाने में दिए गए आचार्य द्विवेदी के योगदानके सुफल से हिंदी साहित्य में नई क्रांति की प्रभा का उदय हुआ। इस अनुष्ठान की साधिका 'सरस्वती' के माध्यम से उन्होंने हिंदी भाषा और भाव के आंदोलन में नवीनता का पक्ष लिया। काव्य की भाषा के क्षेत्र में 'हिंदोस्थान' द्वारा उठाए गए आंदोलन को, जो नवीन भाषा (खड़ी बोली) को काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने का पक्षपाती था, बद्विवेदी जी ने एक परिपुष्ट आधार-मात्र ही नहीं दिया अपितु एक ओजस्वी रूप एवं रंग भी दिया। वे केवल भाषा के क्षेत्र में ही नवीनता के पक्षपाती नहीं थे अपितु भाव के क्षेत्र में भी वे उसके समर्थक, आराधक एवं प्रतिष्ठापक है। वे ऐसे कृतिकार थे जिसका अपना आदर्श था और जिसकी परंपरा इस धरती की संपत्ति थी। उनकी इस मान्यता में युग की आकांक्षापूर्ति का संकल्प भी था। उनकी इस नवीनता की उपासना के मूल में सहज व्यावहारिक शिष्टाचार मात्र नहीं, एक ऐसा संकल्पात्मक आदर्श भी था जिसकी अनुभूति द्विवेदी जी ने युग की आवश्यकताओं से अनुप्राणित होकर अध्ययन, लोकदर्शन तथा अपने चिंतन के आधार पर की थी। उनके इस संकल्प में अडिग आस्था का स्वाभिमान, निस्पृह कर्म की कठोरता एवं एकांत निष्ठा की एकांगिता थी। वह साहित्य का मूल जनमंगल को स्वीकार करती थी, न कि व्यक्तिपरक एकांत राग-विराग को।

ऐसे संकल्प वाले व्यक्तित्व कर्म एवं पुरुषार्थ के आगार होते हैं तथा धुन के धनी भी। वे सामान्य जीवन के आचार-व्यवहार में भी कर्मयोगी की सहज स्थिति में रहने के अभ्यासी हो जाया करते हैं। इसलिए उनके ओज के ताप से अनेकों को जलन एवं उनकी सिद्धि श्री के प्रसाद से वंचित रहने के कारण अनेकों को अतृप्ति का बोध होता है। ऐसे अनेक मिल कर रागविराग से भरपूर हो ऐसी शक्ति का विरोध करते हैं। यह विरोध स्वतः अपने में महत्त्व-हीन होता है, और क्षणिक भी पर ऐसे कुछ लोगों का विरोध अपना महत्त्व रखता है, जिनके जीवन का सत्य ऐसे मनीषियों के नियंति कार्यकलाप की भावपरिधि में अपना प्रतिरूप न पाने के कारण उनका विरोधी हो जाता है। यदि ये शक्तिशाली और लगनशील हुए तो अपना नया मार्ग निर्मित करते हैं अन्यथा ये भी एकांत असंतोष के ताप में स्वयं को स्वाहा कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में युगविधायक स्रष्टा का कर्म एक ओर जहाँ उसे नवीन की स्थापना के लिए अपने व्यक्तित्व को प्राचीन के विलोम में खड़ा करता है वहीं उसे सत्यानुभूति लसित भावी नवीनता के विरोध का भी सामना करना पड़ता है। क्योंकि वह अपने संकल्प को मंगल रूप देने के कारण और अधिक नवीनता को स्थान नहीं दे पाता। काव्य के क्षेत्र में द्विवेदी जी का व्यक्तित्व ऐसे ही महारथी का व्यक्तित्व है।

---

1. श्री राजा रामपाल सिंह, कालाकांकर नरेश द्बारा इंग्लैंड से हिंदी एवं अँग्रेजी में सन् 1833 में हिंदी की सेवा के लिए प्रकाशित पत्र जो सन् 1885 में हिंदी दैनिक होकर यहीं से प्रकाशित होने लगा।

उन्होंने 'सरस्वती' के माध्यम से हिंदी काव्य में खड़ी बोली को काव्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया। साथ ही हिंदी काव्य की परिधि में विषय की दृष्टि से नवीन भावभूमि की स्थापना भी की। हिंदी काव्य को नए रूप, रंग तथा साज-सज्जा से सुसज्जित करने के इस अनुष्ठान में उन्हें कुछ ऐसे सहज भावों की उपेक्षा भी करनी पड़ी जिनका संबंध जीवन से सनातन है। समाज में हो रहे चतुर्दिक सुधार-परिष्कार का दर्पण वे साहित्य को मानने वाले ऐसे मनीषी थे जो गद्य और पद्य दोनों की भाषा का नियमन, संस्कार एवं परिष्कार एक ही सूत्र से करना चाहते थे। इसलिए संस्कृत साहित्य से रसज्ञ होते हुए भी हिंदी पद्य में इतिवृत्तात्मकता एवं गद्य की नीरसता को द्विवेदी जी ने संरक्षण दे प्रवर्धित किया। यह कार्य उन्होंने निरंकुश होकर किया।

इस निरंकुशता का कारण यह भी हो सकता है कि इनके पूर्व जिन लेखकों ने ऐसे युगविधायक कार्य किए वे या तो अपने व्यक्तिगत जीवन की परिस्थितियों के कारण तत्कालीन साहित्य में अपना एकछत्र शासन स्थापित नहीं कर पाये थे या ऐसे मंडलों के द्वारा वे अपने आदर्श को रूपायित करते थे जिनमें एक ही वय और विद्या के अनेक व्यक्ति हुआ करते थे। ऐसे मंडलों द्वारा संपन्न होने वाले कार्य परस्पर विचार विनिमय के कारण स्वतः अनुशासन एवं संयम की रेखा अपने लिए बना लेते थे। पर द्विवेदी जी के साथ ऐसी बात नहीं थी। उनके संरक्षण में प्रवर्धित होने वाले साहित्य के स्रष्टा प्रायः उनके या उनके विचारों के विशुद्ध अनुगामी मात्र थे। इसलिए आचार्य का विवेकमात्र ही उन सबका नियंता बना जो सरस्वती-मंडल के प्रमुख कवि थे। इसलिए द्विवेदी जी में निर्माता के साथ ही साथ शिक्षक का वह गुण भी था जो आदर्श के प्रसार के लिए अंकुश और अनुशासन का प्रयोग विहित मानता है। काव्य के क्षेत्र में इसीलिए वे एक कठोर शास्ता के रूप में भी प्रतिष्ठित हैं।

उनका यह अंकुश या अनुशासन हिंदी काव्य जगत पर तब तक बना रहा जब तक सरस्वती (सन् 1903–20 ई०) उनके संपादन में थी। इस बीच भी उनकी काव्यगत मान्यताओं का प्राचीन एवं नवीन दोनों ओर से विरोध हुआ, पर वे विरोध झंझा में उठने वाली हिलोरों से अधिक महत्त्व के नहीं। उनकी पदनिवृत्ति के साथ ही हिंदी काव्य जगत में नई कविता के आंदोलन ने वेग ग्रहण किया।

नई कविता के समर्थन का प्रबल आंदोलन 'सरस्वती' के ही विशिष्ट लेखक तथा कवि पं० मुकुटधर पांडेय ने श्री शारदा में प्रकाशित अपने निबंध हिंदी काव्य में छायावाद से आरंभ किया। यद्यपि पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक-पद से निवृत्त हो गए थे तो भी हिंदी की गति और प्रगति पर न केवल वे ध्यान रखते थे अपितु उसे स्वस्थ और नई दिशा देने का संकेत भी करते रहते थे। इसी श्रृंखला में उन्होंने मई, 1927 की 'सरस्वती' में 'आजकल के हिंदी कवि और कविता' शीर्षक निबंध 'सुकवि किंकर' के नाम से प्रकाशित कराया। जिस समय यह निबंध प्रकाशित हुआ उसके पूर्व ही 'आँसू' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हो चुका था। निराला और पंत का साहित्यिक विवाद प्रारंभ हो चुका था। छायावाद की रचनाएँ अपना स्थान व्यापक बना रही थीं। यह सब हो तो रहा था, किंतु अब तक 'छायावाद' का न तो कोई स्वरूप स्पष्ट हुआ था और न इसके समर्थकों की ओर से स्पष्टतापूर्वक कोई मान्य बात ही स्थापित की जा सकी थी। 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' के बीच की विभाजन-रेखा का स्पष्ट संकेत देना तो दूर इसके समर्थक इसके संबंध में ऐसी ऐसी बातें कह रहे थे, जिनसे बाद में वे स्वयं ही मुकर गए। कहीं महाकवि रवींद्र बाबू की साक्षी दी जाती थी, कहीं ईसाइयों के 'फैंटास्माटा' या सिंबोलिज़्म की दुहाई बोली जा रही थी। कहीं इसे शैली और कहीं इसे वाद के रूप में उपस्थित किया जा रहा था। इतना ही नहीं, उपनिषद्

पं० देवीदत्त शुक्ल का सरस्वती हीरक जयंती ग्रंथ में 'सरस्वती के इतिहास का सिहांवलोकन, शीर्षक निबंध, पृ० 31–32/31 दिसम्बर––1961

3. श्री सेठ गोविंददास जी के संरक्षकत्व तथा श्री नर्मदाप्रसाद मिश्र बी०ए०, विशारद के संपादकत्व में शारदा-भवन पुस्तकालय, जबलपुर से प्रकाशित।

4. श्री शारदा वर्ष 1, संख्या 5, जुलाई 1920, पृ० 277 तथा वर्ष 1, संख्या 6, सितंबर 1920, पृ० 640.

से लेकर यूरोप के रोमांटिसिम तक को इस कविता का आधार बताया जाता था। ऐसी अराजक स्थिति में इस निबंध का प्रकाशन हुआ।

इस निबंध के प्रकाशन के साथ ही उस पक्ष की ओर से द्विवेदी जी पर प्रबलतम प्रहार आरंभ हुए जो पक्ष छायावाद का समर्थक था। इस विरोध में द्विवेदी जी के निबंधगत विचारों के विरोध का यत्न कम, उनके अतीत के अजेय व्यक्तित्व के प्रति आक्रोश की भावना अधिक थी। इसका कारण ढूँढ़ने अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं। श्री नंददुलारे वाजपेयी ने 'सत्समालोचना' शीर्षक अपने तत्कालीन निबंध में ऐसे विरोधों के कारणों को यों स्पष्ट करने का यत्न किया है—"इस प्रकार के वैयक्तिक आक्षेपों का उद्देश्य अधिकतर पुराने वैर का प्रतिकार हुआ करता है। इस पुराने वैर का आधार या तो कोई साहित्यिक मतभेद होता है या परनिंदा—व्याज से अपनी प्रशंसा की इच्छा होती है।"[5] छायावाद के संबंध में बाबू श्यामसुंदर दास ने प्रयाग की कायस्थ पाठशाला में कहा था कि— 'हाँ, इस युग में कविता में एक विशेषता हुई। अब लोग खड़ी बोली में भी कविता करने लगे हैं और इस प्रकार की कविता का प्रचार बढ़ रहा है। यह अवश्यंभावी और अनिवार्य है, पर छायावाद और समस्यापूर्ति से हिंदी कविता को बड़ी हानि पहुँच रही है। छायावाद की ओर नवयुवकों का झुकाव है और जहाँ वे गुनगुनाने लगे कि चट दो चार पद जोड़कर कवि बनने का साहस कर बैठते हैं। इनकी कविताओं का अर्थ समझना कुछ सरल नहीं है। कविता लिखने के अनंतर बेचारा कवि भी उसके अर्थ को भूल जाता है और उसके भाव तक को समझाने में असमर्थ हो जाता है। पूज्य रवींद्रनाथ का अनुकरण करके ही यह अत्याचार हिंदी में हो रहा है। उस कवि-श्रेष्ठ की विद्या-बुद्धि की समता करने में असमर्थ होते हुए भी कुछ ऐसी बातें कह जाना जिसका कोई अर्थ ही न समझ सके, ये कवि अपने कवित्व की पराकाष्ठा समझने लगे हैं। खड़ी बोली के बढ़ते हुए प्रचार को देखकर और उससे भय-भीत होकर कुछ पुरानी लकीरों के फकीरों ने समस्यापूर्ति की धूम मचा रखी है। उसी मुक्तक काव्य को, जिससे हिंदी कविता का इतना अनिष्ट हुआ है, पुनर्जीवित करने का प्रयत्न हो रहा है। कवि संमेलनों की धूम भी इस कार्य में सहयोग देकर हिंदी कविता का अनिष्ट साधन कर रही है।"[6]

यद्यपि बाबूसाहब का यह भाषण 'सरस्वती' के साथ ही साथ अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ था तो भी छायावाद के प्रति ऐसी धारणा रखने के कारण वे किसी भी आक्रोश के शिकार नहीं हुए पर आचार्य द्विवेदी पर बरसे, संयम और सद्भाव की मर्यादा को तिलांजलि तथा वय के मान को ताक पर रख कर।

अच्छा होगा कि 'छायावाद' के प्रति उस निबंध में व्यक्त की गई मान्यताओं का पहले दर्शन कर लिया जाए। उन्होंने निबंध के प्रारंभ में ही छायावादी कवियों के आराध्य रवि बाबू की अर्द्धशताब्दी तक की गई साहित्यिक तपस्या की श्रद्धापूर्वक वंदना की है, साथ ही पं० मथुराप्रसाद मिश्र के त्रैमासिक कोश में मिस्टिक तथा मिस्टिकल शब्द के दिए गए अर्थ-गूढ़ार्थ, गोप्य, गुप्त, और रहस्य के आधार पर छायावाद की निम्नलिखित शब्दों में व्याख्या प्रस्तुत की। "छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है कि किसी कविता के भावों की छाया यदि अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावाद कहना चाहिए।"[7]

द्विवेदी जी पहले व्यक्ति ठहरते हैं जिन्होंने इस निबंध के माध्यम से अधिकारपूर्वक कहा कि "रहस्यमयी कविता और छायावाद के अंतर को स्पष्ट रूप से उपस्थित करना चाहिए न कि दोनों को एक मान कर किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न करना चाहिए।"[8]

---

5. माधुरी, वर्ष 7, खंड 1, संख्या 1, अगस्त-सितंबर, 1928, पृ० 108।
6. सरस्वती, भाग 28, खंड 1, जनवरी 1927, पृष्ठ 6।
7. सरस्वती भाग 28, संख्या 5, मई 1927, पृष्ठ 526।
8. सरस्वती, भाग 28, सं० 5, मई 1927, पृष्ठ 526-527

उस निबंध में निश्चय ही उन्होंने ऐसे कवियों का विरोध किया या जो स्कल छोड़ते ही कमर कस कर वह कार्य कर दिखाने के लिए उतावले हो रहे थे जो काम रवींद्रनाथ ने 40 वर्ष के सतत् अभ्यास और निदिध्यास की कृपा से कर दिखाया था। उनकी मान्यता थी कि रवि बाबू के ढंग की रचना ऐसे अनुभवहीन लोगों द्वारा 'विंध्यस्तरेति सागरम्' की उक्ति को चरितार्थ करना है। इसलिए उन्होंने तत्कालीन छायावादी काव्य में व्याप्त आडंबर, अस्पष्टता तथा अर्थहीनता का विरोध किया। उन्होंने इस अस्पष्टता का कारण क्लिष्ट कल्पना और शुष्क शब्दाडंबर को माना है तथा काव्य में लालित्य और माधुर्य के पक्ष का सहज समर्थन भी किया है। इस निबंध में विरोध किया गया था विलक्षणता का और कुछ असमर्थ लोगों की अहमन्यता का। इस निबंध में स्पष्ट रूप से द्विवेदी जी ने तीन-चार छायावादी कवियों की काव्यशक्ति को सराहा है, साथ ही हितचिंतना की दृष्टि से 'छायावाद' के संबध में अपना विचार प्रकट करते हुए उहोंने छायावाद में व्याप्त असत् विचारों से मुक्ति के लिए छायावादी कवियों से निवेदन भी किया है ताकि वे अपने उद्देश्य में विजय प्राप्त करें।[10] इससे यह स्पष्ट ही प्रकट होता है कि वे छायावाद के कवियों के उद्देश्य के विरोधी नहीं थे और तीन-चार व्यक्तियों की काव्यशक्ति के प्रशंसक भी थे।

इतना होते हुए भी नवीनता के उत्साह के प्रवाह में छायावाद का कट्टर समर्थन इसी निबंध को आधार बना कर श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ और रामनाथ सुमन ने किया।[11] इसके साथ ही छायावाद के समर्थन के आंदोलन को नंददुलारे वाजपेयी के निबंधों से विशेष बल मिला।[12] आज यदि उन निबंधों का दर्शन किया जाए तो वे निबंध द्विवेदी जी द्वारा उठाए गए प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करते हुए नहीं दीखते, अपितु ऐसे लगते हैं मानों जबर्दस्ती किसी बात का समर्थन करने के लिए परिकरबद्ध हैं। बाद में इन्हीं लेखकों द्बारा 'छायावाद' के संबंध में लिखे गए निबंधों में उन आरोपों को सत्य स्वीकार किया गया है जिन्हें द्विवेदी जी ने अपने इस निबंध में व्यक्त किया था। इस प्रकार द्विवेदी जी की इस विचारसरणी के वे अनुमोदक मात्र ही सिद्ध नहीं हुए, उनकी दृष्टि की व्यापकता एवं सारग्राहिता के प्रमाण भी बने।

वस्तुस्थिति तो यह दीखती है कि छायावाद की हितचिंतना की दृष्टि से ही द्विवेदी जी ने यह निबंध लिखा था। इसके संबंध में केवल यह साक्ष्य ही पर्याप्त नहीं होगा कि 'छायावाद' के संबंध में उनके द्वारा की गई भविष्यवाणी का अधिकांश अब इतिहास का सत्य हो गया है, अपितु छायावाद के प्रवर्द्धन एवं संरक्षण के लिए किए गए उनके कार्यों को भी देखना होगा।

'छायावाद' के विकास में उनके योगदान की बात उन्हें आश्चर्यजनक लग सकती है, जिन्होंने 'सरस्वती' का पूर्णरूप से दर्शन नहीं किया है। किंतु उनके इस कृतित्व का परोक्ष समर्थक आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' भी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि 'खड़ी बोली की कविता जिस रूप में चल रही थी उससे संतुष्ट न रह कर द्वितीय उत्थान में कई कवि खड़ी बोली के काव्य को कल्पना का नया रूप-रंग देने और उसे अधिक अंतर्भाव व्यंजक बनाने में प्रवृत्त हुए, जिनमें प्रधान थे सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय और बदरीनाथ भट्ट। कुछ अँग्रेज़ी ढर्रा लिए जिस प्रकार की फुटकर कविताएँ और प्रगीत मुक्तक (लिरिक्स) बँगला में निकल रहे थे, उनके प्रभाव से कुछ विश्रृंखल वस्तु विन्यास और अनूठे शीर्षकों के साथ चित्रमयी कोमल और व्यंजक भाषा में इनकी नए ढंग की रचनाएँ सं० 1970-71 से ही निकलने लगी थीं। जिनमें से कुछ के भीतर रहस्य भावना भी रहती थी।"[13]

---

9. सरस्वती, भाग 28, संख्या, 5, मई 1927, प्रृष्ठ 526-527.
10. वही, पृष्ठ
11. देखिए, माधुरी, वर्ष 5, सं० 6, 6 जुलाई 1927, पृ० 786, तथा श्री गौड़ की पुस्तक 'साहित्यप्रवाह' पृ० 32, तथा माधुरी, वर्ष 7, खंड 1, सं० 1, अगस्त-सितंबर, 1928 पृ0 162.
12. हिंदी साहित्यः बीसवीं शताब्दी।
13. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 618 (सं० 2018 वि०).

ऐसी रचनाओं का क्रमविकास दिखाते हुए श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'नक्षत्र निपात', 'अनुरोध', 'पुष्पांजलि' एवं 'स्वयं आगत की' ओर उन्होंने ध्यान आकृष्ट किया । ये रचनाएँ 1914 से 1918 के बीच की हैं।[14] इसके साथ ही श्री बदरीनाथ भट्ट[15] और मुकुटधर पांडेय की रचनाओं की ओर भी उन्होंने ध्यान आकृष्ट किया। भट्ट जी की 1913 की रचना 'दे रहा दीपक जल कर फूल' और श्री मुकुटधर पांडेय की 'आँसू और उद्गार' शीर्षक रचनाओं को इस मान्यता के साक्ष्य के रूप में उपस्थित किया है । उनके अनुसार मुकुटधर जी बराबर नूतन पद्धति पर ही चले ।[16] गप्त जी के संबंध में उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि वे किसी विशेष पद्धति या वाद में न रह कर कई पद्धतियों पर चलने वाले कवि ह ।

शुक्ल जी की इस मान्यता को अपने शोध-प्रबंध 'हिंदी साहित्य का विकास, (1900–25) में श्रीकृष्णलाल ने इस रूप में समर्थन दिया है—"स्वच्छंदता का दूसरा चरण केवल साहित्यिक आंदोलन मात्र न था, वरन् वह कलात्मक और दार्शनिक आंदोलन भी था। उसमें विश्व की वेदना, सृष्टि का रहस्य, उदात्त भावना तथा प्रेम और वीरता को अपनाने की तीव्र आकांक्षा, अलभ्य श्रम से उद्भूत एकांत वेदना और अनंत निराशा आदि विशिष्ट दार्शनिक वृत्तियों का प्रदर्शन था । यह द्वितीय आंदोलन 1914 के आसपास मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय, राय कृष्णदास, बदरीनाथ भट्ट और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की स्फुट कविताओं से आरंभ होता है, किंतु इसका वास्तविक प्रारंभ 1918 से मानना चाहिए जब से प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत और निराला की नवीन शैली की कविताओं का प्रकाशन होता है ।[18]

छायावाद के विकास क्रम की इन मान्यताओं को हिंदी जगत की स्वीकृति प्राप्त है । ऐसी रचनाएँ जिनका उल्लेख इन समालोचकों ने किया है उनसे उस 'सरस्वती' का क्या संबंध था जिसके साक्षात् संपादक श्री द्विवेदी जी थे, अब इसे देखना अप्रासंगिक न होगा । छायावाद के बीजबिंदु स्वरूप प्रकाशित इन रचनाओं को यदि द्विवेदी जी की सरस्वती ने प्रश्रय दिया है तो निश्चय ही काव्य के इस रूप के विरोधी के रूप में उन्हें उपस्थित करना शालीनता और इतिहास की मर्यादा भंग करना है ।

श्री मुकुटधर पांडेय की दो रचनाओं में से कुछ अंश, उनके शीर्षक 'आँसू' और 'उद्गार' का उल्लेख करते हुए शुक्ल जी ने इस प्रसंग में दिए हैं और बिना शीर्षक के एक रचना[19] का एक अंश उन्होंने उद्धृत किया है। 'आँसू'[20] का प्रकाशन 'सरस्वती' में दिसंबर 1916 में 'विश्वबोध'[21] का उसी में दिसंबर 1917 में तथा 'उद्गार'[22] का प्रकाशन अप्रैल 1918 में हुआ है । मैथिलीशरण गुप्त की 'अनुरोध'[23] 'नक्षत्रनिपात'[24] 'स्वयं आगत'[25] 'पुष्पांजलि'[26] शीर्षक रचनाएँ भी यहीं प्रकाशित हुई हैं। बदरीनाथ भट्ट की जिस रचना का उल्लेख शुक्ल जी ने किया है वह भी

---

14. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 618 सं० 2018 वि०
15. वही, पृ० 620.
16. वही, पृ० 619.
17. वही पृ० 621.
18. हिंदी परिषद् प्रयाग से 1948 में प्रकाशित ।
19. 'सरस्वती' में 'विश्व बोध' शीर्षक से प्रकाशित।
20. देखें पृ० 402, वही ।
21. वही, पृ० 326 ।
22. वही, पृ० 212-13 ।
23. सरस्वती, अप्रैल 1915, पृ० 209-10 ।
24. सरस्वती, जून, 1914, पृ० 304 ।
25. सरस्वती, नवंबर, 1918, पृ० 227-228 ।
26. सरस्वती, जून 1917, पृ० 303 ।

'सरस्वती' में ही सन् 1913 में प्रकाशित हुई है डा० श्रीकृष्णलाल ने रायकृष्णदास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की जिन रचनाओं का प्रसंग में नाम लिया है वे भी इसी काल की 'सरस्वती' की ही देन हैं। इतना ही नहीं 'छायावाद' की चिरपरिचित 'स्वप्न' शीर्षक प्रतिनिधि रचना भी 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी ।

'सरस्वती' में 'छायावाद' की इस प्रतिनिधि रचना तथा अन्यान्यों का प्रकाशन इस मान्यता को संपुष्ट करता है कि द्विवेदी जी ने अपने विचार छायावाद के हित की दृष्टि से ही प्रकट किए थे, क्योंकि उन्होंने छायावादी पद्धति की रचनाओं को 'सरस्वती' द्वारा ऐसी स्थिति में व्यापक प्रकाशन दिया जिसमें किसी प्रकार का प्रतिबंध उन पर नहीं था। वे तो केवल उन्हीं रचनाओं को प्रकाशित करने के लिए ख्यात हैं, जो उन्हें रुचिकर लगीं। उनका वास्तविक विरोध तो छायावाद के असद् पक्ष से था, ऐसे पक्ष से जिसे छायावाद के तत्कालीन समर्थकों ने और स्वयं छायावादी शीर्षस्थ कवियों ने भी बाद में अग्राह्य माना। अपरिपक्वता, आडंबर, अक्षमता और अनुकरण के विरोध का शतशः स्वागत होना चाहिए था और तत्वाभिनिवेषी दृष्टि तो सदा से ही इनका विरोध करती चली आ रही है । इस दृष्टि से देखा जाए तो छायावाद के संबंध में द्विवेदी जी की दृष्टि तत्त्व एवं मर्म से पूर्ण थी। इस संबंध में यह भी निवेदन करना उचित होगा कि हिंदी के सुप्रसिद्ध नाटककार, ख्यातिलब्ध छायावादी काव्य अंतर्जगत के कवि, तथा छायावाद के समर्थ आलोचकों द्वारा उद्धृत कवि पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र अब अपनी उन रचनाओं को स्वस्थ मानने को तैयार नहीं और स्वयं उन मान्यताओं के कायल हो गए हैं जो मान्यताएँ छायावाद के संबंध में द्विवेदी जी ने इस निबंध में स्थिर की थीं।

इतिहास में छायावाद का उदय एक घटना है, किंतु उसका जीवन भी अत्यंत अल्प रहा । यदि द्विवेदी जी द्वारा वर्जित तत्वों का छायावादी कवियों ने तिरस्कार कर दिया होता तो निश्चय ही छायावाद का जीवन और सुव्यवस्थित, दीर्घ एवं श्रेयमय होता। ऐसी स्थिति में अब यह मानना कि द्विवेदीजी छायावाद के विरोधी थे, इतिहास के सत्य को तिरस्कृत करना है । इसलिए द्विवेदी जी न केवल इतिवृत्तात्मक कविता के प्रवर्द्धक मात्र के रूप में स्मरण के पात्र हैं अपितु 'छायावाद' के ऐतिहासिक महत्त्व के हितचिंतक भी।

भाषा और व्याकरण

द्विवेदी जी और भाषा सुधार

पप्पूजी

भारतेंदु के आगमन के पूर्व हिंदी की दशा बड़ी करुणाजनक थी। लेखकों के सामने भाषा का कोई स्थिर, निश्चित और सर्वसंमत रूप नहीं था। सब अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग अलापते थे। प्रतिभाशाली नेता के अभाव के कारण हिंदी की स्थिति बड़ी अस्तव्यस्त थी। राजनैतिक क्षेत्र में उर्दू और अँग्रेज़ी की धाक जमी हुई थी। उर्दू, फ़ारसी और अँग्रेज़ी में लिखना और बोलना लोग अपना अहोभाग्य समझते थे। लेखकों की भाषा भी उर्दू के अनावश्यक भार से दबी हुई थी। सितारे हिंद परिस्थितियों के फेर में पड़कर उर्दू का प्रयोग करते थे, सदासुखलाल की भाषा पंडिताऊ थी, इंशाअल्ला खाँ की हिंदी लखनउआ थी, लल्लूलाल जी ने ब्रजमिश्रित भाषा का प्रयोग किया। ईसाई-धर्म प्रचारकों की भाषा व्याकरण की अशुद्धियों और ग्रामीण प्रयोगों से भरी हुई थी। ऐसे अवसर पर भारतेंदु जी ने सरल, प्रांजल और लोकप्रिय भाषा की स्थापना की। भारतेंदु और उनकी मंडली की भाषा ओज, प्रसाद और माधुर्य से युक्त थी। भारतेंदु ने अव्यवहारिक और अप्रयुक्त शब्दों का बहिष्कार किया। शब्दों को तोड़ने और मरोड़ने का क्रम बंद किया और सुंदर, मुहावरेदार भाषा का प्रयोग किया जिससे भाषा की प्रभावोत्पादकता बढ़ गई।

इतना होने पर भी भारतेंदु युग की हिंदी अशुद्ध थी। किसी ने परिमार्जित तथा परिष्कृत भाषा का प्रयोग नहीं किया। सब की भाषा पर ब्रजभाषा और प्रांतीयता का दबदबा था। साहित्य के इस ऊबड़-खाबड़ क्षेत्र में पंडित महावीरप्रसाद जी ने पदार्पण किया। उनका रेलवे का पद त्याग कर हिंदी क्षेत्र में आना मानो हिंदी, हिंदी-जनता, हिंदी पाठक तथा हिंदी-लेखकों के लिए शंख ध्वनि करके जगाना था। द्विवेदी-युग को हम सुधार-युग कह सकते हैं। क्योंकि उस युग में साहित्य के सभी अंगों का सम्यक रूप से सुधार हुआ। भाव, कला तथा व्याकरण की दृष्टि से भाषा का निखरा हुआ रूप हमारे सामने आया। सुरुचिपूर्ण नाटकों की रचना करके उन महारथियों ने नाटककारों, प्रेक्षकों और पाठकों की रुचियों का परिष्कार किया। आख्यायिका, उपन्यास, निबंध, समालोचना आदि के क्षेत्र में भी द्विवेदी जी ने प्रशंसनीय कार्य करके पथ-भ्रष्ट लेखकों को ऊपर उठाया और उनको पवित्र-मार्ग दिखाया। आधुनिक समालोचना का सूत्रधार बनने का श्रेय केवल द्विवेदी जी को ही मिला। 'सरस्वती' का संपादन करके उन्होंने उस युग के हिंदी-साहित्य के अभावों को दूर किया। इस तरह द्विवेदी जी का भाषा संबंधी सुधार सब से महत्त्वपूर्ण है। आजकल के लेखकों की भाषा में जो शिष्ट, परिमार्जित और प्रांजल रूप परिलक्षित हो रहा है उस

पर द्वेविदी जी की छाप है । इस प्रकार द्विवेदी जी को हम भाषा संबंधी अराजकता को दूर कर के सुव्यवस्थित भाषा के संस्थापक के रूप में चिरकाल तक स्मरण रख सकते हैं ।

सर्वप्रथम द्विवेदी जी ने भाषा-सुधार का यह काम अपनी ओर से आरंभ किया । उन्होंने पहले अपने दोषों का सुधार किया और फिर दूसरों के लेखों की कड़ी आलोचना की । संपादक के पद पर रहकर उन्होंने प्रकाशनार्थ आई हुई रचनाओं को खूब संशोधित किया । लेखों में भाषा, भाव तथा व्याकरण के दोष होते थे । द्विवेदी जी 'सरस्वती' में भाषा-सुधार संबंधी लेख लिखते थे । इनमें वे लेखकों के अशुद्ध प्रयोग दिखाते थे और उनको सचेत कर देते थे कि वे भविष्य में ऐसी त्रुटियाँ न करें । संदिग्ध विषयों पर पत्रिकाओं में वाद-विवाद और चर्चाएँ होती थीं । 'वादे वादे तत्त्वबोधे' के अनुसार अंत में असली तत्त्व निकलता था । सब लेखक उनके निर्णय को मान्य समझ कर उसके अनुसार चलते थे । कारक चिह्न शब्दों के साथ मिला कर लिखना चाहिए या अलग, इस सटाऊ और हटाऊ सिद्धांत के पक्ष और विपक्ष में बड़े-बड़े दिग्गज पंडित अपना-अपना मत पत्रिकाओं के द्वारा लोगों पर प्रकट करते थे । यह वाद-विवाद और खंडन-मंडन कई महीनों तक चलता रहा । इस सिद्धांत पर खूब बहसें चलीं । अंत में वे एक निर्णय पर आ गए। 'इये' लिखना चाहिए या 'इए', 'शास्त्रीय पद्धति' या 'शास्त्र पद्धति' । उस समय बहुत से लेखक कर्म के साथ 'को' लगा कर क्रिया को पुंलिग एकवचन में रखते थे जैसे "उद्दंड और हठी बालक को रखा जाता है, इन विद्यार्थियों को अध्यापक बनाया जाय" । द्विवेदी जी ऐसे प्रयोगों को अशुद्ध बताकर उनको इस प्रकार ठीक करते थे–– "उद्दंड और हठी बालक रखे जाते हैं, ये विद्यार्थी अध्यापक बनाए जाएँ" । एक बार द्विवेदी जी विश्वनाथ प्रसाद से बातचीत कर रहे थे । बातों के सिलसिले में द्विवेदी जी ने कहा––आप 'सरस्वती' ध्यान से नहीं पढ़ते । सरस्वती की अपनी निजी शैली है । वह मैं आपको बताता हूँ । 'लिये' शब्द जब लेने के अर्थ में प्रयुक्त होता है तब 'य' कार से लिखा जाता है और जब विभक्ति के रूप में प्रयुक्त होता है तब 'ए' कार से लिखा जाता है । जब एक वचन शब्द के अंत में 'ये' कार होता है तब बहुवचन में भी 'य' कारांत होना चाहिए । जैसे लिया-लिये, किया-किये, पर स्त्रीलिंग में 'ई' लिखा जाता है । विदेशी शब्दों के योग के बारे में द्विवेदी जी के विचार देखिए–– 'हिंदी एक जीवित भाषा है । उसे किसी परिमित सीमा में बंद कर रखने से उसकी बड़ी हानि होने की संभावना है । दूसरी भाषाओं के शब्द और भावों को ग्रहण करने की शक्ति रखना सजीवता का लक्षण है । केवल यह देखना चाहिए कि हिंदी उन्हें पचा सकती है या नहीं, वे हिंदी के अनुकूल हैं या नहीं । मकान, मालिक, रुपया, नोट, स्टेशन हिंदी में खप गए । विदेशी नहीं रहे ।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी जी हिंदी के महान लेखक ही नहीं बल्कि बड़े नेता भी हैं । वे एक नए युग के संस्थापक, संचालक और संवर्धक हैं । उन्होंने जनता की रुचि को परिष्कृत किया । हिंदी को एक स्थिर, सुचारु और सुघटित रूप दिया । हिंदी वाटिका को कूड़ा करकट से बचाकर उसे साफ़-सुथरा रखा । लेखकों को प्रोत्साहन देकर उन्हें व्याकरण-संमत, शिष्ट, और परिमार्जित भाषा लिखने की प्रेरणा दी । हिंदी के क्षेत्र में द्विवेदी जी का आगमन नहीं होता तो हिंदी भाषा की गति वही होती जो नगाधिराज हिमालय के न होने पर भारत की गति है । इसमें ज़रा भी अत्युक्ति नहीं है । माखनलाल जी के शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि "युगसंस्थापक, युग-संचालक, युगनिर्माता, हे युगमूर्ति, युग युग तक तुम्हें युगनमस्कार ! "

●

भाषा-सुधारक आचार्य द्विवेदी

सुरेंद्रनाथ सिंह

आधुनिक गद्य और पद्य की भाषा, खड़ी बोली के परिमार्जन, संस्कार और परिष्कार का इतिहास पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की सूक्ष्म दृष्टि, प्रखर पांडित्य और कर्मठता का इतिहास है। भाषा की यह प्रकृति है कि वह अनेक स्रोतों से प्रभाव ग्रहण करके अभिव्यक्तिक्षम बनती है। खड़ी बोली के विषय में भी यह सत्य है। 19वीं शताब्दी के अंत में खड़ी बोली का विकास अभिव्यंजना के नए-नए क्षितिजों में हो रहा था। अनेक प्रकार के लेखक हिंदी में आ रहे थे। कुछ पुराने ढंग के पंडित थे, कुछ अरबी-फ़ारसी-उर्दू के भक्त थे, कुछ नवशिक्षित अँग्रेज़ी-दाँ थे। वह ऐसा समय था जबकि अँग्रेज़ी, बँगला, मराठी आदि के विद्वानों से निज भाषा की उन्नति के आकांक्षी राष्ट्र प्रेम के नाम पर आग्रह करते थे कि वे हिंदी में कुछ लिखें। परिणामतः हिंदी की प्रकृति से अनभिज्ञ लेखक अन्य भाषाओं के शब्दों के अनुवाद मात्र का आश्रय लेकर टूटे-फूटे शब्दों में कुछ संकोच और हिचक के साथ लिखने लगे। इस कारण से भी हिंदी का रूप विश्रृंखल होने लगा। कोशों के सहारे अपने विचारों का शाब्दिक अनुवाद कर देने से हिंदी की भाव-भंगिमा का ह्रास होना स्वाभाविक था। भाषा की तत्कालीन स्थिति की ओर संकेत करते हुए पं० रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—

"इस कालखंड के बीच हिंदी लेखकों की तारीफ़ में प्रायः यही कहा-सुना जाता रहा कि ये संस्कृत बहुत अच्छी जानते हैं, वे अरबी-फ़ारसी के पूरे विद्वान हैं, ये अँग्रेज़ी के अच्छे पंडित हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी कि ये हिंदी बहुत अच्छी जानते हैं। यह मालूम ही नहीं होता था कि हिंदी भी कोई जानने की चीज़ है। परिणाम यह हुआ कि बहुत से हिंदी के प्रौढ़ और अच्छे लेखक भी अपने लेखों में फ़ारसीदानी, अँग्रेज़ीदानी, संस्कृतदानी आदि का कुछ प्रमाण देना ज़रूरी समझने लगे थे।

परंतु यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रही। सन् 1903 ई० में द्विवेदी जी 'सरस्वती' के संपादक बने। उन्होंने अपने अदम्य व्यक्तित्व और भगीरथ प्रयत्न से भाषा की अनस्थिरता को दूर करके उसे स्थिर तथा परि-निष्ठित रूप दिया, व्याकरण की अव्यवस्था को दूर करके उसे व्यवस्था प्रदान की।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उन्होंने दूसरों की भाषा का सुधार करने से पहले स्वयं अपनी भाषा का सुधार किया। उनकी प्रारंभिक रचनाओं में तत्कालीन लेखकों की कृतियों में पाए जाने वाले अधिकांश भाषा-दोष प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। साहित्य-साधना के बल पर उन्होंने भाषा पर अधिकार प्राप्त किया। उनकी बौद्धिक इयत्ता के विकास के साथ ही साथ उनकी भाषा भी प्रांजल और परिष्कृत होती गई। आचार्य द्विवेदी की महत्ता केवल इस बात में नहीं है कि उन्होंने स्वयं व्याकरण-संमत भाषा का प्रयोग किया बल्कि उनकी

असाधारण गरिमा का आधार यह है कि उन्होंने अन्य लेखकों को टकसाली भाषा में लिखने की प्रेरणा दी, उनकी लिखी हुई रचनाओं का अपेक्षित सुधार किया और उनका मार्ग-दर्शन करके उन्हें इस योग्य बनाया कि वे कालांतर में हिंदी के विख्यात साहित्यकार बन सके।

द्विवेदी जी खड़ी बोली को परिष्कृत और परिमार्जित रूप प्रदान करने के लिए दृढ़संकल्प थे। 'सरस्वती' के संपादक का पद ग्रहण करने पर उन्होंने इस आवश्यक कर्तव्य का संपूर्ण निष्ठा के साथ निर्वाह किया। अनेक बोलियों और भाषाओं के बोलने वाले लोगों की हिंदी में अनेकरूपता की मात्रा अधिक थी। राष्ट्रीय आंदोलन की विचार-वाहिका खड़ी बोली हिंदी के लिए यह आवश्यक था कि वह ऐसे नियमों से अनुशासित हो, जो लोक प्रचलित, सर्व-ग्राह्य और सर्वोपयोगी हों, उसे ऐसे आचार्य का निर्देशन प्राप्त हो जो स्वयं आदर्श हो, जिसके मन में हिंदी के प्रति भक्ति और जिसकी वाणी में शक्ति हो। द्विवेदी जी में ये विशेषताएँ अपने भव्य रूप में उपस्थित थीं। इसीलिए वे भाषा-निर्माण के महत्वपूर्ण कार्य का सफलता से संपादन कर सके।

आचार्य ने भाषा-सुधार का कार्य प्रमुखतया तीन प्रकार से संपन्न किया।

(1) दूसरों के भाषा-दोषों की तीव्र आलोचना के द्वारा,
(2) संपादक-पद से सरस्वती के लेखकों की रचनाओं का संशोधन स्वयं करके अथवा कभी-कभी दूसरों से करा करके,
(3) वार्तालाप, लेखों एवं पत्रों के माध्यम से लेखकों को उनके दोषों के प्रति सावधान करके।

(1) सशक्त ढंग से तीव्र आलोचना वही कर सकता है जो अधिकारी हो, स्वयं प्राणशक्ति से ऊर्ज्वस्वित हो। आलोचना ठोस रूप तभी धारण कर सकती है जब औचित्य के निकष पर खरी उतरे। उसमें आलोचक का आलोच्य कृति और कृतिकार के प्रति दुर्भाव नहीं बल्कि साहित्यिक न्याय व्यक्त हो। द्विवेदी जी की भाषा-संबंधी आलोचनाओं में न्यायमूर्ति रूप ही सधे स्वर में निर्णय देता है। लेखक भाषा-संबंधी त्रुटियों से बचें, अपने मनमौजी असाधु प्रयोगों से भाषा को भानुमती का पिटारा न बनाएँ, इसलिए कठोर अनुशासक नेता की भाँति उनकी रचनाओं की प्रखर आलोचना करते थे। 1901 ई० में उन्होंने 'हिंदी कालिदास की समालोचना' अत्यंत प्रखर शैली में लिखी। इससे ज्ञात होता है कि आचार्य का भाषा-संबंधी ज्ञान कितना गहरा और व्यवस्थित था। प्रस्तुत प्रसंग में निम्नांकित उद्धरण अपेक्षणीय है—

"अनुवादक महोदय ने व्याकरण के नियमों की बहुत कम स्वाधीनता स्वीकार की है। कहीं क्रिया है तो कर्त्ता नहीं और कर्त्ता है तो क्रिया नहीं। कारक चिह्नों की भी अतिशय अवहेलना हुई है। जहाँ कहीं मूल में समापिका क्रिया है वहाँ अनुवाद में मनमानी असमापिका और जहाँ असमापिका है वहाँ समापिका कर दी गई है। कहीं एक के स्थान में दो-दो तीन-तीन क्रियाएँ रखी गई हैं और कहीं एक भी नहीं। काल और वचन-विचार को भी अनेक स्थलों पर तिलांजलि मिली है। इन महान् दोषों के कारण भाषा पद्यों का ठीक ठीक अन्वय नहीं हो सकता।..........

छटितम नील धार की भाँती।
सेवत विमल जोन्ह युतराती।।
कहुँ गेहन महँ चलत फुहारा।
कहुँ मनि ज्योति अनेक प्रकारा।।
कहुँ चंदन घसि अंग लगावत।
यहि रितु नर मन ताप नसावत।।

...अब कहिए कि प्रथम दो पंक्तियों का अर्थ क्या समझे ? 'छटि' यह जो असमापिका क्रिया है तत्संबंधी समापिका क्रिया कहाँ है ? फिर इससे अर्थ क्या निलकता है, सो भी बतलाइए। हमारी बुद्धि में तो 'नील धार की भाँति तम छँटकर जोन्हयुत विमल रात्रि का सेवन करता है' यही अर्थ भासित होता है। क्या कहना ? अश्रुतपूर्व अर्थ है। अँधकार चाँदनी का सेवन करने लगा ? हम प्रार्थनापूर्वक पूछते हैं 'नील धार' क्या पदार्थ है जिसकी

उपमा तम से दी गई है । 'सेवत' का कर्त्ता यदि 'नर' मानते हैं तो क्रिया काशी में और कर्ता कश्मीर में, इस प्रकार की दशा होती है और फिर 'छटि तम नीलधार की भाँति' यह चरण विकिर पिंडवत अलग ही रह जाता है । उसका अन्वय ही नहीं हो सकता । फुहारे आप ही आप चलते हैं। मणि-ज्योतियाँ भी आप ही आप प्रकाशित होती हैं, परंतु क्या चंदन भी आप ही आप घिस जाता है ? यदि 'घसि लगावत' का कर्त्ता 'नर' है तो तीसरी और चौथी पंक्ति में उस नर का कोई कर्तृत्व नहीं पाया जाता । 'नर' ने यदि फुहारों और मणिज्योतियों से कुछ काम ही न लिया तो उनका होना निष्फल हुआ । अनुवादक जी के ईप्सित अर्थ को केवल योगीजन योग दृष्टि द्वारा ही जान सकते हैं, अन्य की गति नहीं जो जान सके ।"

द्विवेदी जी कटु आलोचना के साथ-साथ भाषा के परिष्कृत रूप की ओर भी संकेत करते चलते थे । चुटीली शैली में तद्भव शब्दों के अभिप्राय-रहित प्रयोग की विगर्हणा करते हुए कोमल भाव के अनुकूल संस्कृत के श्रवण-मधुर शब्दों को अपनाने की वांछा प्रकट करते हैं।

'ठंड' के झुंड को तो देखिए । शीत और शीतल को अर्द्धचंद्र देकर जहाँ कहीं आवश्यकता पड़ी है प्रायः 'ठंड' का ही प्रयोग किया गया है । 'चंचु' अथवा 'चोंच' शब्द नहीं आने पाया । आने पाया है 'टोंट' । 'पलाश' और 'किंशुक' का प्रयोग नहीं हुआ, हुआ है 'टेसू' का । 'पाथर ढेरी', 'धनु डोर', 'नेवाड़ी' की मधुरता को तो देखिए । 'कुमारसंभव भाषा' में अनुवादक जी ने 'बजे जु टुटत सप्तऋषि हाथा', 'टूटे तार की बीन समाना' लिखा था, इसमें 'टुटी माल विखरी लटें बसे अगर सनकेस' लिख दिया । 'टूटना' क्रिया से अधिक स्नेह जान पड़ता है । 'अस्त होना' स्यात् कटु था जिससे 'डूबना' लिखा गया । अनुवादक जी अभी तक 'ठंड' के पीछे पड़े थे, छोड़ते-छोड़ते उसे छोड़ा तो उसके स्थान में 'जाड़ा' लिख दिया । ईंट न सही पत्थर सही ।"

उर्दू-भक्त लेखक अरबी-फ़ारसी शब्दों को उनके तत्सम-रूप में लिखते थे, किंतु संस्कृत के शब्दों को ऐसा विकृत करते थे कि कहीं-कहीं अर्थ का अनर्थ भी हो जाता था । यह बात द्विवेदी जी को असह्य थी । 'भाषा सुधार और व्याकरण' लेख में उन्होंने उन विभूतियों के भाषा-दोषों पर तीव्र प्रहार किए हैं जो अपनी 'जुबांदानी साबित' करने के लिए शब्दों को विकृत करते हैं—

"ये अरबी, फ़ारसी और उर्दू के दास 'सत्य' को 'सत', 'पति' को 'पती', 'अनुभूति' को 'अनुभूती' 'लक्ष्मी' को 'लक्शमी', 'स्त्री' को 'इस्त्री', 'पाँच सौ' को 'पान्सौ', 'मेषराशि' को 'मेख (खूँटा) राशि', और 'सदिच्छा' को 'सदेच्छा' लिख कर अपनी 'जुबांदानी' साबित करते हैं । यहाँ तक कि अपना नाम लिखने में वे 'नारायण' को 'नरायण (न)', 'प्रसाद' को 'परसाद' और 'गुप्त' को 'गुप्ता' तक कर डालते हैं । खुद तो वे 'नामोनिशान' या 'नामोनिशाँ' की जगह अक्सर 'नामनिशान' लिखते हैं, पर यदि कोई 'रद्दबदल' लिख दे तो उसे 'रद्दोबदल' कराने दौड़ते हैं गोया शब्दों के ठेकेदार आज़म यही हैं । उनकी कुटल नीति ने चाणक्य नीति को मात कर दिया ।"

(2) 19वीं शताब्दी का समय आधुनिक हिंदी का शैशव काल था । अधिकांश लेखक भाषा की साधुता से काफ़ी दूर थे और अनेक प्रकाशक प्रूफ़-संशोधन तक की आवश्यकता नहीं समझते थे । फलतः मुद्रण की भी भयंकर भूलें होती थीं । नायक या नायिका के स्थान पर नामक या नामिका छप जाना साधारण बात थी । भाषा-विषयक अराजकता के ऐसे युग में द्विवेदी जी 'सरस्वती' के संपादक बने थे । द्विवेदी-संपादित 'सरस्वती' के आरंभिक अंकों से यह सिद्ध होता है कि उस समय समर्थ लेखकों का अभाव था । अधिकांश लेखन-कार्य संपादक को अपने नाम से या छद्म-नाम से स्वयं ही करना पड़ा । 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी गई स्वीकृत एवं अस्वीकृत रचनाओं की पांडुलिपियाँ यह निसंदेह प्रमाणित करती हैं कि लेखक लिखना तक नहीं जानते थे । शुद्धता के उपासक एवं भाषा के सजग प्रहरी के लिए ये त्रुटियाँ असह्य थीं । उन्होंने दोष-परिहार के लिए ध्वंसात्मक और भाषा-निर्माण के लिए रचनात्मक प्रवृत्ति अपनाई । उन्होने अशुद्ध रूपों की निषेधात्मक आलोचना मात्र करके संतोष नहीं किया बल्कि उनके शुद्ध रूपों का आदर्श भी प्रस्तुत किया । केवल यही निर्णय नहीं दिया कि अमुक रूप असाधु एवं अग्राह्य है, अपितु आचार्य नाम को सार्थक करते हुए यह भी बतलाया कि अमुक रूप साधु एवं ग्राह्य है । 'सरस्वती' के लेखकों की रचनाओं को देखने वाले यह जानते हैं कि किस प्रकार द्विवेदी जी ने उनकी

रचनाओं की आमूल काट-छाँट की है, उनका कायाकल्प किया है । इस प्रकार आद्योपांत संशोधन के कारण रचनाएँ इतनी रंग जाती थीं कि कभी कभी कंपोज़िटरों के लिए अपाठ्य-सी हो जाती थीं । परंतु धन्य है वह सूत्रधार जो कानपुर में रहता हुआ भी प्रयाग में छपनेवाली 'सरस्वती' में अशुद्धियाँ नहीं रहने देता था । द्विवेदी जी के तप से ही 'सरस्वती' सरस्वती बन गई ।

हिंदी के वे साहित्यकार जो अपनी भाषा शैली के लिए बहुत दिनों तक याद किए जाते रहेंगे वे भी आचार्य द्विवेदी से पाथेय ग्रहण करके अपने गंतव्य की ओर बढ़े थे । उनकी प्रारंभिक रचनाओं में अनेक प्रकार के भाषा-दोष दृष्टिगोचर होते हैं । द्विवेदी जी ने उनकी भाषा का एक आदर्श गुरू की भाँति संशोधन किया ।

उस युग में वर्तनी की अशुद्धि साधारण बात थी । द्विवेदी जी ने भाषा को परिनिष्ठित करने के लिए उनका मार्जन करना अनिवार्य समझा । हिंदी का सर्वप्रथम व्यवस्थित व्याकरण लिखने वाले कामताप्रसाद गुरू 'उन्है', 'अनौखा', 'तौ', 'प्रगट' आदि लिखते थे । मिश्रबंधु की रचनाओं में 'आगामि', 'जलजान', 'दशावों', 'कर्त्ता है' 'पडैंगा', 'प्रतिबादी' आदि का व्यवहार पाया जाता है । रामचंद्र शुक्ल ने 'अस्थिपिंजर', 'अंतर्ध्यान' आदि का प्रयोग किया है । अध्यापक पूर्णसिंह में तो अशुद्धियों की भरमार है—'कीया', 'बैह', 'नौज्वान', 'चह्‌य', 'प्रेममै' साह्‌यने' आदि । 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी गई रचनाएँ संज्ञा, सर्वनाम, विशेष्य, विशेषण, क्रिया, अव्यय, कारक, लिंग, वचन आदि की अशुद्धियों से भरी रहती थीं । द्विवेदी जी घोर परिश्रम करके उन्हें व्याकरणसंमत प्रांजल रूप प्रदान करते थे । निम्नांकित संक्षिप्त सरणी से उनके महत्वशाली संशोधन-कार्य का दिग्दर्शन हो जाएगा ।

मूल	द्विवेदी जी द्वारा संशोधित
मेरा मित्र........टहलने लगे (सत्यदेव)	मेरे मित्र........टहलने लगे
भाव उदय........होते हैं (विद्यानाथ)	भाव उदित...........होते हैं
उनके अभिमान का चकनाचूर हो गया (सत्यदेव)	उनका अभिमान चकनाचूर हो गया
समझी जानी लगी (रामचंद्र शुक्ल)	समझी जाने लगी
भेज दिई जावें (गोविंदवल्लभ पंत)	भेज दी जाएँ
लड़के लड़कियाँ———लगे थे (सत्यदेव)	लड़के लड़कियाँ........लगी थीं
बदला लेवे (मिश्रबंधु)	बदला ले
जब—तो (सूर्यनारायण दीक्षित)	जब——तब
हर एक मनुष्य मात्र (पूर्ण सिंह)	हर एक मनुष्य
जन्म दिन को (मिश्रबंधु)	जन्मदिन पर
पत्थरों में खुदी हुई (पूर्णसिंह)	पत्थरों पर खुदी हुई
की लालच (रामचंद्र शुक्ल)	का लालच
के शुद्धि (वेंकटेशनारायण तिवारी)	की शुद्धि
हमारे संतान (काशीप्रसाद जायसवाल)	हमारी संतान
जितनी स्त्री समाजें हैं (सत्यदेव)	जितने स्त्री समाज हैं
योद्धों (वृंदावनलाल वर्मा)	योद्धाओं
बीमाओं (मिश्रबंधु)	बीमों
यह लोग (श्रीमती बंग महिला)	ये लोग
चैतन्यता (रामचंद्र शुक्ल)	चेतनता
उतपत्ति (गणेशशंकर विद्यार्थी)	उत्पत्ति

इस प्रकार वाक्य के आकांक्षा, योग्यता आदि गुणों की ओर भी उन्होंने पर्याप्त ध्यान दिया । भावाभिव्यक्ति के लिए वाक्य रचना में इनका उचित विनियोग आवश्यक है । श्री रामचंद्र शुक्ल ने लिखा था—"दोनों में मानव हृदय पर किसका—" द्विवेदी जी ने शुद्ध किया—"मानवहृदय पर दोनों में से किसका—"। श्री सत्यदेव की

मूल रचना में प्रयुक्त वाक्य था—'घंटी को आगे देखा है।' आचार्य द्विवेदी ने उसे संशोधित रूप दिया—'घंटी पहले कभी देखी है।' पं० वेंकटेशनारायण तिवारी की उक्ति थी—'मूल या सिद्धांत था।' द्विवेदी जी ने परिमार्जन किया—मूल सिद्धांत यह था।

उन्होंने स्थान-स्थान पर मुहावरों को सुधार-सँवार कर भी भाषा को धारावाहिक एवं व्यंजनासमर्थ बनाने का प्रयास किया, उदाहरणार्थ—'ठंडी साँस भरी' के स्थान पर 'ठंडी साँस ली', 'धूल में उड़ गए' के स्थान पर 'धूल में मिल गए', 'शराब का दौर लगा रहे हैं' के स्थान पर 'शराब का दौर चल रहा है' आदि।

रचनाओं की अशुद्धियों का संशोधन करते-करते जब वे 'अनंत परिश्रम से पराजित' हो जाते थे तब दूसरों से भी उनका संशोधन कराने का प्रयत्न करते थे। पं० गिरिधर शर्मा की 'अंशुमती' कविता को श्री मैथिलीशरण गुप्त के पास संशोधनार्थ भेजते हुए उन्होंने हाशिए पर जो आदेश दिया है उससे इस तथ्य की पुष्टि होती है—"मैथिलीशरण जी,

दया कीजिए, हमारी जान बचाइए। इन दोनों कविताओं को ज़रा ध्यान से अच्छी तरह देख जाइए। फिर उचित संशोधन करके चार-पाँच दिन में यथासंभव शीघ्र ही लौटा दीजिए। कई जगह शब्दस्थापना का क्रम ठीक नहीं। पढ़ते नहीं बनता।"

(3) द्विवेदी जी अपने लेखों में हिंदी के अशुद्ध प्रयोगों की सोदाहरण आलोचना करते थे। निर्द्वंद्व होकर बड़े से बड़े लेखकों के दोषों का उद्घाटन करने से कभी-कभी घनघोर विवाद भी हो जाया करता था। 1905 ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित 'भाषा और व्याकरण' नामक लेख के कारण उनमें और श्री बालमुकुंद गुप्त में जो विवाद चला था उसमें रोचकता के साथ-साथ तीक्ष्णता भी कम नहीं थी।

द्विवेदी जी वास्तविक अर्थ में आचार्य थे। वे अपने दायित्व के प्रति सदैव जागरूक थे। वे शुद्धता का जितना ध्यान प्रकाशन में रखते थे उतना ही वार्तालाप में भी। यही कारण है कि वे स्वयं परिनिष्ठित भाषा का प्रयोग करते थे और दूसरों से भी यह अपेक्षा रखते थे कि वे भी लिखते तथा बोलते समय शुद्धता का ध्यान रखें। उनकी इस सजगता और सुधारक-प्रवृत्ति का अवबोध पं० विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' के साथ किए गए वार्तालाप में ध्यान देने योग्य है—"देखिए लेने के अर्थ में जब लिये शब्द लिखा जाता है तब यकार से लिखा जाता है और जब विभक्ति के रूप में आता है तब एकार से लिखा जाता है। जो शब्द एक वचन में एकारांत रहते हैं वे बहुवचन में यकारांत ही रहेंगे। जैसे किया—किये, गया-गये, परंतु स्त्रीलिंग में 'गयी' न लिखकर ईकार से 'गई' लिखा जाता है। 'कहिए', 'चाहिए', 'देखिए' इत्यादि में एकार लिखा जाता है। अकारांत शब्दों का बहुवचन एकारांत होता है। जैसे 'हुआ' का बहुवचन 'हुए'। जहाँ पूरा अनुस्वार बोले वहाँ अनुस्वार लगाया जाता है। जैसे 'संस्कार' और जहाँ आधा अनुस्वार, जिसे उर्दू में नूनगुन्ना कहते हैं, बोले वहाँ चंद्रबिंदु लगाया जाता है—जैसे 'काँपना'।"

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित निष्कर्ष निकलता है कि द्विवेदी जी की भाषा-विषयक मान्यता मन की तरंग पर आश्रित न होकर निश्चित सिद्धांतों पर प्रतिष्ठित थी। वे भाषा को अभिव्यक्ति का साधन ही मानते थे, साध्य नहीं। उनकी निर्भ्रांत धारणा थी कि यदि हिंदी में व्यवहृत अन्य भाषाओं के शब्दों से विचार-व्यंजना में अपेक्षित सहायता मिलती है तो उन्हें अवश्य ग्रहण करना चाहिए—

"आजकल कुछ लेखक तो ऐसी हिंदी लिखते हैं जिसमें संस्कृत शब्दों की प्रचुरता रहती है। कुछ संस्कृत, अँग्रेज़ी, फ़ारसी, अरबी सभी भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं। कुछ विदेशी शब्दों का बिलकुल ही प्रयोग नहीं करते, ढूँढ़-ढूँढ़ कर ठेठ हिंदी शब्द काम में लाते हैं। मेरी राय में शब्द चाहे जिस भाषा के हों यदि वे प्रचलित शब्द हैं और सब कहीं बोलचाल में आते हैं तो उन्हें हिंदी के शब्द-समूह के बाहर समझना भूल है। उनके प्रयोग से हिंदी की कोई हानि नहीं, प्रत्युत लाभ है। अरबी, फ़ारसी के सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जिनको अपढ़ आदमी तक बोलते हैं। उनका बहिष्कार किसी प्रकार भी संभव नहीं।"

उन्होंने हिंदी भाषा और व्याकरण के अनेक विवादग्रस्त विषयों का युक्तिपूर्वक स्पष्टीकरण किया है। कारक-विभक्तियों के संबंध में उनका मंतव्य बहुत कुछ व्यावहारिक उपयोगिता पर आधारित है—

"....जिस शब्द के साथ जिस विभक्ति का योग होता है वह उसी का अंश हो जाती है । यह सत्य है, परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि विभक्तियों को शब्दों से जोड़ कर लिखा जाए। संस्कृत-व्याकरण में भी इस नियम का निर्देश नहीं। उसमें विभक्तियाँ पृथक रह ही नहीं सकतीं क्योंकि उनकी संधि से शब्दों में विकार उत्पन्न हो जाते हैं, परंतु हिंदी में ऐसी बात नहीं। विभक्तियों को सटाकर या हटाकर लिखना रुचि, शैली या सुभीते का विषय है, व्याकरण का नहीं। शब्द अलग-अलग होने से पढ़ने में सुभीता होता है, भ्रम की संभावना कम रह जाती है । अतः विभक्तियों का अलग लिखना ही अधिक श्रेयस्कर है।..."

अब हिंदी राष्ट्रभाषा स्वीकृत हो चुकी है । कश्मीर से कन्याकुमारी तक की अंतः प्रांतीय भाषा के रूप में मान्य है । आज उसका क्षेत्र अत्यत व्यापक हो गया है। अहिंदी-भाषाभाषी भारतीय ही नहीं बल्कि विदेशी लोग भी बहुत बड़ी संख्या में उत्साह के साथ हिंदी सीख रहे हैं । हिंदी की समस्याएँ अनेकमुखी हैं। स्थिरीकरण और एकरूपता का प्रश्न भी अनुपेक्षणीय है। यह ठीक है कि बोलचाल की भाषा में सदैव परिवर्तन होते रहे हैं और होते रहेंगे, परंतु यह भी आवश्यक है कि वर्तनी और व्याकरण की दृष्टि से हिंदी का हिंदीत्व सुरक्षित रखा जाए, उसके रूपों में स्थिरता और एकरूपता लाई जाए, उसे एक आदर्श राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया जाए। इस गुरुतर दायित्व का निर्वाह कौन करेगा ? कोई भी समझदार व्यक्ति इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि आज हिंदी भाषा को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे महान् साहित्यिक नेता की महती आवश्यकता है।

भाषा-संस्कारक द्विवेदी

रामफेर त्रिपाठी

यद्यपि हिंदी (खड़ी बोली) के स्वरूप की प्रतिष्ठा भारतेंदु और अनेक सहयोगियों द्वारा हो चुकी थी, तथापि अभी उसका परिष्कार, परिमार्जन और संस्कार होना बाकी था। तब हिंदी भाषा के नाम पर सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता फैली हुई थी जब 'सरस्वती' के माध्यम से हिंदी-जगत् में महावीरप्रसाद द्विवेदी का आगमन हुआ। इन स्थितियों ने द्विवेदी जी के भाषा-संस्कारी रूप को बनाने में महत्वपूर्ण योग दिया। इसलिए कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी का भाषा संशोधन बहुत कुछ समय की माँग का पूरक था। आज, जब कि हिंदी अपेक्षतः इतनी समृद्ध और विकसित हो गई है तब भी यह महसूस किया जा रहा है कि हिंदी के स्वरूप-निर्णय और संप्रति भाषा के नाम पर चलने वाले नाना विवादों को सुलझाने तथा उसे एक निश्चित् दिशा-निर्देशन के लिए महावीरप्रसाद द्विवेदी ही जैसे कर्मठ भाषा-सुधारक व्यक्ति की बड़ी ज़रूरत है। भाषागत प्रश्नों, विवादों और समस्याओं के हल के लिए जिस सत्य-निष्ठा, अनथक परिश्रम, अडिग आत्मविश्वास, घोर सक्रियता, असीम सहनशीलता, अटूट लगन, निश्चित नीति और स्थिर होते हुए भी जिस प्रगतिशील भाषादर्श की आवश्यकता होती है, द्विवेदी जी में उन सबका अच्छा समन्वय था।

हिंदी-हित से प्रेरित होकर द्विवेदी जी ने सन् 1903 ई० में 'सरस्वती' के संपादन का कार्यभार सँभाला। अब उनके पास अनेक प्रसिद्ध और लोकप्रिय साहित्यकारों की ऐसी रचनाएँ आने लगीं जिनकी भाषा व्याकरणिक दृष्टि से अत्यंत अव्यवस्थित और दोषपूर्ण होती थी। शैली के विचार से भी वे काफ़ी अक्षम और अपरिपक्व होती थीं। इस तरह के कवियों और लेखकों में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद और रामचंद्र शुक्ल के नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। द्विवेदी जी अब 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आए लेखों और कविताओं की भाषा का परिष्कार, परिमार्जन और संशोधन करने लगे। शायद ही ऐसी कोई रचना होती जो द्विवेदी जी की संस्कृत और संशोधनकारी दृष्टि का प्रभाव अथवा प्रसाद पाए बिना प्रेस में मुद्रणार्थ जाती। उनके द्वारा संशोधित कतिपय ऐसी रचनाएँ नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी के संग्रहालय में अब भी देखी जा सकती हैं। अशुद्धियों से भरी होने के कारण कई बार उन्हें अनेक रचनाओं का आद्योपांत संशोधन करना पड़ता था। कभी-कभी ऐसा करने में पूरी रचना का यहाँ तक कायाकल्प हो जाया करता था कि लेखक केवल अपने नाम को देखकर ही अपनी कृति का आभास पाता था। इस संबंध में मैथिलीशरण गुप्त द्वारा प्रेषित 'हेमंत' नामक कविता को साक्ष्य-रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसे आमूल संशोधित कर द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में निकाला था। उक्त संशोधन से गुप्त जी पर इसकी जो प्रतिक्रिया हुई, उसे व्यक्त करते हुए उनका कहना है—"जिस रूप में मैंने उसे भेजा था उससे दूसरी ही वस्तु वह दिखाई पड़ती थी, बाहर से ही नहीं भीतर से भी। पढ़ने पर मेरा आनंद आश्चर्य में बदल गया। इसमें तो इतना संशोधन और परिवर्धन हुआ था कि यह मेरी रचना ही नहीं कही जा सकती थी। कहाँ वह कंकाल और कहाँ यह मूर्ति! वह कितना

विकृत और यह कितनी परिष्कृत। फिर भी शिल्पी के स्थान पर नाम तो मेरा ही छपा है। मुझे अपनी हीनता पर लज्जा आई और पंडित जी की उदारता देखकर श्रद्धा से मेरा मस्तक झुक गया। इतना परिश्रम उन्होंने किया और उसका फल मुझे दे डाला। यह तो मुझे पीछे ज्ञात हुआ कि मेरे ऐसे न जाने कितने लोग इनसे इस प्रकार उपकृत हुए हैं। नाम की अपेक्षा न रखकर काम करना साधारण बात नहीं, परंतु काम आप करके नाम दूसरे का करना और भी असाधारण है।" पत्र में दोषों का उल्लेख करते हुए अस्वीकृत रचनाएँ लेखक को लौटा दी जाती थीं।

द्विवेदी जी के इन भाषागत सुधारों का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि भाषा के छोटे-मोटे प्रश्नों के प्रति भी लोग काफ़ी जागरूक बन बैठे। हिंदी-विभक्तियों को हटाकर लिखा जाए या सटाकर, इसे लेकर सन् 1909 में 'हटाऊ और सटाऊ' नामक दो विवाद उठ खड़े हुए। द्विवेदी जी विभक्तियों के 'हटाऊ' पक्ष के समर्थक थे। और अंत में विजय भी इसी पक्ष की हुई थी।

'पुस्तक-समीक्षा' के लिए जो पुस्तकें द्विवेदी जी के पास आती थीं, उनकी आलोचना करते समय वे उनकी भाषा-शैली-पक्ष पर विशेष ध्यान देते थे। मिश्र बंधुओं के 'हिंदी-नवरत्न', जो अपने समय की उत्कृष्ट कोटि की समीक्षा-कृति समझी जाती थी, की कड़ी आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा था—

"भाषा इसकी परिमार्जित नहीं है। अनेक स्थलों की रचना व्याकरण-च्युत भी है। संभव है तीन आदमियों की शिरकत इसकी भाषा के अधिकांश दोषों का कारण हो। अच्छे लेखक की भाषा जैसी होनी चाहिए वैसी भाषा इस पुस्तक की नहीं।"

विराम-चिह्नों के अनिवार्य और व्यवस्थित प्रयोगों की ओर भी द्विवेदी जी ने तत्कालीन लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। लोग विरामों पर ध्यान न देने के आदी बन गए थे। इसे अच्छी तरह लक्ष्यकर द्विवेदी जी ने पहला काम यह किया कि अपनी रचनाओं में विरामों का यथोचित प्रयोग कर एक आदर्श उपस्थित किया और साथ ही दूसरों को भी ऐसा करने पर मजबूर किया।

द्विवेदी जी द्वारा किए गए भाषा-सुधार कार्य को निम्नोद्धृत चार श्रेणियों में रखकर देखा जा सकता है:—

(अ) सरस्वती-संपादक के रूप में किया गया सुधार ;

(ब) दूसरे अनेक साहित्यकारों की अशुद्धियों और दोषों की आलोचना करके किया गया सुधार ;

(स) यथावसर नाना हिंदी-ग्रंथों की भाषा को संशोधित कर किया गया सुधार ; और (द) भाषा-व्याकरण संबंधी लेख लिखकर, पत्र लिखकर और भाषण आदि के माध्यम से खोजा गया सुधार।

संपादक-रूप में वे अपनी संयत और निश्चित रुचि के अनुकूल 'सरस्वती' में छपने के लिए आई हुई रचनाओं की तारश-खराश करते थे। संशोधन व सुधार में वे किसी की राय के कायल नहीं थे। द्विवेदी जी का यह संशोधन इतना लाभप्रद होता था कि मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचंद जैसे साहित्यकारों ने थोड़े समय में ही पर्याप्त प्रगति कर ली थी। चूंकि प्रेमचंद जी उर्दू से हिंदी में आए थे, इसलिए वे हिंदी भाषा और शैली के नाम पर और भी दरिद्र साबित हो रहे थे। प्रेमचंद जी जब कभी अपनी कोई कहानी 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ प्रेषित करते तब उसकी एक प्रति अपने पास प्रकाशित संशोधित कहानी से तुलना कर अपनी त्रुटियों और अशुद्धियों को जानने के लिए अवश्य सुरक्षित रखते। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के प्रसिद्ध निबंध "कविता क्या है?" का संशोधन द्विवेदी जी के हाथों ही हुआ था। इसके अतिरिक्त उनके भाषा-सुधार से 'हरिऔध', गोपालशरण सिंह, श्रीधर पाठक और सत्यनारायण 'कविरत्न' जैसे अनेक आहित्य महारथियों ने लाभ उठाया था।

लोक-रुचि का परिष्कार कर भाषा को उत्कृष्ट साहित्य के सर्वथा योग्य बनाने के लिए द्विवेदी जी ने समय-समय पर जो संपादकीय लेख, भाषण और साहित्यिकों को पत्रादि लिखे उनसे भी हमारी भाषा के संस्कार का पथ पर्याप्त प्रशस्त हुआ। हिंदी को समृद्धशालिनी देखने के लिए दूसरी भाषाओं से शब्द लेने में संकोच न करने का समर्थन

---

1. द्विवेदी पत्रावली में संग्रहीत गुप्त जी के 'आचार्य देव' संस्मरण से।

करते हुए कानपुर साहित्य संमेलन में भाषण के अवसर पर उन्होंने कहा था—

"विदेशी भाव, शब्द और मुहावरे ग्रहण करने में केवल यह देखना चाहिए कि हिंदी उन्हें पचा सकती है या नहीं, उनका प्रयोग खटकता तो नहीं, वे उसकी प्रकृति के प्रतिकूल तो नहीं, हिंदी हिंदी ही बनी है या नहीं। मकान, मालिक, नोट, नंबर आदि शब्द हिंदी में खप गए हैं, विदेशी नहीं रहे। हाँ, खटकने वाले भावों या मुहावरों का प्रयोग करना ठीक नहीं। दृष्टिकोण (Angle of vision), लागू होना (to be applied), नंगी प्रकृति (naked nature), आदि के प्रयोग में हिंदी की विशेषता को धक्का पहुँचता है।"

उन्होंने उक्त बातों पर ध्यान देते हुए भाषा की नई-नई शैलियों को अपनाने के लिए लेखकों को उकसाया और नए शब्दों तथा मुहावरों से संपन्न भाषा-प्रयोग की बात कही, जिससे कि हिंदी की अभिव्यंजना-शक्ति बढ़े और उसमें निखार आए।

व्याकरण और भाषा संबंधी अनेक लेख लिखकर भी द्विवेदी जी ने तद्विषयक त्रुटियों के परिहार का प्रयत्न किया। वे किसी लेखक या कवि की रचनागत त्रुटियों को देखकर स्वभावतः ही चिढ़ जाते और खीझ उठते थे। किंतु बाद में उनकी यही खीझ ही उन दोषों या अशुद्धियों के परिमार्जन का कारण बनती थी। कुछ ऐसी ही मनःस्थिति में बालमुकुंद गुप्त के विषय में द्विवेदी जी ने लिखा था—

"ये अरबी, फ़ारसी और उर्दू के दास 'सत्य' को 'सत', 'पति' को 'पती', 'अनुभूति' को 'अनुभूति'—'स्त्री' को 'इस्त्री', 'पाँच सौ' को 'पान्सौ'—लिखकर अपनी जुबाँदानी साबित करते हैं।"

अपने व्यंग्यात्मक और विरोध प्रधान निबंधों में द्विवेदी जी छद्मनाम का भी प्रयोग करते थे। ऐसा शायद आलोच्य विषय की अच्छी तरह खबर लेने के लिए किया जाता था। दूसरे, ऐसा करने से आलोच्य साहित्यकार, जो संभवतः उनका घनिष्ट भी हो सकता है, को प्रहारकर्ता (आलोचक) का पता न लगे—ऐसी भी मंशा का होना इसके पीछे संभव है। श्रीकंठ पाठक एम० ए०, के कल्पित नाम से अपने स्नेही पं० सुधाकर द्विवेदी की रचना 'रामकहानी' की कटु आलोचना उन्होंने इसी तरह की है—

"इस पुस्तक की भाषा न हिंदी है, न उर्दू है, न गँवारी है। वह इन सबकी खिचड़ी है। किसी की मात्रा कम है, किसी की अधिक। गेहूँ, चावल, तिल, उड़द आदि सात धान्य, कोई कम कोई अधिक, सब एक में गड्ड बड्ड कर देने से जैसे सतनजा हो जाता है, वैसे ही इस पुस्तक की भाषा भी कई बोलियों की खिचड़ी है"

द्विवेदी जी ने पत्रों के माध्यम से भी भाषा-संस्कार का महत्वपूर्ण काम किया है। 'सरस्वती' में लिखने वाले सभी कवियों और लेखकों को पत्र लिख कर उनकी रचनागत त्रुटियों से वे उन्हें बराबर अवगत कराते रहते थे। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि ऐसे पत्रों में उस समय की सारी साहित्यिक हलचलों को स्पष्ट देखा जा सकता है। मैथिलीशरण गुप्त को लिखा गया उनका एक पत्र देखिए :—

"हम लोग सिद्ध कवि नहीं। बहुत परिश्रम और विचारपूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढ़ने योग्य बन पाते हैं। आप दो बातों में से एक भी नहीं करना चाहते हैं। कुछ लिखकर उसे छपा देना ही आप का उद्देश्य जान पड़ता है। आपने 'क्रोधाष्टक' थोड़े ही समय में लिखा होगा, परंतु उसे ठीक करने में हमारे चार घंटे लग गए। पहला ही पद्य लीजिए :—

होवे तुरंत उनकी बलहीन काया
जाने न वे तनिक भी न अपना पराया
होंवे विवेक पर बुद्धि विहीन पापी
रे क्रोध, जो जन करें तुझ को कदापि

क्या आप क्रोध को आशीर्वाद दे रहे हैं जो आपने ऐसी क्रियाओं का प्रयोग किया? इसे हम अवश्य 'सरस्वती' में छापेंगे परंतु आगे से आप 'सरस्वती' के लिए लिखना चाहें तो इधर-उधर अपनी कविताएँ छापने का विचार छोड़ दीजिए। जिस कविता को हम चाहें उसे छापेंगे। जिसे न चाहें उसे न कहीं दूसरी जगह छपाइए, न किसी को दिखाइए। ताले में बंद करके रखिए।"

एक-एक शब्द की परख व पड़ताल द्विवेदी जी कितनी गहराई से करते थे और उसके लिए उनमें कितना धैर्य, कितनी सहनशीलता तथा कितना हिंदी-हित भरा था, इसका पता 'सुहाग' शब्द को लेकर मैथिलीशरण जी को उनके द्वारा लिखा हुआ निम्नोद्धृत पत्र दे सकता है:—

जूही, कानपुर
29—9—46

श्रीयुत बाबू मैथिलीशरण जी,

आशीष। सुहाग शब्द का जो भाव है (हिंदी में) वह सौभाग्य से ठीक-ठीक-व्यक्त नहीं होता। इस कारण भाग-सुहाग पाठ सुख-सौभाग्य से अधिक उपयुक्त है। भाग-सुहाग की जगह सुखद-सुहाग भी हो सकता है। जो पद्य आपने लिखा उसका दूसरा चरण मुझसे ठीक पढ़ते नहीं बनता, गति ठीक है?

शुभैषी,
म० प्र० द्विवेदी।

निष्कर्ष-रूप में भाषाविषयक नाना सुधारों का उल्लेख करते हुए द्विवेदी युगीन साहित्य के प्रसिद्ध अध्येता डॉ० उदयभानु सिंह का कहना है कि "इस प्रकार द्विवेदी जी समालोचनाओं द्वारा हिंदी-लेखकों को वर्ण और शब्द-गत लेखन त्रुटियों, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, अव्यय, लिंग, वचन, कारक, संधि, समास, प्रत्यक्ष, आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि, वाच्य, प्रत्यक्ष और परोक्ष भाषण, आदि की व्याकरणासंबंधी अशुद्धियों, विरामादि चिह्नों, अवच्छेद, मुहावरों, पुनरुक्ति, कटुता, जटिलता, शिथिलता, पंडिताऊपन आदि दोषों का परिहार करके हिंदी के अनिश्चित प्रयोगों को निश्चित रूप देने में बहुत कुछ कृतकार्य हुए।"

अंत में इतना कहना ही पड़गा कि द्विवेदी जी ने अपने सुधारों से हिंदी को विकसित किया है और ऐसा करके उसे एक अक्षुण्ण मर्यादा प्रदान की है। उनके आपादमस्तक सुधारवादी होने का यह बड़ा लाभ हिंदी को मिला था। उनकी भाषाविषयक अनेक बातें भाषा संक्रांति के इस युग में हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकती हैं। मैं समझता हूँ कि द्विवेदी जी भाषा के जिस आदर्श ग्रौर सामान्य नीति को अपना कर आगे बढ़े थे, उसमें अब भी ऐसी अनेक विचारणीय बातें हैं जिन पर चलकर बहुत कुछ लाभान्वित हुआ जा सकता है। आज द्विवेदी जी की इस राय से कौन असहमति प्रगट कर सकता है कि "हमारी राय यह है कि इस समय हिंदी में जितनी पुस्तकें लिखी जाएँ खूब सरल भाषा में लिखी जाएँ। यथासंभव उनमें संस्कृत के अधिक शब्द न आने पाएँ। क्योंकि जब लोग सीधी-सादी भाषा की पुस्तकों ही को नहीं पढ़ते तब वे क्लिष्ट भाषा की पुस्तकें क्यों छूने लगे, अतएव जो शब्द बोलचाल में आते हैं फिर चाहे वे फ़ारसी के हों, चाहे अरबी के हों, चाहें अँग्रेज़ी के हों उनका प्रयोग बुरा नहीं कहा जा सकता।"
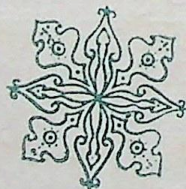
महावीरप्रसाद

कन्हैयालाल शर्मा 'ब्रजेश'

स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म संवत् 1921 ईसवी में रायबरेली ज़िले के अंतर्गत दौलतपुर नामक ग्राम में एक साधारण-ब्राह्मण परिवार में हुआ था। साथ ही देहावसान संवत् 1996 ईसवी में। इनके पिता फ़ौज में नौकर थे किंतु किसी विशेष पद पर न होने के कारण घर की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ न थी। अतः धनाभाव के कारण द्विवेदी जी केवल हाईस्कूल तक ही शिक्षा प्राप्त कर सके। इनकी प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही संस्कृत के साथ हुई थी, तत्पश्चात् गाँव में ही बने स्कूल में जाने लगे और फिर फ़तेहपुर, उन्नाव व रायबरेली स्थानों में शिक्षा ग्रहण कर हाई स्कूल परीक्षा पास की।

हाई स्कूल परीक्षा पास कर द्विवेदी जी बंबई चले गये और वहाँ पर तार का काम सीखने लगे। काम सीखने के पश्चात् वे जी० आई० पी० रेलवे में 22 रु० प्रति माह की नौकरी पर लग गए। आरंभ से ही परिश्रमी व अध्यवसायी होने के कारण लगन के साथ नौकरी करते रहे और धीरे-धीरे 150 रु० के वेतन के पद पर आसीन हो गए। दुर्भाग्यवश अपने उच्चाधिकारी से अनबन हो जाने के कारण इनको अपना पद छोड़ना पड़ा। फिर वे साहित्य क्षेत्र में कूद पड़े। सन् 1903 में आकर वे 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन करने लगे।

अत्यंत परिश्रमी व अध्यवसायी होने के कारण द्विवेदी जी ने नौकरी की अवधि में कई भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। अतः धीरे-धीरे वे हिंदी, संस्कृत, उर्दू, मराठी, गुजराती तथा बँगाली के कुशल ज्ञाता बन गए। साथ ही हिंदी व संस्कृत की कविता भी करने लगे।

साहित्य साधना—द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्य में एक नवीन युग का प्रवर्तन किया। उनके समय तक यद्यपि हिंदी भाषा का प्रचार अवश्य हो चुका था किंतु उसका न तो स्थिर रूप ही था और न भाव प्रकाशन प्रणाली और यही कारण था कि भाषा गंभीर विचारों को प्रकट करने में सर्वथा असमर्थ थी। व्याकरण के नियमों तथा विराम चिह्नों का कोई आधार नहीं था किंतु आपने हिंदी का परिमार्जन करके उसे व्याकरण संमत बनाने का सफल प्रयत्न किया। यह सफलता उनको 'सरस्वती' के संपादन कार्य काल में अधिक मिली जबकि उन्होंने अशुद्धियों के विरुद्ध लेख लिख-लिख कर लेखकों का ध्यान अपनी और खींचा और उनको शुद्ध तथा परिमार्जित भाषा लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। द्विवेदी जी की साहित्य साधना ने हिंदी को एक नवीन गति दी। उनका व्यक्तित्व एक आलोचक, निबंधकार, अनुवादक तथा कवि का व्यक्तित्व था। इस तरह इक्कीस वर्ष निरंतर सरस्वती का संपादन करते हुए हिंदी के कुरूप को सुरूप में परिवर्तित कर एक अभूतपूर्व प्रयास किया।

भाषा—द्विवेदी जी की भाषा खड़ी बोली थी तथा वे भाषा के आचार्य थे। द्विवेदी जी ने खड़ी बोली की कविता के लिए विकास कार्य किया। मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध जैसे खड़ी बोली के कवि उन्हीं के प्रयत्नों की प्रेरणा के फलस्वरूप हैं। कविता में देश प्रेम की भावना जाग्रत हुई। नवीन छंदों का सफलतापूर्वक वर्णन किया गया।

द्विवेदी जी के प्रयत्नों से हिंदी में अन्य भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद भी हुए। इनकी अनुपम साहित्य सेवाओं के कारण इनके समय को 'द्विवेदी युग' के नाम से पुकारा जाता है। इन्होंने नए-नए विषयों से हिंदी साहित्य को संपन्न बनाया। इन्होंने स्वयं लिखा तथा दूसरों से लिखाया। इनका शब्द चयन अत्यंत शक्तिशाली तथा वाक्य विन्यास विशुद्ध था। भाषा भाव तथा विचारानुसार होती थी। वाक्य छोटे-छोटे तथा सुव्यवस्थित होते थे। छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा गूढ़ से गूढ़ विषय भी अत्यंत सरलता से प्रकट कर देना इनकी मुख्य विशेषता थी। वे संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ उर्दू के ताज, किस्मत आदि शब्दों का प्रयोग भी करते थे। वे सरल व सुबोध भाषा के पक्षपाती थे। उनकी भाषा में न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों की भरमार है और न उर्दू के शब्दों की कलाबाजी। उन्होंने उस समय में प्रचलित संस्कृत, अरबी, उर्दू और फ़ारसी के शब्दों का निर्भय प्रयोग किया है किंतु फिर भी हिंदी के प्रवाह में कोई शिथिलता न आने पाए उन्होंने यह ध्यान सदैव ही रखा है।

रचनाएँ—हिंदी कालिदास की समालोचना, मलिता, विलास, रसज्ञ रंजन, काव्य-मंजूषा, नाट्यशाला, साहित्य-सीकर, साहित्य संदर्भ, बेकन विचार, रत्नावली आदि 50 ग्रंथों की रचना की। इनकी ऋतु तरंगिनी, कुमार संभव, रत्नावली आदि अनुवाद पुस्तकें हैं।

शैली—विषय के अनुकूल द्विवेदी जी की शैली में परिवर्तन होता रहा है। अतः उसमें जो भी रूप दृष्टि-गोचर होते रहते हैं, उनमें तीन मुख्य हैं—

परिचयात्मक—इस शैली में वाक्य छोटे-छोटे व भाषा व्यावहारिक है। उन्होंने नए-नए विषयों पर लिखा, और उनका पूरा परिचय सरल व सुबोध शैली में दिया। द्विवेदी जी ने एक शिक्षक की भाँति एक एक बात को कई कई बार दोहराया है ताकि पाठकों की समझ में वह भली प्रकार से आजाए।

आलोचनात्मक—हिंदी भाषा के प्रचलित दोषों को दूर करने के लिए लिखे गए लेखों में आलोचनात्मक शैली के दर्शन होते हैं। यह शैली ओजपूर्ण है। भाषा गंभीर है। कहीं-कहीं यह शैली व्यंगात्मक भी हो गई है किंतु वह भी व्यावहारिक भाषा व छोटे छोटे वाक्यों में। यही इनकी प्रधान शैली है। हिंदी के लिए उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें उन्होंने विरोधियों के तर्क का मुहँतोड़ जवाब दिया। मनमाने ढंग से लिखने वालों की खूब खबर ली। उनकी भाषा में संस्कृत शब्दों की भरमार रहती है इसलिए कि उनके प्रारंभिक अध्ययन का श्रीगणेश संस्कृत ही के साथ हुआ था। अतः उनके भाव तथा विचार भी आकर्षक होते थे।

गवेषणात्मक—गंभीर साहित्यिक विषयों के विवेचन में द्विवेदी जी ने गवेषणात्मक शैली को अपनाया है। इस शैली के भी दो रूप मिलते हैं। एक सरल गवेषणात्मक जिसका उद्देश्य भाषा व भाव दोनों को ही सरलता से समझाने का रहा है तथा इसमें वाक्य अपेक्षाकृत लंबे हैं व भाषा कुछ निकृष्ट है। दूसरी गूढ़ गवेषणात्मक शैली जिसमें विशुद्ध हिंदी का प्रयोग किया गया है और इसका रूप उन लेखों से मिलता है जिनका उद्देश्य जन साधारण को किसी गंभीर विषय को समझाना है।

द्विवेदी जी ने जो कविताएँ लिखी हैं उनमें संस्कृत शब्दों की अधिकता है। भाषा गद्य से मिलती जुलती है। भाषा की दृष्टि से इनकी 'कुमार संभव' एक श्रेष्ट रचना है।

द्विवेदी जी हिंदी साहित्य में एक युग प्रवर्तक आचार्य के रूप में सदा स्मरणीय रहेंगे। उन्होंने हिंदी में जो परंपरा चलानी चाही वह भाषा के पुरस्कार के रूप में उनके संमुख ही अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई। उनका व्यक्तित्व, निबंध लेखक और आलोचक तथा भाषा परिष्कारक सभी दृष्टियों से एक आचार्य का व्यक्तित्व है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी की भाषा शैली सरल, स्वाभाविक तथा सजीव है और जब तक संसार में हिंदी की महत्ता का लेशमात्रा भी अस्तित्व अवशेष रहेगा तब तक हिंदी के उन्नायक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का हिंदी के प्रति अगाध प्रेम देदीप्यमान होता रहेगा।●

संपादक द्‌विवेदी

'विविध विषय' के अंतर्गत स्व० आचार्य द्विवेदी जी द्वारा लिखित 'बनारस का हिंदू विश्व-विद्यालय' शीर्षक टिप्पणी
—सरस्वती भाग 17, खंड 2; सितंबर, 1916

पंडित महावीरप्रसाद

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

द्विवेदी जी ने अपनी साहित्य-सेवा के द्वारा हिंदी में सुरुचि और शिक्षा-प्रचार किया। 'सरस्वती' का संपादन-भार लेने के बाद द्विवेदी जी ने हिंदी की हीनावस्था को प्रकट करने के लिए जो एक व्यंग्य-चित्र उसमें प्रकाशित कराया था आज वही चित्र हम लोगों को उपहासजनक प्रतीत होगा। हिंदी साहित्य की आश्चर्यजनक उन्नति द्विवेदी जी की साधना का फल है।

द्विवेदी जी का एक बड़ा काम उनकी समालोचना है। उनके समय में 'सरस्वती' का पुस्तक परिचय महत्त्वपूर्ण था। द्विवेदी जी की संमति एक कठोर निरीक्षक की संमति थी। हिंदी में अब तो संमतियाँ प्रकाशित करने की चाल खूब बढ़ गई है। विद्वानों की संमतियाँ आदरणीय अवश्य हैं। समाज में जिन लोगों की विशेष प्रतिष्ठा है उनकी संमतियों का प्रभाव भी खूब पड़ता है। इसीलिए लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों की अनुकूल संमतियाँ प्रकाशित करने से प्रकाशकों और लेखकों को यथेष्ठ लाभ होता है। समालोचना या संमति-दान का आधार कोई सिद्धांत होता है। यदि किसी विद्वान को देव की रचना की अपेक्षा विहारी की रचना अधिक रुचिकर है, या अधिकांश लोगों को 'सेवा-सदन' की अपेक्षा 'रंगभूमि' अधिक चित्ताकर्षक है, तो उसी के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि देव से बिहारी श्रेष्ठ हैं या 'रंगभूमि' से 'सेवासदन' हीन ? किसी रचना के गुण-दोषों की विवेचना करने के लिए हमें अपनी व्यक्तिगत रुचि की उपेक्षा कर उन सिद्धांतों के अनुसार आलोचना करनी चाहिए जिनसे साहित्य की यथार्थ महिमा प्रकट होती है। द्विवेदी जी एक सिद्धांत को लेकर आलोचना करते थे। इससे उनकी आलोचना का यथेष्ट प्रभाव पड़ा।

यह सच है कि किसी रचना के मूल्य की परीक्षा साहित्य के नियमोपनियमों के द्वारा कदापि नहीं हो सकती। सच पूछा जाए तो मौलिक और उच्च कोटि की कृति का ऐसे प्रचलित नियमोपनियमों से कोई संबंध नहीं होता। प्रतिभा किसी प्रकार के बंधन को स्वीकार नहीं कर सकती। प्रतिभा अपना नियम आप बना लेती है। परंतु प्रतिभा की सृजन-शक्ति में और असंयतों की उच्छृंखलता में भेद है। इसी से साहित्य में मर्मज्ञों की आवश्यकता है और इसी आवश्यकता की पूर्ति द्विवेदी जी ने की थी।

जो युग के प्रवर्तक होते हैं उन्हें सबसे पहले लोक रुचि को परिष्कृत करना पड़ता है। समाज की एक विशेष बौद्धिक अवस्था के अनुसार समाज की एक विशेष रुचि होती है। मध्ययुग में भक्ति भाव का प्राबल्य होने पर जो सगुणोपासना आरंभ हुई, उसी के कारण रीतिकाल में श्रृंगार रस, नायिका भेद और नख-शिख वर्णन की ओर लोगों की रुचि बढ़ी। भारतवर्ष के लिए वह अंधयुग था। शिक्षा का प्रचार रुक गया था। लोगों में अंधविश्वास और अंध-भक्ति अधिक होने के कारण ज्ञान के लिए अधिक आग्रह नहीं था। जाति में अवसाद था, आत्मशैथिल्य था, इसीलिए कल्पना के मायालोक में कल्पित नायक और नायिका की प्रेमलीला से ही उनकी मनस्तुष्टि होती थी। भारतेंदुजी ने हिंदी-गद्य-साहित्य में नवयुग का दर्शन तो अवश्य कराया, पर पद्य साहित्य में मध्ययुग के आदर्श ही उन्होंने स्वीकृत किए।

ब्रजभाषा में एक तो स्वभाविक माधुर्य है और फिर ब्रजभाषा के कवियों ने उसे अलंकारों से सजाकर एक ऐसा मनोमोहक रूप प्रदान कर दिया है कि वह मूर्तिमती कविता ही हो गई है।

यमक और अनुप्रास की छटा में भाव विकृत हो गया था। पर लोग यही समझ रहे थे कि कविता के लिए एकमात्र ब्रजभाषा ही उपयुक्त है। गद्य और पद्य की भाषा एक हो नहीं सकती। द्विवेदी जी ने बोल-चाल की भाषा में स्वयं कविताएँ लिखीं और उसी पक्ष का समर्थन किया। श्रीधर पाठकजी ने गोल्डस्मिथ की एक कविता का पद्यात्मक अनुवाद बोल-चाल की भाषा में किया। द्विवेदी जी ने भी उसी भाषा में 'कुमार-संभव-सार' लिखा। खड़ी बोली की इस प्रधानता से हिंदी के काव्य-साहित्य में वस्तुवाद की प्रतिष्ठा हुई। कल्पना का मायालोक टूट गया और राष्ट्रीय तथा सदुपदेशपूर्ण कविताओं का प्रचार बढ़ने लगा।

द्विवेदी जी ने समय समय पर कुछ ऐसे लेख लिखे हैं जिनके कारण हिंदी-साहित्य में एक आँधी सी आ गई है। पर उन्हीं आँधियों के कारण हिंदी में सुरुचि का प्रचार हुआ है। जब तक हम लोग सत्य को साग्रह स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं है तब तक हम लोग उन्नति कर ही नहीं सकते। अपने दोषों की ओर आँख मूँद लेने से हमारी उन्नति की गति अवरुद्ध हो जाएगी पर उन समालोचनाओं से क्या लाभ जो साहित्य में नए आदर्शों की सृष्टि नहीं करतीं? इसीलिए अपने अठारह वर्ष के संपादन-काल में द्विवेदी जी ने सरस्वती में, क्या विदेशी और क्या स्वदेशी, सभी श्रेष्ठ साहित्य कला कोविदों और कलाकारों के परिचय प्रकाशित किए हैं। यही नहीं, उन्होंने सर्वसाधारण की ज्ञान-वृद्धि के लिए सभी प्रकार के उपयोगी विषयों पर लेख लिखे हैं। द्विवेदी जी के जीवन का लक्ष्य था जन-समाज की सेवा। उन्होंने जो कुछ लिखा है, जन-समाज के लिए लिखा है। लोगों में शिक्षा का प्रचार हो, उसके ज्ञान की वृद्धि हो, सत्साहित्य की ओर उनकी प्रवृत्ति हो, वे अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों को पहचानें। इसी उद्देश्य से वे लेख लिखते थे। वे कला के लिए कला के उपासक नहीं थे। जो जीवन के लिए श्रेयस्कर नहीं है, ऐसी कला में वे किसी प्रकार का सार नहीं देखते थे। वे तुलसी और सूर के उपासक थे, देव और मतिराम के नहीं। उनके संपादन-काल में 'सरस्वती' में एक भी ऐसा लेख प्रकाशित नहीं हुआ, जिसका समाज पर बुरा प्रभाव पड़े। ऐसे विज्ञापनों को वे 'सरस्वती' में प्रकाशित नहीं होने देते थे, जिनमें किसी प्रकार की अश्लीलता हो। 'सरस्वती' के द्वारा द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य में सुरुचि का प्रचार किया और साहित्य के क्षेत्र को खूब विस्तृत किया। हिंदी में अभी भी किसी विषय पर यदि कोई लेखों का संग्रह करना चाहे, तो उसे 'सरस्वती' का ही आश्रय लेना पड़ेगा। अधिकांश सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, कविताएँ, समालोचनाएँ आदि उसी से निकली है।

द्विवेदी जी संपादन-कला में कितने दक्ष थे, इसके लिए मेरे समान लोगों को अपनी संमति देने की आवश्यकता नहीं। द्विवेदी जी की सबसे बड़ी विशेषता उनकी कार्यतत्परता थी। वे अपने कार्य में इतने सावधान थे कि एक भी भूल उन्हें क्षम्य नहीं थी। प्रूफ की भूलों को वे सहसा क्षमा नहीं करते थे। एक बार 'सरस्वती' के किसी अंक में पुरानी कवरों पर चिट लगाकर उन्हें काम में लाने की आवश्यकता पड़ गई। द्विवेदी जी के लिए एक भूल भी अक्षम्य थी। उन्होंने इस संबंध में खूब डाँटकर पत्र लिखा था। 'सरस्वती' के पाठकों के मनोरंजन और ज्ञानवृद्धि के लिए अँग्रेजी, बँगाली, गुजराती, मराठी आदि कई भाषाओं के पत्रों से सामग्री संकलित की जाती थी। द्विवेदी जी जो कुछ लिखते थे, उसकी सामग्री यदि उन्होंने किसी अन्य पत्र से ली तो उस मूल लेख या नोट को भी काट कर अपने लेख के साथ भेजते थे। यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया, तो मैं उसे समग्र आधुनिक साहित्य दिखला कर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। कुछ लेखक ऐसे होते हैं, जिनकी रचना पर ही उनकी महत्ता निर्भर है। कुछ ऐसे होते हैं, जिनकी महत्ता उनकी रचनाओं से नहीं जानी जा सकती। द्विवेदी जी की साहित्य-सेवा उनकी रचनाओं से अधिक महत्वपूर्ण है। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव समग्र साहित्य पर पड़ा है। मेघ की तरह उन्होंने विश्व से उसकी ज्ञानराशि संचित कर और वर्षा कर समग्र साहित्योद्यान को हरा-भरा कर दिया। वर्तमान साहित्य उन्हीं की साधना का सुफल है।

उनके पत्रों का भी एक महत्त्व है। हिंदी के कई मासिक पत्रों में उनके कुछ पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। परंतु पुस्तक के रूप में श्री बैजनाथसिंह 'विनोद' ने 'द्विवेदी-पत्रावली' नाम देकर उनके कुछ पत्रों का एक संग्रह प्रकाशित कराया है। यह पत्रावली काशी की ज्ञानपीठ-लोकोदय–ग्रंथमाला का 34 वाँ पुष्प है। आमुख में श्री राजबली पांडेय ने लिखा है, 'उनके पत्र भी साहित्यिक और सामाजिक महत्त्व के हैं। उनके पत्र प्रायः समसामयिक कवियों और साहित्य-

कारों को लिखे गए हैं, इसलिए उनका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। कुछ व्यक्तिगत प्रसंगों को छोड़कर द्विवेदी जी के पत्र किसी न किसी भाषा संबंधी प्रश्न अथवा साहित्यिक समस्या पर लिखे गए हैं। फलतः आधुनिक हिंदी भाषा और साहित्य के विकास पर इन पत्रों से काफ़ी प्रकाश पड़ता है।" उनकी सच्ची विशेषता उनके इन पत्रों में प्रकट होती है। वे साहित्य के नहीं, युग के निर्माता थे। इसी से उनके पत्रों के प्रति पाठकों को औत्सुक्य अवश्य होता है। पर उसकी पूर्ति इस पत्र-संग्रह के द्वारा ठीक है कि द्विवेदी जी के इन पत्रों में उनके व्यक्तिगत जीवन की एक झलक मिल जाती है, परंतु उनके साहित्यिक जीवन का यथार्थ गौरव उनके इन पत्रों में लक्षित नहीं होता।

द्विवेदी जी के पत्रों में आत्मीयता का भाव होने पर भी वह विशेषता नहीं है, जिसके कारण कोई पत्र अनायास ही चित्त को आकृष्ट कर लेता है। गुप्तजी को उन्होंने जो पत्र लिखे हैं, उनसे उनकी आत्मीयता अवश्य प्रकट होती है, परंतु उन पत्रों में भी ऐसी कोई बात नहीं है, जो पाठकों के लिए नवीन हो। गुप्तजी की कृतियों के संबध में वे अपने संपादकीय नोटों में यथेष्ट लिख चुके हैं। इसी से उनके पत्रों में जिस अंतरंग भाव को पाठक देखना चाहते हैं, उसका उनमें अभाव देखकर पाठकों को तृप्ति नहीं होती है। जो आदेश और निदेश उन्होंने अपने पत्रों में दिए हैं, उनमें भी ऐसी कोई बात नहीं है, जिससे तरुण साहित्यकारों को कुछ प्रेरणा मिल सके। द्विवेदी जी के पत्रों को पढ़ने से जो एक बात पाठकों के हृदय में स्पष्ट रूप से अंकित हो जाती है, वह यह है कि द्विवेदी जी के युग में साहित्यकारों के बीच में वैमनस्य का भाव अत्यंत प्रबल था। विवादों में कटुता तो आ ही जाती है, परंतु व्यक्तिगत आक्षेपों और निंदा के भावों से पूर्ण आलोचनाओं की धूम उस समय थी। द्विवेदी जी के कितने ही पत्रों में उनका यही मनोभाव व्यक्त हुआ है।

अपने संपादनकाल में द्विवेदी जी ने ऐसे कितने ही लेख लिखे, जिनके कारण हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में एक आँधी-सी आ गई। हिंदी-भाषा और साहित्य के संबंध में उन्होंने 'सरस्वती' में जो पहला लेख लिखा, उसके कारण बालमुकुंद गुप्त जी से उनका संघर्ष प्रारंभ हुआ। जिन भावों की प्रेरणा से उन्होंने वह लेख लिखा था, उसका संकेत उनके पत्रों में मिलता है। पंडित श्रीधर पाठकजी को उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा है, "कोई-कोई पुरानी रचना ऐसी है, जिसे देखकर घिन लगती है। बोलने में व्याकरण के नियमों का यदि अनुसरण न किया जाए, तो विशेष आक्षेप की बात नहीं, पर लिखने में ऐसा होना अच्छा नहीं। संस्कृत क्यों अब तक निर्दोष बनी है? उसकी रचना व्याकरण के अनुसार होती है, इसलिए! पालि और प्राकृत आदि भाषाएँ क्यों लोप हो गईं, उनका व्याकरण निर्दोष नहीं, अतएव उनकी रचना भी निर्दोष नहीं। हिंदी में कोई अच्छा व्याकरण नहीं, जिसे सब लोग मानें। इससे जिसके जी में जो आता है, उसे ही वह लिखता है। यह भाषा का दुर्भाग्य है। इससे उसे कभी स्थिरता न प्राप्त होगी।"

द्विवेदी-युग में भाषा परिष्कृत हुई, लोकरुचि परिवर्तित और परिमार्जित हुई और साहित्य में नव-आदर्श की प्रतिष्ठा हुई। द्विवेदी-युग को हम लोक-शिक्षा-काल भी कह सकते हैं, द्विवेदी जी का मुख्य लक्ष्य था लोक-शिक्षा का प्रचार, लोक शिक्षा का सबसे बड़ा साधन है भाषा। द्विवेदी जी के संपादन-काल में अन्य भाषाओं में जो ऐसे आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होते थे, उनकी चर्चा अवश्य की जाती थी। कितने ही ऐसे लेखों के अनुवाद भी 'सरस्वती' में प्रकाशित होते थे, जिनके द्वारा हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में यथेष्ट लाभ हो। भाषा और साहित्य के संबंध में द्विवेदी जी के विचार संकीर्ण नहीं थे। उन्हें उर्दू से नफ़रत नहीं थी। यही नहीं, वे सभी भाषाओं से उत्कृष्ट सामग्री लेकर हिंदी साहित्य की वृद्धि करना चाहते थे।

द्विवेदी जी गए और उनके साथ एक युग का भी अंत हो गया। उन्होंने साहित्य की एक मर्यादा स्थापित कर दी थी और कविता का एक आदर्श निश्चित कर दिया था। उन्होंने साहित्य को जन-समाज से कभी पृथक् न होने दिया। गंभीर से गंभीर विषयों पर लेख प्रकाशित हुए, पर वे सभी सर्वसाधारण के लिए सुपाठ्य और सरल थे। उनके काल में जो कहानियाँ प्रकाशित हुईं उनमें यथार्थ जगत के चित्र थे पर कला के नाम से समाज की वीभत्स लीलाएँ उनमें अंकित नहीं हुईं। कविताओं में भी सरलता के साथ सरसता थी और उसमें असंयत कल्पना नहीं आने पाई। उन्होंने सर्वत्र भाषा और भाव दोनों की विशुद्धि पर ध्यान दिया, इसीलिए उनका युग सुरुचि और सुशिक्षा का युग था। ●

'सरस्वती' पत्रिका और द्विवेदी जी की संपादकीय नीति

मार्कण्डेय उपाध्याय

इतिहास जब संघर्षशील परिस्थितियों से गुज़र रहा होता है, तब वह ऐसे व्यक्तियों को जन्म देता है जो पुनः उसमे नई स्फूर्ति, नई शक्ति, नई दीप्ति, नई चेतना और नई संभावनाएँ भर देते हैं ; इतिहास को फिर एक बार नई दिशा और नया स्वरूप प्राप्त होता है, वह अपने को नए संदर्भों से जोड़ लेता है। हिंदी साहित्य में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का आगमन ऐसे ही समय में हुआ, जब हिंदी बड़ी जटिल परिस्थितियों से गुजर रही थी, जब उसका अस्तित्व खतरे में था। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र और उनके मंडल के लेखकों ने हिंदी को प्रतिष्ठित करने, उसे प्रचारित और प्रसारित करने में काफ़ी सहयोग दिया था। उनकी इस कठिन साधना का ही फल था कि हिंदी को प्रतिष्ठा मिली। लेकिन अभी उसके रूप में काफ़ी परिष्कार की आवश्यकता थी। इसके लिए ज़रूरी था कि भाषा, व्याकरण और वाक्य-रचना पर विशेष ध्यान दिया जाए। क्योंकि बिना इसके किसी भी भाषा में एक अराजकता की-सी स्थिति होती है और उसके स्वरूप के स्थिर करने में काफ़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा हिंदी में इसी आवश्यकता की पूर्ति हुई।

और इसके लिए आचार्य द्विवेदी जी को मिली 'सरस्वती' पत्रिका। 'सरस्वती' के पहले हिंदी में साहित्यिक पत्रिकाओं का सर्वथा अभाव था और जो एक-आध थीं भी उनका न तो कोई साहित्यिक उद्देश्य था, न कोई आदर्श, और न ही कोई स्तर। हिंदी को सबसे पहले 'सरस्वती' ही एक सशक्त माध्यम के रूप में मिली। आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में "यह नवीन हिंदी साहित्य का द्वितीय उत्थान था जिसके आरंभ में 'सरस्वती' पत्रिका के दर्शन हुए।" आगे वे लिखते हैं "द्वितीय उत्थान की सारी प्रवृत्ति का आभास लेकर प्रकट होने वाली 'सरस्वती' पत्रिका थी।"

जनवरी 1903 में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का संपादन-कार्य संभाला और 1920 तक बड़ी ही निष्ठा, लगन, आत्मविश्वास, धैर्य, साहस, कुशलता और ईमानदारी के साथ उसका संपादन कार्य करते रहे। उनकी कर्तव्य निष्ठा और साहस का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि बड़े-से-बड़े प्रलोभनों के सामने वे झुके नहीं और न ही अपने कर्तव्य से स्खलित हुए। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—"कोई कहता, मेरी मौसी का मरसिया छाप दो, मैं तुम्हें निहाल कर दूंगा। कोई लिखता—अमुक सभा में दी गई अमुक सभापति की 'स्पीच' छाप दो मैं तुम्हारे गले में बनारसी दुपट्टा डाल दूंगा। कोई आज्ञा देता—मेरे प्रभु का सचित्र जीवन-चरित्र निकालदो तो तुम्हें एक बढ़िया घड़ी या पैरगाड़ी नजर की जाएगी। xxx नतीजा यह होता कि मैं बहरा और गूंगा बन जाता और 'सरस्वती' में वही मसाला जाने देता जिससे मैं

पाठकों का लाभ समझता। ***जानबूझ कर मैंन कभी अपनी आत्मा का हनन नहीं किया । यह है अपने दायित्व का बोध और कर्तव्य के प्रति आस्था।

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के कलेवर और साज-सज्जा में काफ़ी परिवर्तन किया और उसे विविध विषयों की ओर मोड़ कर उसके आकर्षण में चार चाँद लगा दिए। उनके आने के कुछ पहले से 'सरस्वती' की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी और धीरे-धीरे ग्राहकों की संख्या भी कम होती जा रही थी। द्विवेदी जी ने बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उसमें विविध प्रकार की सामग्री प्रस्तुत कर पाठकों का ध्यान उसकी ओर खींचा और स्थिति को सुधार लिया। सबसे पहले उन्होने उसे समय से प्रकाशित करने की व्यवस्था की। इसके लिए कभी कभी उन्हें अच्छी रचनाओं के अभाव में पूरी की पूरी सामग्री स्वयं प्रस्तुत करनी पड़ती थी।

'सरस्वती' में प्रकाशित स्तंभों की झाँकी इस प्रकार है—(1) विविध विषय (संपादकीय), (2) अख्यायिका, (3) ऐतिहासिक विषय (4) कविता, (5) जीवन-चरित, (6) देश, नगर और जात्यादि वर्णन, (7) फुटकर विषय, (8) विचित्र विषय (9) विज्ञान विषय, तथा (10) साहित्य विषय। इनमें कभी-कभी एक–आध विषय बढ़ भी जाया करते थे लेकिन सामान्यत: इन्हीं स्तंभों के अंतर्गत उपयुक्त सामग्री का चयन और संयोजन होता था। 'विविध विषय' के अंतर्गत साहित्यिक टिप्पणी के साथ-साथ तत्कालीन किसी प्रसिद्ध वैज्ञानिक अनुसंधान, भौगोलिक परिवर्तन, किसी नवीन ऐतिहासिक खोज, और किसी महत्वपूर्ण राजनैतिक उथल-पुथल का संक्षिप्त विवरण भी प्रस्तुत किया जाता था, जिससे पाठकों को नई सूचनाएँ मिलतीं और उन्हें विश्व की प्रगति का ज्ञान प्राप्त होता। एक और स्तंभ, जो बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था, 1903 के सभी अंकों में निकलता रहा, परंतु आगे चलकर उसे बंद कर दिया गया। वह स्तंभ था 'साहित्य समाचार'। इसके अंतर्गत किसी शीर्षक से एक व्यंग्य चित्र होता और नीचे उसका भावार्थ लिखा रहता था। उदाहरणार्थ 1903 के अंक 6 में एक चित्र है, जिसका शीर्षक है 'मातृभाषा का सत्कार'। चित्र में एक भारतीय विद्वान के साथ एक अंग्रेज़ महिला खड़ी है और आगे एक बूढ़ी औरत (मातृभाषा) है। चित्र के नीचे लिखा है—

अंग्रेज़ी भाषा—'डियर, डियर, देखो यह कौन आती है!'
श्रीयुत् पंडित विद्यानिवास पांडेय एम० ए०, डी० एस० सी०, एल० एल० बी० (मातृभाषा से)।
—"खबरदार, जो इस तरफ़ क़दम बढ़ाया" मातृभाषा—"हाय करम!,,

उपर्युक्त स्तंभों से स्पष्ट है कि सामग्री का चयन बड़ी सावधानी, बड़ी कुशलता, बड़े परिश्रम और एक निश्चित योजना के अनुसार होता था। पाठकों की रुचि और उनके ज्ञानवर्द्धन की बात बराबर ध्यान में रहती थी।

द्विवेदी जी 'सरस्वती' में प्रकाशन के लिए आई रचनाओं में बड़ी सावधानी के साथ संशोधन करते, उनकी भाषा सँवारते, व्याकरण संबंधी भूलों को सुधारते, वाक्य रचना ठीक करते और तब उन्हें प्रकाशित करने की अनुमति देते थे। इससे लेखक अपनी अशुद्धियाँ दूर करने का प्रयत्न करते और भविष्य में शुद्ध भाषा लिखने की ओर अग्रसर होते थे। रचनाओं का संशोधन इतनी सावधानी के साथ करते थे कि मुद्रित रचनाओं से अधिक महत्वपूर्ण रचना की मूल प्रति बन जाती। अपने द्वारा किए गए संशोधन पर नाराज़ होने वाले लेखकों से उनका विनम्र निवेदन था-"आखिर आपको मर्मज्ञता का दावा तो है नहीं, हम सभी भूल कर सकते हैं। मैं भूल करूँ आप बता दें तो मैं कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करूँगा।" वे जानते थे कि किस सीमा तक संपादक अपने अधिकार का उपयोग कर सकता है। एक बार उनके पास 'सरस्वती' में प्रकाशित करने के लिए पी० एच० डी० से विभूषित एक व्यक्ति की रचना आई। रचना के साथ एक नोट लगा था—"इसके संशोधन में कृपा करके कोई उर्दू शब्द न डालें।" द्विवेदी जी ने रचना लौटाते हुए लिखा—"संपादन के संबंध में मैं किसी की कोई शर्त स्वीकार नहीं कर सकता।"

द्विवेदी जी की संपादन कला की सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है नए-नए लेखक पैदा करना, हिंदी के जाने माने लेखकों से रचनाएँ प्राप्त करना। उनकी संपादन कला का ही फल था कि श्री राधाकृष्ण दास, पं० श्रीधर पाठक, पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० जनार्दन झा, पं० नाथराम शंकर शर्मा, डा० महेंदुलाल गर्ग, पं० गौरीदत्त जी वाजपेयी, पुरोहित गोपीनाथ जी, पं० रामचरित उपाध्याय, पं० रामचंद्र शुक्ल, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री

सत्यनारायण कविरत्न, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', आदि लेखक 'सरस्वती' को बराबर सहयोग देते रहे। इनमें से कई लेखक तो 'सरस्वती' की ही देन हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे देश के नेताओं और विद्वानों को भी हिंदी के प्रति सावधान कर दिया करते थे। एक बार उन्होंने मालवीय जी को लिखा था—"आप स्वयं हिंदी में लिखा कीजिए और अपने प्रभाव के अधीन सबको हिंदी को ही अपनाने को प्रवृत्त कीजिए।" इतना ही नहीं उन्होंने ऐसे-ऐसे लोगों से रचनाएँ प्राप्त कीं जिनका हिंदी से कोई संबंध नहीं था और न उसमें किसी प्रकार की रुचि थी।

द्विवेदी जी भाषा और व्याकरण के प्रति बड़े ही सजग थे। वे पत्रिका के स्तर और पाठकों की रुचि का इतना ख्याल रखते कि बड़े से बड़े लेखक की रचना भी दोषपूर्ण होने पर निःसंकोच लौटा देते थे। वे रचनाओं में सरल और सुबोध भाषा के पक्षपाती थे। उन्होंने लिखा है—"संशोधन द्वारा लेखों की भाषा अधिक-संख्यक पाठकों की समझ में आने लायक कर देता। यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फ़ारसी का या तुर्की का। देखता सिर्फ यह कि इस शब्द, वाक्य या लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं। अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वत्ता की झूठी छाप छापने की कोशिश मैंने कभी नहीं की।" अपनी इसी नीति के आधार पर लेखकों से उनका अनुरोध था—"लेखकों को सरल और सुबोध भाषा में अपना वक्तव्य लिखना चाहिए। उन्हें वागाडंबर द्वारा पाठकों पर यह प्रकट करने की चेष्टा न करनी चाहिए कि वे कोई बड़ी ही गंभीर और बड़ी ही अलौकिक बात कह रहे हैं।" अपनी इस भाषा-नीति का पालन उन्होंने 'सरस्वती' के संपादन-काल में किया। यही कारण था कि 'सरस्वती' की भाषा एक आदर्श बन गई और हिंदी की अन्य पत्र-पत्रिकाओं ने भी उसके अनुकरण का प्रयास किया। कविता में उन्होंने खड़ी बोली को प्रश्रय दिया। 2 फरवरी, 1909 में 'कविता कलाम' में उन्होंने लिखा 'इस नए ढंग की कविताओं को 'सरस्वती' में प्रकाशित होते देख बहुत लोग अब इनकी नकल अधिकता से करने लगे हैं। × × × अतएव बहुत संभव है कि किसी समय हिंदी के गद्य और पद्य की भाषा एक ही हो जाए।"

द्विवेदी जी की भाषा और व्याकरण संबंधी महत्वपूर्ण देन के विषय में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा—"पर जो कुछ हुआ वही बहुत हुआ और उसके लिए हमारा हिंदी साहित्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा। व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदी जी ही थे। 'सरस्वती' के संपादक के रूप में उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखा-दिखा कर लेखकों को बहुत कुछ सावधान कर दिया। गद्य की भाषा पर द्विवेदी जी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण जब तक भाषा के लिए शुद्धता आवश्यक समझी जाएगी तब तक बना रहेगा।"

भाषा और व्याकरण पर विशेष ध्यान देने का यह मतलब नहीं है कि विषय और सामग्री पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। संपादक की सबसे बड़ी खूबी इसी में होती है कि वह सामग्री का चुनाव किस ढंग से करता है। उसके एक तरफ तो पाठक-वर्ग होता है और दूसरी तरफ पत्रिका की मर्यादा होती है, उसका स्तर होता है। संपादक को इन दोनों के बीच सूत्र जोड़ना होता है। उसे ध्यान रखना पड़ता है कि पाठक असंतुष्ट भी न हों, उनकी रुचि भी खराब न हो और पत्रिका का स्तर भी बना रहे। द्विवेदी जी ने अपनी संपादन कुशलता से दोनों को ही सुरक्षित रखा। पाठकों की रुचि का ख्याल रखते हुए उन्होंने ऐसी सामग्री दी जिससे पाठकों को "सत्पथ से विचलित होने का साधन न प्राप्त हो।" साहित्यिक लेख, पुस्तक और पत्र-पत्रिकाओं की समीक्षा, मनोरंजक और शिक्षाप्रद सामाजिक और ऐतिहासिक कहानियाँ, प्राचीन भारत के किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष की जीवनी, विविध विषयों पर लिखी गई मार्मिक और रोचक कविताएँ, किसी अन्य भाषा के कवि या लेखक का परिचय और उसकी उत्तम कविता या लेख का सरल हिंदी में अनुवाद, कोई मार्मिक संस्मरण, किसी देश, नगर या जाति के रहन-सहन, रीति रिवाज़ का वर्णन, राजनैतिक और आर्थिक लेख, तत्कालीन किसी नवीन वैज्ञानिक अनुसंधान का विवरण, भारतीय या पाश्चात्य दर्शन के किसी वाद का परिचय, पाठकों द्वारा उठाए गए प्रश्नों का उत्तर, ये सब 1903 से 1920 तक 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाली रचनाओं के विषय हैं। सामग्री की इस विविधता को देख कर सहज में ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'सरस्वती' का रूप उसकी संभावना और उपलब्धि क्या हो सकती थी। 'सरस्वती' में द्विवेदी जी द्वारा की गई पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की आलोचनाओं का हिंदी भाषा के स्वरुप-विकास में बहुत बड़ा योगदान है। उनकी इस आलोचना का फल यह हुआ कि

लेखक और प्रकाशक सभी भाषा और व्याकरण के प्रति सावधान हो गए। वे फूंक-फूंक कर पाँव रखने लगे और कोशिश करने लगे कि अशुद्धियाँ न जाने पाएँ।

'सरस्वती' में प्रकाशित चित्रों ने उसके आकर्षण को और भी बढ़ा दिया था। पत्रिका के मुख पृष्ठ पर एक चित्र होता जिसमें कलात्मकता के साथ-साथ 'सरस्वती' की गरिमा भी होती। चित्रों की सादगी उसके आकर्षण का मुख्य कारण थी। पत्रिका के भीतर किसी ऐतिहासिक पुरुष या स्त्री अथवा तत्कालीन सामाजिक या साहित्यिक व्यक्ति का चित्र होता और साथ ही उसका जीवन चरित भी दिया जाता था। 'कामिनी कौतूहल' शीर्षक स्तंभ के अंतर्गत किसी प्रसिद्ध महिला का चित्र और परिचय होता था। इन सबके साथ ही अंक में प्रकाशित किसी पौराणिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक या वैज्ञानिक लेख से संबंधित चित्र भी होते। इनसे लेखों को समझने में आसानी होती थी।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से जो कार्य किया वह हिंदी साहित्य की बहुत बड़ी उपलब्धि है। जिस आस्था और विश्वास के साथ 18 वर्षों तक वे 'सरस्वती' का संपादन करते रहे वह उनके धैर्य, आत्मविश्वास, कर्त्तव्यनिष्ठा और ईमानदारी का सबसे बड़ा सबूत है। विश्व-साहित्य के इतिहास में ऐसे उदाहरण कम मिलेंगे जब एक व्यक्ति अकेले एक पत्रिका के माध्यम से इतनी लंबी अवधि तक पूरे साहित्य पर छाया हुआ हो और शासन करता रहा हो। यह बड़ी ही अद्भुत बात है लेकिन सत्य है। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के संबंध में जो लक्ष्य रखे थे उनका पालन अपने संपादन के अंतिम क्षण तक वे करते रहे। चाहे पूरा का पूरा अंक उन्हें ही क्यों न लिखना पड़ा हो, 'सरस्वती' को समय से निकालते रहे। अपने लाभ और हानि की चिंता न कर उन्होंने बराबर पाठकों का ख्याल रखा। अपनी आत्मा का हनन कभी भी नहीं किया और न ही किसी प्रलोभन के सामने विचलित हुए।

आज कुछ लोग द्विवेदी जी के पुनर्मूल्यांकन की बात सोचते हैं। उनका कहना है--"विभाजनोपजीवी आलोचकों ने उनके नाम पर एक युग ही खड़ा कर दिया है लेकिन अब समय आ गया है कि हम भावुकतारहित होकर उनके कृतियों-कार्यों का उचित आकलन करें।"

काश कि ये विद्वान 1903 की उस परिस्थिति को देखते जब भाषा की बात तो दूर रही, पूरी की पूरी जाति गुलाम थी, और ऐसी विकट परिस्थितियों में द्विवेदी जी जैसे लोगों ने हिंदी का प्रचार, परिष्कार और संस्कार करने में अपने जीवन की आहुति दे दी। आज द्विवेदी जी के कार्यों और उनकी कृतियों के मूल्यांकन की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है उनके धैर्य, साहस, निष्ठा, आत्मविश्वास, ईमानदारी, कार्य करने की क्षमता आदि गुणों को अपने भीतर ग्रहण करने की। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि जिस भूमि पर खड़े होकर हम यह बात कर रहे हैं वह इन्हीं साहित्य-मनीषियों की तैयार की हुई है। युगप्रवर्तक वही होता है जो युग के लिए नई भूमि तैयार करे, उसमें नई चेतना भर दे, उसे नए विचारों से मंडित कर दे, उसमें नया प्राण फूंक दे। द्विवेदी जी की अन्य कृतियों और कार्यों की बात तो अलग, अकेले 'सरस्वती' के संपादकियों से उन्होंने हिंदी के लिए जो कार्य किया वही उनके युग-प्रवर्तक होने का सबसे बड़ा सबूत है।

आचार्य द्विवेदी का पत्रकार जीवन

गौरीशंकर गुप्त

'सरस्वती' के संपादन में स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के मुख्य आदर्श ये थे—(1) समय की पाबंदी, (2) संचालकों का विश्वासभाजन बनने की चेष्टा, (3) अपने हानि-लाभ की परवाह न करके पाठकों के हानि-लाभ का ख्याल रखना, और (4) न्याय-पक्ष से कभी विचलित न होना। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

प्रेस की मशीन टूट जाने का नहीं, बल्कि 'कॉपी' समय पर न पहुँचने का वे अपने को जिम्मेदार मानते थे। उन्होंने अपनी इस जिम्मेदारी का निर्वाह जी-जान होमकर किया। भले ही समूचा अंक उन्हें ही क्यों न लिखना पड़ा हो, 'कॉपी' समय पर ही उन्होंने भेजी। छै-छै महीने आगे की सामग्री वे सदा अपने पास तैयार रखते थे। वे सोचते थे कि यदि महीनों बीमार पड़ा रहा, तो क्या होगा ? 'सरस्वती' का प्रकाशन तब तक बंद रखना क्या पाठकों के साथ अन्याय न होगा? इसीलिए, सोलह-सत्रह वर्षों के दीर्घ-काल में एक बार भी 'सरस्वती' का प्रकाशन उनके कारण नहीं रुका। जब उन्होंने उससे अवकाश ग्रहण किया, तब भी उन्होंने अपने उत्तराधिकारी नये संपादक को बहुत-सी बची हुई सामग्री अर्पण की।

'सरस्वती'-संचालकों का विश्वासभाजन बनने की वे सदा चेष्टा करते रहे, जिससे उन्हें कभी उलझन में पड़ने की नौबत नहीं आई। पत्रिका के जो उद्देश्य थे, उनकी रक्षा उन्होंने दृढ़तापूर्वक की। उनके कार्य-काल में 'सरस्वती' का प्रचार ज्यों-ज्यों बढ़ता गया और संचालकों के वे ज्यों-ज्यों अधिकाधिक विश्वासभाजन होते गए, त्यों-त्यों उनकी सेवा का प्रतिफल भी उन्हें मिलता गया। उनकी आर्थिक स्थिति प्रायः वैसी ही हो गई, जैसी कि रेलवे की नौकरी छोड़ने के समय थी। यह भी उल्लेख्य है कि संचालकों ने उनके संपादन-स्वातंत्र्य में कभी बाधा नहीं डाली।

द्विवेदी जी के समय में 'सरस्वती' में कुछ छपाना या किसी के जीवन-चरित आदि का प्रकाशन कराना बहुत बड़ी बात मानी जाती थी। इसी कारण उनको प्रायः भारी-भारी प्रलोभन दिए जाते थे। कोई कहता-मेरी मौसी का मरसिया छाप दें, मैं आपको निहाल कर दूँगा। कोई कहता-अमुक सभापति का भाषण प्रकाशित कर दें, मैं आपके गले में बनारसी दुपट्टा डाल दूँगा। कोई आदेश देता-मेरे प्रभु का सचित्र जीवन-चरित निकाल दें तो आपको एक अच्छी घड़ी या पैरगाड़ी नज़र करूँगा। इन प्रलोभनों का विचार करके वे 'अपने दुर्भाग्य को कोसते।' वे 'बहरे और गूँगे बन जाते' और 'सरस्वती' में वही सामग्री जाने देते, जिससे पाठकों का लाभ समझते। वे उनकी रुचि का सदा ध्यान रखते और यह देखते रहते कि उनके किसी कार्य से उसको सत्पथ से विचलित होने का साधन न प्राप्त हो। एक बार तो एक तरुण कवि महोदय डंडा लेकर उन पर प्रहार करने पहुँचे थे। उनका 'अपराध' केवल यह था कि उन्होंने उनका चित्र और उनकी कविता 'सरस्वती' में नहीं प्रकाशित की थी। नवयुवक लेखकों तथा कवियों से उन्हें यह शिकायत थी कि वे पढ़ते-पढ़ाते नहीं? यों ही विद्वान होने का स्वांग भरते हैं।

द्विवेदी जी संशोधन द्वारा लेखों की भाषा बहुसंख्यक पाठकों की समझ में आने योग्य कर देते थे। वे यह नहीं देखते थे कि यह शब्द अरबी का है या फ़ारसी का या तुर्की का। देखते केवल यह कि इस शब्द, वाक्य या लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेगें या नहीं। उनका कहना था कि अल्पज्ञ होकर भी

किसी पर अपनी विद्वत्ता की झूठी छाप लगाने की कोशिश मैंने कभी नहीं की। वे इस बात को हरगिज़ गवारा नहीं कर सकते थे कि कोई व्यक्ति धूर्तता से या ज़ोर-दबाव से उनसे कोई अनुचित काम करा ले। एक बार एक पी०एच०डी० महोदय ने एक लेख उनके पास भेजा। उन दिनों बी० ए० और एम० ए० वालों के लेखों के लिए भी संपादकों को बहुत कोशिश करनी पड़ती थी। पी-एच०डी० तो देवतुल्य थे। लेख के साथ पत्र में पी-एच०डी० महोदय ने लिखा था—इसके संशोधन में आप कृपया कोई उर्दू शब्द न डालें। आप जानते हैं, द्विवेदी जी पर इस की क्या प्रतिक्रिया हुई ? उन्होंने अविलंब उनका लेख वापस कर दिया और स्पष्ट लिख दिया कि संपादन के संबंध में मैं किसी की कोई शर्त स्वीकार नहीं कर सकता। 'सरस्वती' में प्रकाशित उनके लघु लेखों (नोटों) और आलोचनाओं से ही इस बात का पता चल सकता है कि उन्होंने कहाँ तक न्याय-मार्ग का अवलंबन किया। जानबूझकर उन्होंने कभी अपनी आत्मा का हनन नहीं किया, न किसी के प्रसाद की आकांक्षा की और न किसी के कोप से वे विचलित ही हुए।

एक बार एक साहित्यसेवी ने अपने एक प्रियजन के निधन पर एक कविता लिख भेजी। थी वह बिलकुल बेकार। द्विवेदी जी ने उसे नहीं प्रकाशित किया। किसी के पूछने पर कि क्या बहुत रद्दी थी ? उन्होंने कहा—वाहियात मरसिया था। बाप मरे, मरसिया नहीं लिखा, स्त्री मरी, मरसिया नहीं लिखा। दुनियाँ में मरते तो हैं ही। फिर, कुछ कविता भी होती। हाँ, 'दबीर' और अनीस' के से मरसिये होते तो क्या बात थी। हिंदी वाले जानें इनको पढ़ते हैं या नहीं। इस प्रकार, साफ़गोई तथा आत्मा की ध्वनि को कहने से वे कभी चूकते नहीं थे, भले ही किसी को अच्छा लगता अथवा बुरा। स्पष्ट एवं अप्रिय सत्य कहने में वे पर्वत की तरह अडिग रहे।

एक बार एक सज्जन ने स्वदेशी शक्कर की कुछ थैलियाँ उनको भेंट कीं। उनका मूल उद्देश्य था कि वे उनके विषय में 'सरस्वती' में कुछ लिख दें। कुछ समय के पश्चात् पुनः वे महाशय उनसे मिले और उन्होंने उन थैलियों का स्मरण दिलाया तो अपनी अलमारी की ओर संकेत कर द्विवेदी जी बोले—तुम्हारी थैलियाँ ज्यों की त्यों रखी हैं। 'सरस्वती' इस प्रकार किसी के व्यवसाय का माध्यम नहीं बन सकती। ऐसे थे द्विवेदी जी !

एक बार 'सरस्वती' में किसी राजवंश का एक सचित्र परिचय प्रकाशित हुआ था, जिसके फलस्वरूप उक्त वंश के एक कुमार ने द्विवेदी जी को पुरस्कृत करने की अभिलाषा व्यक्त की थी। परंतु उन्होंने विनीत भाव से उक्त राजकुमार को लिखा था अपना कर्तव्य मानकर मैंने यह किया है। उसके लिए मैं पुरस्कार नहीं लेना चाहता। यूँ पुरस्कार का अधिकारी भी नहीं हूँ। परंतु यदि आप इस बात से संतुष्ट होकर पुरस्कार देना ही चाहते हैं तो 'सरस्वती' को दे सकते हैं, 'सरस्वती'-संपादक को नहीं। निर्लोभ ब्राह्मण द्विवेदी जी ने वही बात लिखी, जो एक ब्राह्मण के लिए शोभनीय है। सचमुच 'सरस्वती' का सर्वविध विकास ही उनकी साधना का लक्ष्य था।

द्विवेदी जी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य था:—अथक-गति से नवीन लेखकों तथा कवियों का मार्ग दर्शन एवं प्रोत्साहन। आशुकवि श्री जगमोहननाथ अवस्थी जी के शब्दों में कहूँ कि वे ····"साहित्य के रचयिता न सही, परंतु रचना करने वालों की रचना करने वाले साहित्यिक ब्रह्मा थे।' संपादकाचार्य स्व० पं० बाबूराव विष्णु पराड़करजी भी द्विवेदी जी को गुरुतुल्य मानते थे। वे कहते थे कि उनको आचार्य द्विवेदी जी और 'सरस्वती' से काफ़ी प्रेरणा मिली थी। 'सरस्वती', का प्रत्येक अंक अपने संपादक के व्यक्तित्व की घोषणा करता था। यह 'सरस्वती' की ही विशेषता थी और वह द्विवेदी जी का निजत्व था।

उनकी दूसरी विशेषता थी होनहार की पहचान और उसको उत्साह-प्रदान। आज हिंदी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों में अधिक ऐसे हैं, जिन्हें द्विवेदी जी से लिखने का उत्साह मिला था। यदि न मिला होता तो शायद वे लेखक न होते। नवीन होनहार लेखक को उत्साहित करने का अर्थ यह नहीं है कि उसका जो लेख आए वही छाप दिया जाए। इससे तो उसका भविष्य नष्ट हो जाता है। वह अपने दोष समझ नहीं पाता,

अतः सुधारने का यत्न भी नहीं करता। 'अहं' की वृत्ति बढ़ जाती है और सस्ते लेखकों की संख्या बढ़ती है। उत्साह-प्रदान के पहले यह आवश्यक है कि लेखक के भीतर जो कला छिपी पड़ी है, उसे पहचाने तथा उसे बाहर किालने का यत्न करे। यह कार्य द्विवेदी जी ही कर सकते थे। लेखक की विशेषता की रक्षा करते हुए उसके लेख का संशोधन करना अत्यंत कठिन कार्य है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

एक बार द्विवेदी जी ने स्व० पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी जी को नाना फड़णनवीस पर कुछ लिखकर 'सरस्वती' के लिए भेजने का आदेश दिया। उन्होंने यथेष्ठ अध्ययन करके लगभग पचास पृष्ठ हाफ फुलिस्केप शीटें लिखकर उनकी सेवा में भेज दीं। लौटती डाक से उन्हें द्विवेदी जी का पत्र मिला कि आपने यह 'सरस्वती' के लिए लेख लिखा है या ग्रंथ लिखा है? खैर, अब किसी तरह उसका उपयोग कर लिया जाएगा। बाद में वाजपेयी जी के आग्रहानुसार उनकी पांडुलिपि द्विवेदी जी ने उनके पास वापस भेज दी थी। वाजपेयी जी के कथनानुसार प्रत्येक कापी के हाशिए पर किनारे-किनारे लेख के उतने ही अंश पर पेंसिल से निशान थे, जितना लेख के लिए उपयोगी था। बीच-बीच में अँग्रेज़ो में कुछ टीकात्मक वाक्य भी थे, जो उनके लेख से प्रभावित होकर लिखे गए थे।

पचास पृष्ठों में लिखा हुआ अपना उक्त जीवनचरित्र 'सरस्वती' के आठ पृष्ठों में प्रकाशित देखकर वाजपेयी जी को आश्चर्य हुआ। लेख का सार तथा सिलसिला इतना उत्तम बँधा था कि कहीं विशृंखलता मालूम नहीं होती थी। इतना हीं नहीं, अपितु लेख वाजपेयी जी के नाम से छपा था और दो रुपये पृष्ठ के हिसाब से सोलह रुपयों का मनीआर्डर भी पुरस्कार में उनके पास एक सप्ताह के भीतर ही अपने आप पहुँच गया था। वे तो अवाक् रह गए कि यह कैसा महान् पत्रकार है जो अपने साधारण कृपापात्र लेखकों के प्रति इतना सजग रहता है।

सभी जानते हैं कि राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त जी को द्विवेदी जी ही साहित्य क्षेत्र में लाए और बहुत ही मनोयोगपूर्वक उनका पथप्रदर्शन करते रहे। श्री मैथिलिशरण जी ने स्वयं कहा है—

करते तुलसीदास भी कैसे मानस-नाद!
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद!!

'सरस्वती' में उनकी 'हेमंत' शीर्षक कविता पहली बार प्रकाशित हुई तो उन्होंने देखा कि उसमें इतना संशोधन-परिवर्धन हुआ था कि वह उन्हें अपनी रचना ही प्रतीत नहीं होती थी। उनके ये शब्द हैं —"कहाँ वह कंकाल और कहाँ यह मूर्ति! वह कितनी विकृत और यह कितनी परिष्कृत। फिर भी, शिल्पी के स्थान पर नाम तो मेरा ही छपा था। मुझे अपनी हीनता पर लज्जा आई और पण्डित जी की उदारता देखकर श्रद्धा से मेरा मस्तक झुक गया। अयोग्य देखकर भी पंडित जी ने मुझे त्यागा नहीं, सदा के लिए अपना लिया। मुझे बोलचाल की भाषा में पद्य रचने का 'गुर' मिल गया।"

अपने देश के तरुणों को द्विवेदी जी कैसे प्रोत्साहित करते थे, इसका एक और सुंदर उदाहरण है। बात सन् 1926 की है। श्री सद्गुरुशरण अवस्थी जी के एक बड़े लेख का अनुवाद 'ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी मैगज़ीन' में बहुत विस्तार एवं प्रशंसात्मक टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुआ था। द्विवेदी जी की उस पर नज़र पड़ी और वे अवस्थी जी की खोज करने लगे। अवस्थी जी को स्वयं इसकी जानकारी नहीं थी। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते द्विवेदी जी आशीर्वाद देने उनके निवास-स्थान पर पहुँचे थे। उन्होंने उद्गार प्रकट किए थे—"तुम बड़े विद्वान् हो। देश-विदेश में भारत का नाम कर रहे हो।" अवस्थी जी अवाक् रह गए क्योंकि उन्होंने कभी नहीं सुना था कि द्विवेदी जी किसी की झूठी तारीफ़ करते हैं। वरन् उनके स्वभाव की उग्रता के कुछ प्रसंग उन्होंने सुने थे। अवस्थी जी कहते हैं—"मुझे आशीर्वाद देकर और बार-बार मेरा सिर सूँघकर वे लगभग आध घंटे में चल दिए।"

लेखक तथा संपादक के व्यवहार में मुख्य बात द्विवेदी जी में यह थी कि वे अपने संपादन में अपनी एक विशेष दृष्टि रखते थे। जो सामग्री उनके पास पहुँचती, उसमें से वे चयन नहीं करते थे, अपितु सोचते रहते थे कि मुझे अपने पाठकों को कैसी सामग्री देनी है और जो देनी है, वह कहाँ-कहाँ से मिल सकती है।

वे लेखकों तथा कवियों को जुटाने की कला में परम निष्णात थे। साथ ही, उनकी पैनी नज़र यह भी ताड़ती रहती थी कि कौन किस विषय पर सुंदर लिख सकता है। प्रायः वे अपने लेखकों तथा कवियों को विषय विशेष पर लेख तथा कविता लिखने का आदेश दिया करते थे और प्रायः उनके पास संबद्ध साहित्य भी भिजवा दिया करते थे। स्व० पं० रामनारायण मिश्र जी जब स्कूलों के डिप्टी हुए तब द्विवेदी जी ने उनको प्रेरित कर शिक्षा-विभाग की उस वर्ष की रिपोर्ट भेज कर, उनसे लेख लिखाया और द्विवेदी जी के प्रोत्साहन के फलस्वरूप ही वे 'सरस्वती' में लिखने लगे।

उनकी पैनी नज़र देश के हिंदी जगत् से बहुत दूर विदेशों के भी हिंदी-ज्ञाताओं में अपने लिए लेखक खोजती रहती थी। अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड आदि देशों में भी उन्होंने हिंदी लेखकों को खोजा और जो लोग वहाँ रह कर हिंदी को भूले हुए थे, कदाचित् हिंदी लेखन का भी जिन्हें विशेष अभ्यास नहीं था, उनसे भी हिंदी में लेख लिखवा-लिखवाकर 'सरस्वती' में प्रकाशित किए। साथ ही उक्त लेखों की भाषा अपने साँचे में ढालकर उन लेखकों को उन्होंने इतना प्रोत्साहित किया कि उनमें से कितने लेखक हिंदी जगत में चमक उठे। नये लेखकों को खूब अध्ययन करने के लिये बहुत उत्साहित करते थे और अपने पुस्त-कालय से अध्ययन सामग्री भी दिया करते थे। वे उन्हें यह परामर्श भी देते रहते थे कि जो कुछ अध्ययन करो, उस पर अपने विचार व्यक्त करो। यदि ऐसा न कर सको तो पुस्तक का सार ही लिख डालो। ऐसा करने से वह पुस्तक लेखक को आत्मसात हो जाती है।

सामग्री पहुँचते ही वे तुरंत प्राप्ति एवं स्वीकृति-अस्वीकृति की सूचना देते थे। पत्रोत्तर देने वाले ऐसे बिरले ही पत्रकार होंगे। कोई पत्र होता चाहे लेख या कविता होती, वे प्राप्त होते ही तत्काल उसे पढ़ते थे और हज़ार काम छोड़कर अपने संपादकीय कर्तव्य का पालन करते थे। उनके पत्र अत्यंत संक्षिप्त, ओज-पूर्ण, बहुधा व्यंग्य पूर्ण और प्राप्तकर्ता को हर्षित करने वाले होते थे। लेखकों के प्रति शालीनता एवं नम्रता की तो वे हद कर देते थे। स्थानाभाव से लेखकों तथा कवियों को लिखे गए उनके कुछ चुने हुए पत्रों को उद्धृत करने का हम लोभ संवरण कर रहे हैं।

संपादकाचार्य पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी जी का यह कथन बहुत मारके का है कि द्विवेदी जी और 'सरस्वती' का अभिन्न संबंध था। आज इस प्रश्न का उत्तर कोई नहीं दे सकता कि यदि द्विवेदी जी को 'सरस्वती' न मिलती और द्विवेदी जी 'सरस्वती' को न मिलते तो आज उनकी जो प्रशंसा और पूजा हो रही है, वह होती या न होती अथवा हिंदी की जो उन्नति उर्दू-प्रधान लोगों में आज देखी जाती है, वह दिखाई देती या नहीं। जिस समय उन्होंने 'सरस्वती' का संपादन भार लिया था, उस समय भी हिंदी के अच्छे लेखक थे, पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलती थीं। परंतु दो बातों का अभाव था। एक तो द्विवेदी जी जितनी भाषाएँ जानते थे और अपने कार्य के लिए उनका उपयोग कर सकते थे, उतनी भाषाएँ शायद उनमें कोई नहीं जानता था और दूसरे जिस लगन से वे कार्य करते थे, उस लगन से शायद कोई नहीं करता था। जहाँ तक पता है, उस समय अधिक-से-अधिक चार भाषाएँ जानने वाले संपादक थे। परन्तु द्विवेदी जी आठ भाषाएँ जानते थे। उनके कार्य में इस ज्ञान से बड़ी सहायता मिलती थी। संपादन कार्य में वे जितना परिश्रम करते थे, उतना कोई संपादक न करता था और न करता है। तभी तो आचार्य हजारीप्रसाद जी ने उनको 'आश्चर्यजनक अवतारी पुरुष' कहकर संबोधित किया है। उन्होंने उनको नख से शिख तक 'ईमानदार' भी कहा है। आगे वे कहते हैं कि द्विवेदी-युग के अन्यान्य साहित्यिक महारथियों की महिमा को संपूर्ण स्वीकार करते हुए भी निःसंकोच कहा जा सकता है कि भाषा को युगोचित, उच्छ्वासहीन, स्पष्टवादी और वक्तव्य अर्थ के प्रति ईमानदार बनाकर जो काम वे कर गए हैं, वही उन्हें हिंदी साहित्य में अद्वितीय स्थान का अधिकारी बनाता है। साधारणतः साहित्य क्षेत्र में भाषा के प्रजापतिगण केवल शैली और भाषा के बल पर इस महत्वपूर्ण आसन पर अधिकार नहीं करते, परंतु द्विवेदी जी एक ऐसे अद्भुत मुहूर्त में आए थे और एक ऐसी प्रकृति और ऐसा संस्कार लेकर आविर्भूत हुए थे कि वे उस आसन पर निर्विवाद भाव से अधिकार कर सके। वंदे महापुरुष ते चरणारविंदम्।..........

युगप्रवर्तक आचार्य

सोमदेव शर्मा

हिंदी भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी जी की ख्याति एवं यश तब तक निरंतर चलता रहेगा जब तक आकाश में सूर्य एवं चंद्र विद्यमान हैं । अपने गंभीर व्यक्तित्व, अथक काव्य-सेवा एवं चरित्र-बल से उन्होंने हिंदी-जगत् को नवचेतना प्रदान की। जीवन-भर उन्होंने हिंदी भाषा को दोष-दौर्बल्य से सर्वथा मुक्त करने का प्रयास किया।

साहित्यिक क्षेत्र में द्विवेदी जी के आने से पूर्व हिंदी-भाषा में भारतेंदु बाबू काव्य के प्रायः सभी अंगों की रचना प्रारंभ कर चुके थे। भारतेंदु-युग में गद्य-भाषा के स्वरूप का निर्णय हो चुका था। कविता, नाटक, उपन्यास, निबंध और आलोचना आदि में उसका प्रयोग यथाशक्ति किया गया था। अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रगति पर था। हिंदी में लेखकों और प्रकाशकों की कमी न थी। काशी में नागरी प्रचारिणी सभा भी कार्य में संलग्न थी। किंतु फिर भी हिंदी-भाषा मराठी, बँगाली आदि अन्य भारतीय भाषाओं के समक्ष दुर्बल-सी लगती थी। ऐसे समय में हिंदी को एक कर्मठ एवं कुशल नेता की मार्गप्रदर्शन के लिए आवश्यकता थी।

आचार्य द्विवेदी जी ने ऐसे समय में ही सरकारी नौकरी छोड़ते ही साहित्य-सेवा का व्रत लिया । 1902 में आपने 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन आरंभ किया। हिंदी साहित्य के लिए निरंतर 'सरस्वती' में ज्ञान-विज्ञान, व्यावहारिक विषयों पर सरल भाषा में टिप्पणी लिखते थे। किंतु साथ ही द्विवेदी जी ने भाषा-सुधार की ओर भी ध्यान दिया । पंडित कामताप्रसाद गुरु से आपने प्रामाणिक व्याकरण लिखवाया । 'सरस्वती' में अनेक छोटे बड़े लेख हिंदी-भाषा के सुधार पर लिखे । इन लेखों में तत्कालीन लेखकों की अशुद्धियों (लिंग, वचन, संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया प्रयोगों की अशुद्धियों) को शुद्ध करके द्विवेदी जी लेखकों का मार्ग निर्देशन किया करते थे । इस प्रकार आचार्य द्विवेदी जी खड़ी बोली को व्याकरण संमत बनाने में संलग्न रहे। आचार्य जी के प्रयासों से हिंदी गद्य की भाषा व्यवस्थित हुई । उन्होंने स्वयं कहानी, यात्रा-संस्मरण, जीवन-चरित, आत्मकथा, आलोचना आदि गद्य रूपों की ओर अपने युग के पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। न केवल अपने लेखों में, अपितु व्यंग्य-चित्र के माध्यम से भी लेखकों को प्रेरणा दी। परिणामस्वरूप विभिन्न स्वरूप विकसित हुए।

गद्य-शैली के संबंध में द्विवेदी जी की राय थी कि शैली एक ओर विषय के अनुरूप हो तो दूसरी ओर जनता के अनुकूल। जनसाधारण को भाषा समझने में कोई कठिनाई न हो, यह उन का सबसे बड़ा लक्ष्य था। वे हिंदी के दृढ़भक्त होते हुए भी उर्दू के सहज एवं सरल रूप को स्वीकार करते थे। उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा था--"उर्दू भिन्न भाषा नहीं, अरबी-फ़ारसी के जो शब्द प्रचलित हों, उन्हें मैं हिंदी के शब्द समझता हूँ। मेरे लेख इस बात के प्रमाण हैं ।" विदेशी भाषाओं के प्रति उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी था। वे अँग्रेज़ी, फ़्रांसीसी आदि भाषाओं के शब्दों को—जो कि हिंदी में प्रचलित हो गए हैं, स्वीकार करते थे। वे कभी यह नहीं मानते थे कि रेल, स्टेशन, रेडियो, मोटर आदि शब्दों के स्थान पर संस्कृत के पर्यायवाची शब्द प्रचलित किए जाएँ।

हिंदी भाषा की अभिव्यंजना शक्ति की अभिवृद्धि के लिए द्विवेदी जी सदैव प्रयत्नशील थे । किसी भी भाषा के शब्द-कोश और उसकी लोकोक्तियों के भंडार में ही उस की सबसे बड़ी शक्ति होती है। अतएव वे सदैव अन्य भाषाओं के ऐसे शब्दों का, जो हिंदी में समा सकते हैं, स्वागत करने को तत्पर रहते

थे। उनका विचार था :—

"जिस तरह शरीर के पोषण और उद्यम के लिए वाह्य खाद्य पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही सजीव भाषाओं की बाढ़ के लिए विदेशी शब्द और भावों के संग्रह की आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा नहीं करती या जिस में ऐसा होना बंद हो जाता है तो वह उपवास-सी करती हुई किसी दिन मुर्दा नहीं तो निर्जीव अवश्य हो जाती है।"

द्विवेदी जी ने हिंदी के शब्द भंडार में पर्याप्त अभिवृद्धि की। आवश्यकतानुसार एक ओर तो सरल तत्सम संस्कृत-शब्दों का प्रयोग प्रचलित किया, दूसरी ओर बँगला, मराठी, उर्दू और अँग्रेज़ी के सरल शब्दों को स्थान दिया। द्विवेदी जी हिंदी के अतिरिक्त ये भाषाएँ भी जानते थे, अतएव वे ऐसा कर सके।

पद्य-रचना की प्रणाली भी आचार्य जी ने स्थिर की। बंबई में रहने के कारण आचार्य जी को मराठी भाषा का सम्यक् अध्ययन करने का अवसर मिला था। मराठी में अधिकतर संस्कृत के वृत्तों का व्यवहार होता है। पदविन्यास प्रायः गद्य का-सा रहता है। इसी नमूने पर द्विवेदी जी ने हिंदी में पद्य-रचना प्रारंभ की। धीरे-धीरे उन्होंने पद्य में भी खड़ी बोली का प्रयोग प्रचलित कर दिया। आप का आग्रह था कि कविता बोलचाल की अर्थात् गद्य की व्यावहारिक भाषा में होनी चाहिए। प्रतिभा और योग्यता के अनु-रूप अनेक बाल कवियों को उन्होंने काव्य-रचना की स्फूर्ति प्रदान की और उनकी साहित्यिक विकास-वृद्धि में गुरुवत् संरक्षण देते रहे। अभी तक कविता विषय के क्षेत्र में पुरानी परिपाटी पर ही चल रही थी। प्रेम व श्रृंगार के बहते स्रोत को रोक, कविता के लिए नए-नए विषय-स्वदेश-प्रेम, समाज सुधार आदि बताए। राष्ट्रीय-जागरण के अनुष्ठान में द्विवेदी-युगीन हिंदी कविता ने महत्वपूर्ण योग दिया। आचार्य जी के परम-भक्त एवं अनुयायी राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त द्वारा प्रणीत 'भारत-भारती' भी इसी प्रकार का उद्बोधक काव्य है, जिसकी मूल प्रतिज्ञा ही वास्तविक समस्या का उद्घाटन करती है:—

"हम कौन थे, क्या होगए और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।।

गुप्त जी ने हमारी राष्ट्रीय चेतना को कई प्रकार से सजग किया। तरुणों में देश सेवा और आत्मोत्सर्ग की भावना उनके 'अनघ' नामक गीति नाट्य ने जगाई, जिस का मुख्य सूत्र यही था—

न तन सेवा, न मन सेवा, न जीवन और धन-सेवा।
मुझे है इष्ट जन-सेवा, सदा सच्ची भुवन-सेवा।।

आचार्य द्विवेदी जी ने भी कर्मठ होकर इस ढंग की न जाने कितनी कविताएँ लिखीं। उस काल की उनकी सुंदर कृतियों का सुंदर रूप 'कविता कलाप', 'कुमार संभव-सार', इत्यादि में दिखाई पड़ता है। द्विवेदी जी ने भूगोल, इतिहास, विज्ञान, व्याकरण जैसे विषयों पर तत्कालीन लेखकों को लेखनी उठाने के लिए उत्साहित किया। 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' आदि लेख लिखकर 'साकेत' जैसे महाकाव्य की रचना की प्रेरणा दी। "जिस भाषा का अपना साहित्य नहीं, वह रूपवती भिखारिणी के समान है।" आदि वाक्यों द्वारा उन्होंने अनेक अन्य भाषा-भाषी लेखकों को हिंदी-साहित्य की ओर लाने का प्रयत्न किया।

आचार्य द्विवेदी जी भाषा के महान् सुधारक थे। यदि द्विवेदी जी हिंदी-गद्य को व्यवस्थित एवं विकसित न करते तो निःसंदेह ही उसमें वह प्रौढ़ता नहीं आ पाती जो हम छायावाद युग में देखते हैं। द्विवेदी जी ने यह सारा कार्य न केवल स्वयं किया अपितु उन्होंने एक ऐसा आंदोलन चला दिया जिससे कि उस युग के सभी प्रमुख लेखकों का ध्यान भाषा की शुद्धता के प्रति इतना सचेत रहता था। उस युग के प्रमुख कृतिकार लोचनप्रसाद पांडेय, रामचरित उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त प्रभृति हैं, जिनकी काव्य-रचना शैली का वृद्धि क्रम ही स्वर्गीय द्विवेदी जी की सफलता का इतिहास है।

निःसंदेह आचार्य द्विवेदी जी अथक परिश्रमी, कर्मठ, सच्चे संपादक, हिंदी के अनन्य सेवी, भाषा-सुधारक और हिंदी साहित्य के महारथी थे। हिंदी-संसार इन की सेवाओं का आजन्म ऋणी रहेगा। ●

लक्ष्मीप्रसाद मिस्त्री 'रमा'

युग-निर्माता

ते वन्द्यास्ते महात्मानस्तेषां लोकेईस्थरं यश—
यैर्निवद्यानि काव्यानिये वा काव्येषु कीर्तिता—

प्रत्येक मनुष्य परिस्थिति का दास नहीं रहा करता। कई मनुष्य ऐसे भी होते हैं, जो अपने कर्तव्य से धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थिति में पर्याप्त परिवर्तन कर दिखाते हैं। आचार्य प्रवर स्वर्गीय पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी भी इसी कोटि के साहित्यकारों में से थे। आप संपादक, समालोचक, सुकवि और लेखक भी थे। आपने अपना सारा जीवन साहित्य सेवा ही में उत्सर्ग किया। हिंदी-संसार को उनका विशेष परिचय देने का प्रयास करना धृष्टता है। "सरस्वती" के संपादन-काल में द्विवेदी जी ने हिंदी के माथे पर पूर्ण चंद्र का मुकुट चढ़ा दिया। उस समय के जिन हिंदी शिल्पियों ने हिंदी को आधुनिक रूप प्रदान किया था उसमें द्विवेदी जी का आसन वहुत ऊँचा था। वे भाषा सौष्ठव तथा साहित्यिक सौंदर्य की ओर ही ग्रधिक ध्यान देते थे। वह प्राप्त लेखों पर बड़ा परिश्रम करते थे। कदाचित ही कोई लेख उन के संशोधन से बच पाता था। किसी लेख को विना पढ़े ग्रौर विना उसकी भाषा शुद्ध किए वह प्रेस में न जाने देते थे। वे कोरे संपादक ही नहीं थे किंतु एक जबरदस्त निर्माता थे। साहित्य-क्षेत्र में विभिन्न उपयोगी विषयों के ग्रंथों का प्रणयन कर उन्होंने साहित्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया था और 'सरस्वती' को उच्च कोटि की पत्रिका बनाकर संपादन कला का भी एक नूतन आदर्श उपस्थित किया था। उन्हीं से प्रेरणा पाकर हिंदी के साहित्य-विभाग की आशातीत उन्नति हुई है। उन्होंने 'सरस्वती' के संपादक बनते ही व्याकरण के अनुकूल गद्य-रचना करने की विशेष उत्तेजना दी, कवियों को खड़ी बोली का व्यवहार करने पर ज़ोर दिया। उस समय और भी बहुत से संपादक ग्रौर लेखक हिंदी भाषा को सजाने में लगे हुए थे परंतु उनमें एक भी ऐसा न था जो उनके समान सब काम छोड़ कर इसी में लग जाता। उन्होंने भाषा की शुद्धता पर ज़ोर दिया और उसके लिए लेख तैयार किए। वे हिंदी में मासिक-पत्रकार कला के प्रथम सफल उदाहरण थे। उनकी 'सरस्वती' उन्नत पत्रकार कला का नमूना कही जा सकती है। गद्य और पद्य दोनों को नूतन रूप देने का प्रयत्न उन्होंने किया था। आधुनिक हिंदी जगत में कवि-लेखक-संपादक-समालोचक और ग्रंथकार के रूप में जो अनेक उज्ज्वल नक्षत्र अपना आलोक प्रदर्शित कर रहे हैं वे सब द्विवेदी जी का ही स्नेह और प्रसाद पाकर इस गौरवमय स्थिति पर पहुँचे हैं। यह उन्हीं के अथक परिश्रम का परिणाम है।

हिंदी जगत में जितना उन्होंने काम किया, उनके समकालीन संपादक व लेखक अथवा उनके पहले के किसी हिंदी हितैषी विद्वान संपादक से नहीं बन पड़ा। उन्होंने हिंदी भाषा और साहित्य की जो सेवा की

है वह साहित्य के इतिहास में अजर और अमर है। आधुनिक हिंदी निर्माण का पहला युग भारतेंदु युग कहलाता है और दूसरा द्विवेदी युग—भारतेंदु युग की हिंदी संयम रहित और बनावटी पन से भरी हुई भाषा थी। आचार्य दविवेदी जी ने उसे अपने आसन पर पहुँचने के लिए परिष्कृत मार्ग दिखलाया है। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों को नूतन रूप देने का अच्छा प्रयत्न किया। गद्य में उन्हें जो सफलता मिली वह पद्य में न मिल सकी, फिर भी पद्य की भाषा के परिवर्तन में उन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया है। वे इने-गिने उन लोगों में से थे जो साहित्य ही नहीं साहित्यिकों की सृष्टि करने की भी क्षमता रखते थे। उनकी लेखनी में अद्भुत शक्ति थी। वे कठिन से कठिन विषय को अत्यंत सरल रूप में लिख देने में सिद्धहस्त थे। सन् 1900 ईस्वी के बाद के प्रायः सभी वर्तमान लेखकों व कवियों ने उनसे कुछ न कुछ सीखा है।

स्वर्गीय द्विवेदी जी के लिखे महाभारत या 'सरस्वती' की टिप्पणियों को आप किसी के भी सामने रख दें हर एक सरलता से समझ लेगा। उन्होंने अन्य भाषाओं के शब्दों से भी परहेज नहीं किया, भारत में प्रचलित कई भाषाओं के शब्द बड़ी खूबी के साथ अपनी भाषा में ऐसे फिट बैठा लिए कि वह समझ नहीं पड़ते और बोल-चाल की भाषा में व्यवहृत होने लगे हैं। उन्होंने जिस शैली के गद्य को अपनाया, उसमें प्रसाद, ओज, सामंजस्यता, व्यंग के साथ-साथ सजीवता अथवा विशदता भी रहती थी। यही कारण है कि हिंदी गद्य-पद्य को अपना सीमित क्षेत्र त्याग कर उन्नत और प्रकाश के मैदान में आने का अवसर प्राप्त हुआ है। उनकी आलोचनाएँ अपना एक विशेष आदर्श रखती हैं। उनकी आलोचना कला की परिपाटी को पंडित पदम सिंह शर्मा ने भी अपनाया और उसी ढंग पर विहारी सतसई का भूमिका भाग तथा सत्सई संहार लिखा, आलोचना-शास्त्र की दृष्टि से हम द्विवेदी जी की "नैषध चरितचर्चा" तथा कालिदास की निरंकुशता इत्यादि को महत्त्वपूर्ण स्थान दे सकते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि साहित्यिक या हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में उन का प्रवेश मुख्यतः आलोचक के रूप में ही हुआ है। आलोचना का नियम उनका बड़ा कड़ा था। खरी आलोचना करते हुए कभी सकुचाते नहीं थे। तीव्र आलोचना करने के कारण उन्हों को न जाने कितनों का रोष-पात्र होना पड़ा। मगर उन्होंने इसकी कोई परवाह नहीं की।

हिंदी साहित्य के निर्माण में जितना शारीरिक और मानसिक परिश्रम द्विवेदी जी ने किया है, उतना शायद किसी एक व्यक्ति ने लगातार किया हो। उन्होंने अपने शरीर और मस्तिष्क का एक-एक कण हिंदी-साहित्य के यज्ञ-कुण्ड में होम दिया। अपना तन-मन व धन-सर्वस्व हिंदी को सौंप दिया। और अपनी आँखों की ज्योति देकर राष्ट्रभाषा के मंदिर को आलोकित किया है। वे एक व्यक्ति नहीं संस्था थे। उन्होंने योग्यता प्राप्त की थी। यह सब उन्हीं के परिश्रम का फल है। एक पुरुष अपने ही उद्योग से कहाँ तक विद्वता प्राप्त कर साहित्य-सेवा कर सकता है, इसके आप आदर्श थे। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में भी राष्ट्र भाषा की सेवा ही में व्यस्त रहे हैं। उन्होंने जिस सच्ची लगन और निष्ठा से हिंदी भाषा की सेवा की है उसके स्मृति-स्वरूप काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने उन्हें वृहद् अभिनंदन ग्रंथ प्रदान किया है। आचार्य द्विवेदी जी यशप्रार्थी नहीं थे। कई विश्वविद्यालयों ने उन्हें संमानित करना चाहा था परंतु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। साहित्य संमेलन के कार्य में वे सदा सहयोग देते रहे। परंतु सभापति के आसन ग्रहण करने को कभो राजो नहीं हुए।

उन्होंने जो हिंदी साहित्य की निश्छल तथा निःस्वार्थ सेवा की है वह सतत अनुकरणीय है। उसके लिए साहित्य संसार सदा आपका आभारी रहेगा। मैं तो अंत में उनके ज्ञान-गांभीर्य पर विचार करते हुए यही कहूँगा :—

तन में जब लौ रही शक्ति 'रमा', लिखते वे रहे-दृग-दृष्टि भी दे दी।
वर भाँतिन-भाँति के ग्रंथ रचे, भर दी शुचि हिंदी सु-मातु की वेदी।।
वरनों कह लौ शुभ कीरति मैं, वह सारी साहित्य-कला के थे भेदी।
समता में न आन दिखात कोई, अपने सम आप थे एक द्विवेदी।।

पत्रकारिता के क्षेत्र में

देवप्रकाश गुप्त

'पत्रकार राष्ट्र की निधि हैं। उनमें राष्ट्र की आत्मा बोलती है। वे साहित्य-समाज और कला के आँगन की धुंध अपनी पवित्र भावनाओं के उज्ज्वल दीप रखकर कम करते हैं, मिटाते हैं। सचमुच सच्चे पत्रकार तो बहुत ही कम हैं।'

—बेकन

बेकन का यह बीज़ वाक्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के जीवन में यथावत् संग्रथित दीखता है—इसमें कोई शक नहीं। हिंदी के मूर्धन्य आलोचक आचार्य द्विवेदी ने साहित्य की प्रायः समस्त विधाओं पर लेखनी चलाकर उनमें मौलिकता के पुट भरे, यह तथ्य तो साहित्य जगत् के लिए सुविदित ही है। आचार्य द्विवेदी का ऊर्जस्वी व्यक्तित्व बाहर से कठोर होता हुआ भी भीतर से बहुत कोमल था। उनका समस्त जीवन पूजा की वेदी पर अर्पित उस श्रद्धायुक्त दीप के सदृश था जिसका सारा अस्तित्व पवित्रता और विराटता के सेतुबंध में समन्वित होता है।

बींसवीं शताब्दी के पूर्व जब आचार्य जी झाँसी (उ० प्र०) में रेलवे की नौकरी कर रहे थे तभी से तत्कालीन प्रकाशित हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में लेखादि भेजना प्रारंभ कर दिया था। उनके भेजे गए वे सारे निबंध जब तब पत्र-पत्रिकाओं में यथावत् स्थान पाने लगे थे। उस समय साहित्यिक वातावरण इतना ज्यादा नहीं पनप पाया था कि आज की तरह लेखक को इस क्षेत्र में आने के लिए अनथक संघर्ष और अविराम परिश्रम-वृत्ति को निमंत्रण देना पड़े। समय के साथ-साथ आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की कीर्ति-वल्लरी फलती-फूलती गई। उन्हीं दिनों एक प्रतिभा संपन्न आयु प्राप्त लेखक लाला सीताराम ने महाकवि कालिदास की शकुंतला की आलोचना और तत्संबंधी साहित्य पर एक वृहत् पुस्तक प्रकाशित करवाई थी। संयोगवश वह पुस्तक आचार्य द्विवेदी की आँखों से गुज़री जो उन्हें महाकवि कालिदास की अभिव्यक्ति की मौलिकता (Originality of Expression) के अनुपात में बहुत फ़ीकी लगी और उसकी कटु आलोचना उन्होंने उन्हीं दिनों 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ प्रेषित कर दी। 'सरस्वती' उन दिनों की अति संमानित पत्रिका मानी जाती थी और लोगों को इसके अंक की प्रतीक्षा बड़ी उत्सुकता से करनी पड़ती थी। पर जब द्विवेदी जी के नाम उक्त आलोचना 'सरस्वती' में छपी तो कुछ लोगों ने उनके पास सहमति और असहमति भरे पत्र भेजे। आलोचना इतनी जोरदार की गई थी कि विरोधी दल के कुछ लेखकों के पत्र उनके पास जब-तब आते ही रहे और वे निःसंकोच ऐसे सभी पत्रों के उत्तर देते रहे। यह द्विवेदी जी की हृदयगत विशेषता कही जाएगी कि अपने कार्य में वे किसी से भी संकोचवश कुछ नहीं छिपाते थे। जो रचनाएँ उनके अंतर को छूतीं वे उनको सिर माथे लेते और इतना ही नहीं उनके लेखकों को प्रोत्साहन देने के निमित्त बधाई और धन्यवाद सूचक पत्र भी भेज देते थे। अंततोगत्वा आचार्य द्विवेदी की ऐसी समीक्षोचित निर्भीकता ने उस वक्त 'सरस्वती' के प्रकाशकों को झकझोरा और वे इसी के परिणामस्वरूप सन् 1903 ई० में सरस्वती के मुख्य संपादक के रूप में नियुक्त कर लिए गए। रेलवे की नौकरी छोड़कर 'सरस्वती' का संपादन-दायित्व संभालने के बाद उन्हें साहित्य सेवा का पर्याप्त अवसर मिला और यहाँ से ही उनके पत्रकार जीवन का श्रीगणेश माना गया। सन् 1903 से लेकर 1920 तक का उनका सरस्वती-संपादन कार्य न केवल जीविकोपार्जन का निमित्त बना प्रत्युत साहित्य के हर पहलू पर जमकर लिखने-पढ़ने और गढ़ने की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि प्रमाणित हो पाया। संपादन-काल में उन्होंने साहित्य की हर संभव सेवा की। क्योंकि वे स्वयं यह मानते थे कि वे कोई बहुत बड़े कवि-लेखक नहीं हैं, फिर भी उन्होंने अनेक काव्य-पुस्तिकाओं का प्रणयन किया। यद्यपि उनकी कविता बहुत हद तक मूल्यांकित नहीं हो पाई पर हिंदी गद्य में उस समय से लेकर प्रसाद युग और आज तक के जीवित आलोचक एवं साहित्यकार आचार्य द्विवेदी की उन समस्त कृतियों को मणि-मेखला की भाँति सँजोते-सँवारते रहे हैं।

संपादन-काल में आचार्य द्विवेदी ने न केवल प्रामाणिक विद्वानों के लेख ही आमन्त्रित किए अपितु नाटक, कहानी, काव्य और आलोचना के अंगों को पूर्णतया विकसित करने में भरपूर योग दिया। पत्रकार जीवन में उन्हें जो भी कमजोर रचनाएँ प्राप्त हुईं उन्हें अपनी लाल पेंसिल से उन्होंने चित्रित कर दिया। कभी ऐसी कुछ रचनाएँ लेखकों को वापिस कर दी जाती थीं तो कभी उन्हें संशोधित रूप में प्रकाशनार्थ भेजने का अनुरोध करने में आचार्य द्विवेदी नहीं हिचकिचाते थे। और कभी-कभी ऐसी परिस्थिति हो जाती थी कि लेखक की आर्थिक परेशानियों में यत्किंचित् सहयोग देने की भावना से नई रचना तैयार कर वे स्वयं प्रेस को भेज देते थे। इससे कुछ ऐसी लेखकों की शिकायत भी रही कि उनकी भाषा, काव्य-शैली, शाब्दिक-संगठन आदि की प्रस्तुति भी पूरी की पूरी द्विवेदी जी की हो जाती थी पर, दूसरी ओर ऐसी स्थिति में भी लेख का विषय, लेखक का नाम, और उसका समुचित पारिश्रमिक 'सरस्वती' कार्यालय में सुरक्षित रहता था। कभी-कभी उन्हें प्रकाशनीय सामग्रियों की काट-छांट में बड़ी असमर्थता होती थी तब अपने प्रियजनों के पास अन्य लेखकों की रचनाएँ इस रूप में में वे सनिवेदन भिजवा देते थे कि उन्हें शुद्ध कर 'सरस्वती' के स्तरानुकूल बना दिया जाए। इन्हीं दिनों महाकवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की भी कविता लौटाई गई थी। उन्हें संपादक की कुर्सी पर बैठने के बावजूद भी इसका पूरा-पूरा अहसास था कि उनकी कलम से किसी भावुक लेखक की रचना न लौट जाए और न ही अकारण किसी के हृदय पर आघात पहुँचे। पत्रकारिता के क्षेत्र में उनके अपने आदर्श थे। उनका यह सिद्धांत था कि पत्रिका का प्रकाशन नियत तिथि पर होना चाहिए। वे यह मानते थे कि पत्रिका नियमित समय पर प्रकाशित करने में अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं—कभी लेखक का सहयोग नहीं मिलता तो कभी प्रेस का, कभी व्यवस्थापकों से अनबन हो उठती है तो कभी प्रकाशनार्थ आई हुई रचनाएँ स्तरीय नहीं होतीं। परंतु उनका कथन था कि यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्रिका को पाठक-जगत् में प्रचलित एवं प्रतिष्ठित करना चाहता है तो उसे इन सारी कठिनाइयों को किसी भी प्रकार से हल करते हुए अंक का प्रकाशन नियत तिथि पर करना ही होगा। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि श्री द्विवेदी ने जब तक 'सरस्वती' का संपादन किया तब तक पत्रिका का प्रकाशन न केवल नियमित रूप से होता रहा बल्कि नियत तिथि पर भी होता रहा।

जहाँ तक 'सरस्वती' की भाषा का संबंध है, वे संस्कृत मिश्रित हिंदी को अपनाने के पक्ष में नहीं थे। उनके विचार में हिंदी के अभ्युदय के लिए भारतवर्ष की समस्त आँचलिक भाषाओं का सहयोग स्वीकार कर चलने का था—उर्दू, अरबी, फ़ारसी, अँग्रेज़ी, संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, गुजराती, मराठी, बंगाली इत्यादि अनेक भाषाओं के सार ग्रहण कर उन्होंने हिंदी को उत्तरोत्तर उन्नत बनाने में नैष्ठिक सहयोग दिया। अपने एक मित्र के पत्र में उन्होंने एक बार लिखा था 'उत्तर प्रदेश सरकार की यह नीति है कि स्कूल और कालिज़ों में हिंदी के स्थान पर हिंदुस्तानी का प्रयोग किया जाना चाहिए' इस शीर्ष तथ्य को ध्यान में रखते हुए पत्रिका में उन्होंने ठेठ हिंदुस्तानी भाषा में कुछ लेखकों के लेख छापे। इनका परिणाम यह हुआ कि प्रांत के सारे विद्यालय और विश्व-विद्यालयों में 'सरस्वती' नियमित आने लगी और बिक्री पर भी इसका अच्छा प्रभाव पड़ा। यदि वे इस नीति को उस समय न अपनाते और संस्कृत मिश्रित हिंदी की रचनाएँ 'सरस्वती' में छापते रहते तो संभवतः पत्रिका के स्थगन की संभावना हो जाती। सूझ-बूझ के धनी आचार्य द्विवेदी ने अपने अपूर्व संपादन-कौशल से 'सरस्वती' का कलेवर सँभाला, और उस समय जब कि संस्कृत-निष्ठ व्यक्तियों की संख्या अंगुलियों पर गिनने जैसी थी।

संपादन काल में विदेशी लेखकों से भी आचार्य द्विवेदी भाषा के विकास पर जब-तब पत्राचार किया करते थे। एनी बेसंट और एन्ड्रूज ने इस दिशा में आचार्य द्विवेदी को काफ़ी सहयोग दिया। सन् 1900 यानी 'सरस्वती' के प्रथम प्रकाशन वर्ष में क्रमशः पाँच संपादकों ने इस पत्रिका में कार्य किया, पर 'सरस्वती' को उतनी लोक-प्रियता नहीं प्राप्त हो पाई जितनी द्विवेदी जी ने अपनी असाधारण प्रतिभा से दी। सन् 1903 से 1920 तक अर्थात् सतरह वर्षों तक आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' को अनवरत सेवा दी।

'सरस्वती' सचमुच धन्य-धन्य हो उठी। आचार्य द्विवेदी का सरस्वती संपादन काल निश्चयेण पत्रकारिता जगत् के लिए एक महत्तम उपलब्धि माना जाएगा।

श्रीप्रकाश जी के सरस्वती भाग 17, खंड 2 (नवम्बर 1916) में प्रकाशित लेख की मूल पांडुलिपि

मैथिलीशरण जी की कविता की मूल पांडुलिपि (सरस्वती : मार्च, 1912)

श्री:

महाराज पृथ्वीराज का पत्र ।

[महाराणा प्रतापसिंह जी के नाम]

स्रग्धरा

(१)

स्वस्ति श्री स्वाभिमानी कुल-कमल तथा हिन्दुआसूर्य सिद्ध,
शूरों में सिंह सुश्री युत रवि-सुकृती श्री प्रताप प्रसिद्ध ।
लज्जा धारी हमारे कुशल युत रहें आप [illegible] भाव,
श्री पृथ्वीराज का हो विदित विनय से प्रेम-पूर्ण प्रणाम ॥

(२)

हा! कैसा हो रहा हूं इस समय मैं घोर-आश्चर्य-लीन;
देखा है आज मैंने जल [illegible] हुआ, सिन्धु सम्पत्ति-विहीन !
देखा है क्या कहूं मैं निपतित नभ से इन्द्र का आज छत्र !
देखा है और भी, हां, अकबर-कर में आपका [illegible] पत्र !!

(३)

आशा की दृष्टि से जो पितर-गण जिसे स्वर्ग से देखते हैं ?
सच्ची वंश-प्रतिष्ठा क्षिति पर अपनी वे जहां देखते हैं ।
मर्यादा पूर्वजों की अब तक हम में दृष्टि आती जहां है ?
होती है खेद-दायी वह गुण-गरिमा आज ही में कहां है ॥

(४)

खोके स्वाधीनता को अब हम सब हैं नाम के ही नरेश,
ऊंचा है आप से ही इस समय अहो! देश का शीर्ष देश ।
जाते हैं क्या झुकाने अब उस सिर को आप भी हो हताश ?
भारी राष्ट्रीयता का शिव ! शिव ! फिर तो हो चुका सर्वनाश !!

पत्र-साहित्य

प्रधानमंत्रीजी,

आपका पत्र मुझे मिला है। यद्यपि आचार्य श्री महावीर प्रसाद जी से मेरा कोई परिचय नहीं तथापि उनकी भाषा शैली से मैं अपरिचित नहीं हूं। उनके 70 वर्ष पूरे होने के अवसर पर उनका सम्मान हिंदी प्रेमियों द्वारा होना सर्वथा उचित समझता हूं।

९/३/३२
परवद्दा जेल

आपका
राजेन्द्रप्रसाद

द्विवेदी जी के कुछ पत्र

रघुवीर सिंह

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'सरस्वती' के संपादन से अवकाश ग्रहण करने के छह्-सात वर्ष बाद ही मैं 'सरस्वती' के लिए लेख लिखने लगा था, अतः संपादक के रूप में उनके साथ संपर्क में आने का मुझे व्यक्तिगत सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। परंतु उनके संपादन में प्रकाशित 'सरस्वती' के प्रायः सब ही पुराने खंडों को मैंने ध्यानपूर्वक पढ़ा था और संपादक तथा समीक्षक के रूप में उनके महत्त्व तथा प्रतिष्ठा से पूर्णतया परिचित था, अतः सन् 1932 ई० के प्रारंभ में जब मेरा प्रथम ग्रंथ 'पूर्व-मध्यकालीन भारत' प्रकाशित हुआ, तब अपनी कृति को उन्हें भेंट-स्वरूप भेजने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पाया और यों उनके साथ जो संपर्क स्थापित हुआ वह अंत तक बना रहा।

द्विवेदी जी के साथ प्रत्यक्ष भेंट का मुझे कभी सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। द्विवेदी अभिनंदन-ग्रंथ भेंट करने के शुभअवसर पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने मुझे भी आमंत्रित किया था, परंतु अपनी अन्य व्यस्तताओं के कारण दुर्भाग्यवश तब मैं वहाँ जा न सका। तदनंतर कोई सुअवसर फिर कभी नहीं मिला और उनके दर्शन की इच्छा मन फो मन में ही रह गई।

कुल मिलाकर द्विवेदी जी के चौदह पत्र मुझे मिले थे। उनका अंतिम पत्र उनकी मृत्यु से कोई ढाई माह पहिले ही लिखा गया था। मेरे विशेष आग्रह पर द्विवेदी जी ने अपनी कृति 'समालोचना समुच्चय' तथा अपने फोटो-चित्र भी भेजे थे। इन दोनों पर ही द्विवेदी जी ने स्वरचित श्लोक लिखकर अपने हस्ताक्षर भी किए थे। ये सब ही मेरे संग्रह की विशेष निधि हैं।

द्विवेदी जी के पत्र मुख्यतया व्यक्तिगत ही हैं, परंतु उनसे द्विवेदी जी के इन पिछले वर्षों के जीवन पर कुछ प्रकाश अवश्य ही पड़ता है। संपादन कार्य से अवकाश ग्रहण कर लेने पर भी संपादक-वृत्ति उनमें अंत तक बराबर बनी रही। भाषा की अशुद्धियाँ उन्हें बहुत खटकती थीं, अतः बारंबार उनको इंगित कर उनको दूर करने के लिए संस्कृत भाषा के विशेष अध्ययन की आवश्यकता पर ज़ोर देते रहते थे। नए लेखकों को प्रोत्साहित करने के साथ ही किस प्रकार उन्हें अपने अध्ययन को विस्तृत और गहरा बनाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहना चाहिए इसका निर्देश भी द्विवेदी जी बराबर करते रहते थे, यह इन पत्रों से स्पष्ट हो जाता है।

सन् 1927 ई० में 'सरस्वती' में 'सुकवि-किंकर' का एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें तब बहुमान्य रहस्यवादी और छायावादी कविता की बहुत कड़ी आलोचना की गई थी। इस लेख से तब हिंदी साहित्य-संसार में बड़ी हलचल मच गई थी। माना यही जाता रहा है कि यह लेख द्विवेदी जी ने ही लिखा था। उन्हीं विचारों की एक झलक द्विवेदी जी के फरवरी 7, 1934 ई० के पत्र में भी देखने को मिलती है। उस पत्र पर द्विवेदी जी ने तब स्पष्टतया लिख दिया था।

'Private—Not for publication' (व्यक्तिगत-प्रकाशन के लिए नहीं)। परंतु पूरे तीस वर्ष बाद अब उसको प्रकाशित करवाने में कोई आपत्ति नहीं देख पड़ती है, प्रत्युत तद्विषयक द्विवेदी जी के दृष्टिकोण को समझने में यह पत्र सहायक ही होगा। अतः इस पत्र को तो यथावत् पूरा का पूरा दिया जा रहा है।

विस्तार के भय से सब ही पत्नों को यहाँ प्रकाशित करना संभव नहीं। कुछ के ही विशिष्ट अंश दिए जा रहे हैं। परंतु यदि कोई महानुभाव चाहेंगे तो उन्हें सब ही पत्नों की प्रतिलिपियाँ सुलभ कर दी जाएँगी।

पत्न सं० 1

दौलतपुर, (रायबरेली)
10 फरवरी, 32

श्रीमान् कुँवर रघुवीर सिंह जी साहब,

शुभाशिषो विलसंतु—4 फरवरी का पत्न मिला। [1]इतिहास की कापी मिली। कृतार्थ हुआ। धन्यवाद!

आपकी पुस्तक की मैंने खूब सैर की। कुछ ग्रंश खुद पढ़ा, कुछ सुना। आपकी इस कृति को देख कर मुझे परमानंद हुआ। आपने बड़ा परिश्रम किया है और बड़ी खोज से पुस्तक लिखी है। सटपट की पुस्तकें लिखने वाले तो अब बहुत लोग मैदान में आ गए हैं, पर इतिहास जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर, सो भी अपनी भाषा हिंदी में लिखने वाले इने गिने अब तक दो ही एक सत्पुरुष थे। आपने अपनी पुस्तक से इस साहित्य शाखा को बहुत कुछ पल्लवित कर दिया। पुस्तक बड़े मोल की है और परिमार्जित भाषा में यथेष्ट विवेचनापूर्वक लिखी है। आपने जिस उद्देश्य को दृष्टिपथ में रख कर पुस्तक लिखी है उसमें आप सर्वत्न सफल हुए हैं।

आपने खूब याद दिलाई। वायु विज्ञान[2] मेरे पास आया था। योग्य पिता के आप योग्य पुत्न हैं। राजा साहब के विद्या-व्यसन की प्रशंसा में कई दफे सुन चुका हूँ।

आप मेरी पुस्तक चाहते हैं। मुझे खेद ही नहीं लज्जा भी है, आपको देने लायक मेरे पास कोई पुस्तक नहीं। पर आपकी आज्ञा टाल भी नहीं सकता।

दीनने हीनविभवेण मया कुमार
देयं किस्ति भवते विबुधोत्तमाय।
एकंतु मद्विरिचितं लघु पुस्तकं यत्
स्म्प्रेष्यते बुधवराहत तद्गृहाण ।।

आप तो मुझ से आशीर्वाद भी चाहते हैं, भाई मेरे, मेरा शाप और आशीर्वाद दोनों ही निष्फल हैं। यह तो सभी—आप भी—जानते हैं। तथापि—

"इहानुरंध मितया नु किं गिरा"
वृहस्पतिसमो विद्वान् भूयास्त्वं भूमिमण्डले
विज्ञाता सर्व शास्त्राणां दाता कर्ण समस्त था।

मैं बहुत शिथिल हूँ। दृष्टि भी मंद है। अधिक नहीं लिख सकता। क्षमा कीजिए।

कृपा पात्न
महावीरप्रसाद द्विवेदी

पत्न सं० 2

दौलतपुर (रायबरेली)।

शुभाशिषः संतु

10 नवबंर की चिट्ठी मिली। अत्यानंद हुआ।

---

[1]पूर्व-मध्यकालीन भारत (1206–1526 ई०) इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग, 1932 (अब यह ग्रंथ अप्राप्य है)

[2]'वायु-विज्ञान'—महाराजा रामसिंह (सीतामऊ-नरेश) कृत, 1908। इसका यह संस्करण अब समाप्त-प्राय है।

बहुत अच्छी बात है, आप प्राचीन स्थानों पर लेख लिखकर, फिर उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करके भूली हुई बातों का स्मरण करा दीजिए।

एक काम और कीजिए, किसी तरह थोड़ी-सी संस्कृत सीख लीजिए। इससे आपको शब्द-शुद्धि का ज्ञान हो जाएगा। फिर आप अनुगृहीत को अनुग्रहीत और रघुवीर को रघुबीर न लिखेंगे।

चित्र लीजिए।

शुभानुध्यायी
म० प्र० द्विवेदी

पत्र सं० 3

दौलतपुर, रायबरेली
7–2–34

Private
Not for Publication

श्रीमान् कुँवर साहब–चिरंजीव।

चिट्ठी मिली। पुस्तक[3] भी। लिखने की शक्ति मुझ में नहीं। आपका प्रेम जबरन लिखा रहा है।

राजों, महाराजों, रईसों में से अधिकांश की जो दशा है उसे देखते हुए यदि आप कोई रद्दी पुस्तक भी लिख डालते तो प्रशंसा के पात्र थे। पर आपकी पुस्तक तो बहुत अच्छी है। विचार हृदयहारी हैं। लिखने की शैली मनोरंजक है। आपके निर्दिष्ट पहले तीन लेख पढ़ने पर मेरी यही राय हुई है। अब प्रेम-प्रेरित मेरी कुछ सूचनाएँ भी सुन लीजिए—

आप जो कुछ लिखा कीजिए ऐसा लिखा कीजिए जो तत्काल ही पाठकों की समझ में आ जाए। वही लेख सफल-श्रम समझा जा सकता है जिसे अधिकांश पाठक समझ लें। तुलसीदास का यह वाक्य याद रखिए—

सरल कवित्त कीरति विमल सुइ आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराय रिपु सादर करहिं बखान ॥

पृष्ठ 1 प्रसाद की कविता-हृदय नवनीत था। वह तो जला नहीं। यह स्नेह और कहाँ से टपक पड़ा जो दीपक-सा जल उठा ? फिर उसमें दियासलाई किसने लगाई ? स्नेह क्या आप ही आप जल उठता है ? अंधेरा या धूम-रेखा अब किसे चित्रित कर रही है ? प्रसाद ही इन बातों की व्याख्या करें तो समझ में आवें।

पृष्ठ 2, पारा दूसरा। अशाँति की जो लपटें सुखों को भस्म कर रही थीं वे यदि नयनाभिराम हो सकती हैं तो जल-जल कर मरना भी नयनाभिराम हो सकता है। मेरी तो यदि अँगुली भी आग से छू जायँ तो घंटों तड़पा करूँ।

पृष्ठ 4—तीसरा या दूसरा पारा—हृदय लगातार आदि। जहाँ आग लगती है वहाँ उसी जगह से पानी या खून नहीं बहता। वह वहीं जल जाता है। हृदय में भीषण दावानल कहाँ से आगया ? अगर वासना-रूपी दावानल है तो कहीं खुल कर कहना भी तो था।

	अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ट 4	स्मशान	श्मशान
”	उद्देश्यों	उद्देशों
पृष्ठ 5 लाईन 2	उससें	उनसे
पृष्ठ 6 आखिरी लाईन	तो	तब

[3]'बिखरे फूल'—सरस्वती प्रेस, काशी, 1933। अब अप्राप्य है। इसी ग्रंथ का संशोधित और परिवर्धित संस्करण' 'जीवन-धूलि' नाम से राजकमल प्रकाशन प्रायवेट लि०, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली ने 1950 ई० में छापा था। इसकी प्रतियाँ अब भी वहाँ से प्राप्य हैं।

यह इतना इसलिए लिखना पड़ा क्योंकि आपकी चिट्ठी से प्रेम, कृपा और औदार्य्य प्रकट हो रहा है। इसी भाव को ग्रहण करके मेरी धृष्टता के लिए मुझे क्षमा कीजिए।

शुभानुध्यायी
म० प्र० द्विवेदी

पत्र सं० 4

दौलतपुर, (रायबरेली)
2-3-34

शुभाशिषः संतु,

25 फरवरी का पत्र मिला। पढ़कर अत्यानंद की प्राप्ति हुई। आपका विद्या-व्यासंग सर्वथा प्रशंसनीय है। यदि हमारे राजे-महाराजे आपका अनुकरण करते तो कम से कम भारत का रियासती ग्रंश स्वर्ण युग में परिणत हो जाता।

अभिनंदन-ग्रंथ में मैंने आपका लेख पढ़ा है। बड़ा सुंदर है। गवेषणा और सद्विचार पूर्ण है। उससे आपके विस्तृत अध्ययन का पता भी लग जाता है। आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, एशियाटिक सोसाइटियों के जर्नल और प्राचीन ताम्रपत्रों तथा शिलालेखों का भी परिशीलन, न किया हो तो, कर डालिए। उससे आपके ऐतिहासिक ज्ञान की वृद्धि होगी। एक बात और। आप अपने संस्कृत भाषा-ज्ञान की भी उत्तरोत्तर वृद्धि करते जाइए। उससे अनेक लाभ होंगे।

राजपूताना, मालवा और बुंदेलखंड आदि ही में भारत की सच्ची इतिहास सामग्री भरी हुई है। उसका उद्धार आप कीजिए। संस्कृत व्याकरण में जब मैं यह उदाहरण देखता हूँ—"अरुणक्ष्यवनो माध्यमिकाम्"—तब यह जानने को जी चाहता है कि यह माध्यमिका कहाँ थी, कब थी, किस की राजधानी थी, उसकी क्या दशा हुई? आदि। इन बातों को खोज निकालना महत्त्व का काम है।

मैं अपने स्वास्थ्य का क्या हाल लिखूं? किसी तरह जीता हूँ पर जीता ही मुर्दा समझिए। भला हो इंडियन प्रेस का जिसकी वदौलत यहाँ इस दशा में भी पड़ा हूँ।

शुभानुध्यायी
म० प्र० द्विवेदी

पत्र सं० 5

दौलतपुर,
जिला रायबरेली,
12 मार्च, 1935

श्रीमान् कुँवर साहब,

शतायुर्भव। 3 मार्च की चिट्ठी मिली। नटनागर[4] की कापी भी मिली। सरसरी तौर पर पुस्तक की सैर मैंने कर ली। अच्छा संपादन हुआ है। बड़ी सुंदर छपी है।

भूमिका से मुझे आपके पूर्व-पुरुषों का भी हाल मालूम हो गया। कविता, विद्वत्ता, साहित्य-सेवा वंशपरंपरा से आपके यहाँ चली आती है।

जिस जमाने में इस पुस्तक की रचना हुई थी वह ज़माना ही और था। आजकल से उसकी तुलना नहीं हो सकती। शृंगारिक उक्तियों पर आजकल की दृष्टि से जो लोग आक्षेप करते हैं वे विवेक से काम नहीं लेते। नटनागर

---

[4]'नटनागर—विनोद' सीतामऊ के स्वर्गीय महाराज कुमार-रतनसिंह 'नटनागर' कृत, संशोधित संस्करण—पं० कृष्ण बिहारी मिश्र द्वारा संपादित, 1935। यह संस्करण भी अब समाप्त-प्राय है।

की कविता की चाशनी मैंने कई जगह से उठा-उठा कर चखी । मुझे तो इस पुस्तक के कितने ही अंश बहुत पसंद आए । मुझे बड़ा आनंद मिला । इसके इस कवित्त या घनाक्षरी ने––

कान्ह तिहारे तैं हमारो कुछ काम नाहीं,
कान्ह हमारो तो हमारो प्रान पास है ।

मुझे तो मोह लिया । बस मेरे इतने ही अक्षरों को आप बहुत समझें । अधिक लिखने की शक्ति मुझ में नहीं ।

मैं 72 वर्ष का हुआ । शरीर शिथिल है । हाथ पैर बहुत कम काम देते हैं । आँखों पर मोतिया बिंद ने चढ़ाई शुरू कर दी है । किसी तरह यातनाएँ भोगता हुआ जी रहा हूँ । आप लोग पुस्तकें भेजते हैं । रोज़ ही दो एक आती हैं । सब आपकी तरह सम्मति चाहते हैं । सैकड़ों राजे, महाराजे, धनाधीश हिंदी प्रेमी हो रहे हैं । पर कोई संमति माँगने वाले यह कभी नहीं पूछते कि तू कैसा है, किस तरह रहता है, क्या खाता-पिता है, कैसे जीता है ?

आशा है आप मेरे इस उलहने से बुरा न मानेंगे । सनक में आकर लिख मारा ।

कृपैषी
म० प्र० द्विवेदी

पत्र सं० 6

दौलतपुर (रायबरेली)
26 जून, 1938

शुभाशिषो विलसंतु भवत्सु,

21 जून का पत्र मिला । आपके स्नेह सूचक और सौहार्ददर्शक वचनों ने मुझे अत्यंत ही प्रभावित किया । 'मालवे'[5] की कापी भी मिली । मैं सच कहता हूँ, मुझे कभी यह आशा न थी कि मुझे जीते जी ऐसे ग्रंथ रत्न देखने का सौभाग्य प्राप्त होगा । मध्यकालीन भारत ही को मैं हिंदी साहित्य की एक निधि समझता था; मालवा तो उससे भी बढ़ा चढ़ा निकला । आपने न मालूम कितने ग्रंथों का मंथन करके यह नवनीत हिंदी को प्रदान किया है । भगवान् आपका कल्याण करे और ऐसे-ऐसे अनेक उपादेय ग्रंथों की सृष्टि करने का प्रेरक अपना वरद हस्त आप पर रक्खे ।

मैं बहुत वृद्ध हूँ । दृष्टि विशेष मंद हो रही है । अधिक नहीं लिख सकता । क्षम्यताम् ।

कृपाभिलाषी
म० प्र० द्विवेदी

पत्र सं० 7

दौलतपुर, रायबरेली
24 सितंबर, 1938

शुभाशिषो विलसंतु

19 सितंबर का कृपा पत्र कल शाम को मिला ।······कल्याणमस्तु ।

तीन महीने बाद आपने मेरे उस पत्र का जवाब दिया । ····आपके वात्सल्य-भाव से भरे हुए शब्दों ने मेरे हृदय पर बड़ा असर किया । मैं आपका अत्यंत कृतज्ञ हूँ । परमात्मा आपको चिरायुरारोग्य प्रदान करे ।

---

[5] "मालवा में युगांतरः पूर्वकाल (1698–1766)" मध्यभारत हिंदी साहित्य समिति, इंदौर; 1938 । अब अप्राप्य है ।

भैय्या, मेरी दशा दयनीय है। अवस्था मेरी आतुरों की जैसी हो रही है। चल फिर कम सकता हूँ। दिन में कई वार गश आ जाता है। दस-पाँच मिनट भी ध्यान पूर्वक पढ़ने या किसी वात का मनन करने से शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं और क्षणिक बेहोशी आ जाती है। इस दिशा में मैं आपकी सप्तदीप[6] पुस्तक पढ़ने में असमर्थ हूँ। और बिना पढ़े कुछ लिखना अन्याय होगा। अतएव आशा है कि आप मुझे क्षमा करेंगे।

परमात्मा से प्रार्थना है कि वह आपको चिरायु करे, आप के सुयश की वृद्धि करे और अपनी प्रेरणा से आप ऐसे ग्रंथों की रचना करावें जिनसे देश तथा समाज सबको यथेष्ट लाभ पहुँचे। बहुनाकिम्। अधिक लिखने की शक्ति नहीं।

शुभाकांक्षी
म० प्र० द्विवेदी

पत्र सं० 8

दौलतपुर (रायबरेली)
3–10–38

शुभाशिषः संतु

28 सितंबर का कृपा पत्र मिला।

आपने यों ही प्राचीन इतिहास का असाधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया है, फ़ारसी के पुराने ग्रंथों के आकलन से उसकी और भी वृद्धि हो जाएगी। आपकी ज्ञान-पिपासा प्रशंसनीय है। मैंने स्कूल में फ़ारसी पढ़ी थी मगर अब तो वह भूल-सी गई है। गुलिस्तां कुछ-कुछ याद है।

वैदिक, प्राकृत और संस्कृत-भाषा के प्राचीन ग्रंथों, दान पत्रों और शिला लेखों में पुराने इतिहास की सामग्री भरी पड़ी है। कुछ संस्कृत का अभ्यास कीजिए तो महाबीर न लिखकर आप महावीर लिखने लगेंगे।

शुभानुध्यायी
म० प्र० द्विवेदी

---

[6]सप्तदीप––(विविध लेख-संग्रह)––हिंदी ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई 4, 1938। यह प्रकाशन अब अप्राप्य है।

श्रीमान् माननीय द्विवेदीजी महा-
राज की सेवा में :—

कदाचित् आपको स्मरण होगा
कि जब मैं उदेपुर में था और
मेरी "प्राचीन लिपिमाला" का प्रथम
संस्करण बिक चुका था तब आपने
उसकी एक प्रति या प्रूफ तक
भेजने की आज्ञा दी थी. मेरे पास
कोई और प्रति न रहने से एक
खंडित प्रति जिसमें, मुझे स्मरण
है, अंत के दो लिपिपत्र घटते थे
आपकी सेवा में अर्पित की गई थी.
अब आपके आशीर्वाद से उसका
दूसरा परिवर्द्धित संस्करण छप चुका
है. उसकी एक प्रति आज की
डाक से आपकी सेवा में विनय-
पूर्वक भेट करता हूं उसे आप
कृपाकर स्वीकार कीजियेगा.

विनीत
गौरीशंकर हीराचंद ओझा

'साहित्यवाचस्पति' का पत्र-साहित्य

परमात्माशरण बंसल

अपनी कथा कहते मुझे संकोच भी बहुत होता है, उसमें कुछ तत्व भी तो नहीं। उससे कोई कुछ सीख भी तो नहीं सकता।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

पत्र लेखन साहित्य की एक कला है। यद्यपि साहित्यकार पत्र द्वारा अपनी व्यक्तिगत भावनाओं और विचारों को किसी विशेष व्यक्ति तक ही प्रदर्शित करता है परंतु जब पत्र प्रकाशित हो जाते हैं, तो वे साहित्य बनकर समष्टि का कल्याण करते हैं। साहित्यवाचस्पति आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का पत्र साहित्य इसी कोटि का है।

वास्तव में द्विवेदी जी अपने व्यक्तिगत संबंध में कुछ लिखना पसंद नहीं करते थे। अपनी संक्षिप्त आत्मकथा लिखते हुए पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी कितना संकोच अनुभव करते थे, उन्हीं के शब्दों में देखिए:—

"मैं क्या हूँ, यह तो प्रत्यक्ष ही है, परंतु मैं क्या था, इस बिषय का ज्ञान मेरे मित्रों और कृपालु हितैषियों को बहुत ही कम है। उन्होंने मुझे अनेक पत्र लिखे हैं, अनेक उलाहने दिए हैं। अनेक प्रणयानुरोध किए हैं, वे चाहते हैं कि मैं अपनी जीवन कथा अपने ही मुँह से कह डालूँ। पर पूर्णरूप से उनकी आज्ञा का पालन करने की शक्ति मुझ में नहीं। अपनी कथा कहते मुझे संकोच भी बहुत होता है। उसमें कुछ तत्त्व भी तो नहीं। उससे कोई कुछ सीख भी तो नहीं सकता। तथापि जिन सज्जनों ने मुझे अपना कृपा पात्र बना लिया है उनकी आज्ञा का उल्लंघन भी धृष्टता होगी।"

इसलिए आपके पत्रों का मूल्य और अधिक हो जाता है और आपके इन पत्रों से जीवन के अनेक पक्ष सामने आ जाते हैं, जो अन्यथा शायद स्पष्ट न हो पाते। आपके पत्र साहित्य को मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है (1) 1903 ई० से पूर्व, (2) 1903 ई० से 1920 ई० तक (सरस्वती संपादन), और (3) 1920 ई० के पश्चात। इन तीनों भाग में से 'सरस्वती' संपादन का समय विशेष उल्लेखनीय है।

स्थान के अभाव में यहाँ पर केवल उन ही पत्रों का संकलन किया गया है जो अधिक लंबे नहीं हैं, । उनका विशेष महत्त्व वाला स्थल ही दिया गया है। द्विवेदी जी सदैव मातृभाषा के प्रचार और प्रसार में लगे रहे, परंतु कभी-कभी उन्होंने अँग्रेज़ी में भी पत्र-व्यवहार किया है। यहाँ पर दोनों भाषाओं के पत्र एकत्र किए हैं। प्रायः ये सभी पत्र समय-समय पर 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित भी हो चुके हैं।

पंडित जी ने पं० श्रीधर पाठक जी को एक पत्र निम्न रूप में लिखा था :—

झाँसी,
15 फरवरी, 1896

प्रिय महोदय,

बहुत दिन से आपकी कौशलशालिनी लेखनी ने कोई नूतन ग्रंथ हिंदी साहित्य के कोश में नहीं स्थापन किया। आपका 'ऊजड़ ग्राम' और 'योगी' तो इतना ललित और स्वाभाविक है कि अनेक बार पढ़ने पर भी फिर-फिर पढ़ने को जी चाहा करता है। कहा भी है, 'क्षणं क्षणं यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।" कथानक अच्छा न होने से 'ऊजड़ ग्राम' उतना हृदयंगम नहीं जान पड़ता जितना 'एकांतवासी योगी' जान पड़ता है। फिर चाहे हमारी क्षुद्र बुद्धि ही का यह भ्रम हो। 'पथिक' की वक्रता ऐसी स्वाभाविक रीति से प्रति-बिंबित की गई है कि मूल से भी हमारी समझ में कहीं बढ़के है। हम तो इसे बहुधा पढ़ते हैं और अपने मित्रों से भी (जिनमें कई एक केनिंग कालिज के छात्र हैं) उसे पढ़ाकर सुनते हैं। इलियट का पैराडाइज़ लास्ट, इत्यादि और भी मनोहर काव्य अँग्रेज़ी में है। आप चाहेंगे तो उन्हें भी किसी विचित्र मीटर में अनुवाद करके अपूर्व रस का अस्वादन हम सबको सुलभ कर देंगे।

ईश्वर आपको स्वस्थ रखे और, और भी ऐसे काव्य लिखने की शक्ति देवे, यही उससे प्रार्थना है।

आपका
महावीरप्रसाद द्विवेदी

(2)

बाबू राधाकृष्णदास जी को एक पत्र लिखा था :—

झाँसी,
12 अगस्त, 1898

महोदय,

कार्ड आपका आया-उस कागज को कृपापूर्वक वापस कर दीजिए——आपको स्मरण होगा, हमने लिखा था कि इन पद्यों को देखिए और ठीक हों, तो सभा को सुनाइए——कर्त्ताधर्त्ता तो आप ही हैं यदि छपने के योग्य न थी तो कहिए तो सही कि फिर आपने सभा में उसे ले जाने और सुनाने का परिश्रम क्यों किया——क्या गलहस्त दिलाना ही आपको इष्ट था—ऐसा तो कदापि न होगा——आप स्वयं लौटा देते तो हमें बहुत संतोष होता——आप अपनी सभा के नियमों से बखूबी वाक़िफ़ हैं, फिर क्यों आपने ऐसा किया।

श्रीमदीय
महावीर

(3)

लाला सीताराम जी के कुछ संस्कृत ग्रंथों की आलोचना पर द्विवेदी जी ने तीव्र आलोचना की, इस पर लाला जी के आदमी ने द्विवेदी जी को अँग्रेज़ी में पत्र लिखा। उसका उत्तर द्विवेदी जी ने भी अँग्रेज़ी में ही दिया था। द्विवेदी जी 8-1-1900 को अपने पत्र में लिखते हैं :

I have no enmity with Lala Sita Ram, nor is there any misunderstanding between us, as you suppose I have certainly made no attacks on him; you are no doubt, mistaken in this respect. XX XX XX What I shall do is this. I have, in good faith and for the public, criticised his versions of Kalidass. And do you think it is sinful to criticise Lala Sita Ram's work ? XXX XXX XXXX I am glad your friend furnished you with my address and thus enabled you to unburden your heart to me. If you, however, ever forget my address, address me by name only and the postman will find me.

(4)

पं० सत्यनारायण कविरत्न को निम्न रूप में एक पत्र लिखा था :—

Jhansi
30th October, 1903

Dear Pt. Satya Narayan,

The frankness with which you have written your letter has immensely pleased me. If I have an occasion to come to Agra I shall ask you kindly to come to see me at G.I.P. Rly., Agra City Booking Office in Rawatpara. Your description of Hemant will appear in Saraswati either in December or January.

Yours sincerely,
Mahabir Prasad.

(5)

पं० श्रीधर पाठक जी को एक पत्र :—

कानपुर
29-4-06

प्रिय मित्र,

कृपा पत्र आया। उससे जान पड़ता है आप उर्दू मिश्रित हिंदी के विरोधी हैं। ....
सरस्वती में कुछ लेख जानबूझ कर उर्दू मिश्रित भाषा में लिखे जाते हैं। कारण यही है कि गवर्नमेंट इन प्रांतों की भाषा एक करना चाहती है। इसी से हिंदी और उर्दू रीडरों की भाषा एक रखी गई है। सरस्वती का प्रचार मदरसों में बहुत है। अतएव कोई-कोई लेख मदरसों के लड़कों और मुदर्रिसों ही के लाभ के लिए लिखे जाते हैं। ठेठ हिंदी या संस्कृत मिश्रित हिंदी का आदर करने वाले बहुत कम हैं। यदि सरस्वती के खर्च का भार उन पर ही छोड़ दिया जाए तो उसका निकलना ही बंद हो जाए।

विनयावनत
महावीर प्रसाद

(6)

पं० पद्मसिंह शर्मा जी को दो पत्र :—

कापुनर
17–6–1906

प्रिय पंडित जी,

प्रणाम,

कृपा पत्र मिला——————

वाह, क्या आप भी बहानेबाज़ी करने लगे? साफ इंकार लिखा कीजिए।

दो चार दिन में एक महीने के लिए अपने गाँव जाने का इरादा है। आम की फसल आ गई।

भवदीय
महावीर प्रसाद

(7)

कानपुर
21–8–06

प्रणाम,

आपकी कला की मृत्युवार्ता सुनकर रंज हुआ। बच्चों के इस तरह के चिर वियोग से तो शायद न होना ही अच्छा है पर क्या किया जाए। शोक चाहे कितना ही क्यों न हो धैर्य ही धरना पड़ता है।

आज्ञानुसार योगदर्शन की आलोचना करेंगे।

विनयावनत
महावीर

(8)

लोगों को लज्जित करने के लिए श्री आर० पी० ड्यूहर्स्ट को 6–3–1907 को पत्र लिखा :

"———————————हमारे देशबंधु अँग्रेज़ी जैसी क्लिष्ट भाषा लिखकर उसके साहित्य को तो गंदला करते हैं पर अपनी मातृभाषा में लिखने की चेष्टा नहीं करते। यह दुर्भाग्य की बात है। क्या ही अच्छा हो यदि आप मातृभाषा विषयक मनुष्य का कर्त्तव्य या इसी तरह के किसी और विषय पर हिंदी में एक लेख लिख कर इन लोगों को लज्जित करें। डाक्टर ग्रियर्सन से हमने प्रार्थना की थी, उन्होंने शालीनता-सूचक यह उत्तर दिया कि हिंदी में उनकी यथेष्ट गति नहीं। आशा है 'सरस्वती' में आपको जो त्रुटियाँ मिलें, उनकी सूचना देकर आप हमें अपना कृतज्ञताभाजन बनावेंगे। हम एक बहुत ही अल्पज्ञ जन हैं।

विनयावनत
महावीर प्रसाद द्विवेदी

(9)

अपनी पत्नी के वियोग में पं० पद्मसिंह शर्मा जी को पत्र लिखा :

दौलतपुर
13–7–1912

प्रणाम,

कार्ड मिला। क्या लिखूँ? यहाँ भी बुरा हाल है। पत्नी मेरी इस संसार से कूच कर गई। मैं चाहता हूँ कि मेरी भी जल्दी बारी आवे।

भवदीय
महावीर प्रसाद

(10)

राष्ट्रकवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त जी को लिखा था :

जूही, कानपुर।
17–2–1914

आशीष,

दक्षिण अफरीका, कनाडा और आस्ट्रेलिया में भारतीय प्रवासियों और निवासियों की जो दुर्दशा हो रही है, आप जानते ही हैं। उस विषय पर दो एक कविताएँ लिखिए । समय सूचकता बड़ा भारी गुण है । समयानुकूल कविता का बड़ा असर होता है।

भवदीय
म० प्र० द्विवेदी

(11)

श्री बदरीनाथ गीता-वाचस्पति को 21–11–1914 को एक पत्र लिखा :

'मेरी लोग निंदा करते हैं या स्तुति, इस पर मैं कभी हर्ष विषाद नहीं करता । आप भी न किया कीजिए । मार्ग भ्रष्ट कभी न कभी मार्ग पर आ ही जाते हैं। मेरा किसी से द्वेष नहीं, न लखनऊ के ही किसी सज्जन से न और ही किसी से । उम्र थोड़ी है । वह द्वेष और शत्रुभाव प्रदर्शन के लिए नहीं। मैं सिर्फ़ इतना करता हूँ कि जो हृदयगत भावों को नहीं समझते, उनसे दूर रहता हूँ।

(12)

बाबू कालीदास कपूर, एम० ए०, एल० टी० को एक पत्र लिखा था :

डाकखाना दौलतपुर (रायबरेली)
15–3–1918

महाशय,

पत्र मिला, धन्यवाद । मेरी वही राय है जो आपकी है । मैं तदनुसार बर्ताव भी करता हूँ। सरल लिखने की चेष्टा करता हूँ। उर्दू भिन्न भाषा नहीं, अरबी-फ़ारसी के जो शब्द प्रचलित हैं, उन्हें मैं हिंदी ही के शब्द समझता हूँ। मेरे लेख इस बात के प्रमाण हैं। पहले लोग लिखा करते थे, कहते थे कि यह हिंदी को बिगाड़ रहा है। पर अब नहीं बोलते और लोग भी सरस्वती का अनुकरण करने लगे हैं।

भवदीय
म० प्र० द्विवेदी

(13)

पं० लल्लीप्रसाद पांडेय जी को पत्र लिखा था :

दौलतपुर
5–6–1920

श्रीयुत पांडेजी को प्रणाम,

मैं जुलाई से बख्शी जी को मुस्तकिल कराना चाहता हूँ। अभी तक उन्होंने आपकी मदद से काम किया है। अब मैं उनकी स्वतंत्र कारगुजारी देखना चाहता हूँ । आप कृपा करके उन्हीं से अब सरस्वती

संपादक का सारा काम कराइए। जो कुछ पूछें वह बतला अवश्य दीजिए। देखूँ तो ये अकेले काम करा सकेंगे या नहीं। मेरे शरीर की बुरी दशा है। मैं अलग होना चाहता हूँ। अगर बड़े बाबूजी आज्ञा देंगे तो नाम अपना दिसंबर तक, सरस्वती पर रहने दूँगा। पर काम अब मैं इन्हीं से कराना चाहता हूँ। कापी मैं देखूँगा, प्रूफ़ भी।
पुनश्चः बड़े बाबू को सुना दीजिएगा।

भवदीय
म० प्र० द्विवेदी

(14)

हिंदी साहित्य संमेलन के सभापतित्व को स्वीकार न करते हुए 10–2–1921 को वे लिखते हैं :

"....मेरे सिवा किसी अन्य व्यक्ति के आसीन होने से सभापति के आसन का यथेष्ट गौरव न होगा–इत्यादि आपकी उक्तियाँ भ्रमजाल नहीं तो कौतूहलवर्द्धक अवश्य हैं। यदि मैं भूलता नहीं तो कलकत्ते में पहले भी संमेलन हो चुका है और उस संमेलन का अधिपति कोई और ही था पर न तो कलकत्ते में हिंदी प्रेमी निराश ही हुए, न हिंदी साहित्य की लाज ही गई और न बंगला के विद्वानों की दृष्टि से संमेलन के सभापति के पद का गौरव कम हुआ। अपनी इस धारणा के प्रतिकूल मुझे तो किसी का कोई लेख या किसी का कोई वक्तव्य, पढ़ने या सुनने को नहीं मिला। मुझे तो सब तरफ से सफलता ही सफलता के समाचार मिले। अतएव आप का भय निर्मूल जान पड़ता है।..........स्वागतकारिणी सभा खुशी से किसी अन्य व्यक्ति को सभापति वरण करे।

(15)

श्री रायकृष्णदास जी को एक पत्र लिखा था :

दौलतपुर, रायबरेली
21–1–1930

शुभाशिषः संतु,

बहुत दिनों के बाद आज आपका 18 जनवरी का पोस्टकार्ड मिला। आपने अपने एक पत्र में दिवाली तक मुझे रुपया भेजने को लिखा था। पर मैंने मना कर दिया था। मैं आपको लिखने वाला ही था। इतने में आपका कार्ड आ गया है। नए साल का आरंभ है। कुछ गैर मामूली खर्च आ रहे हैं। मेरे भानजे की बहू अपने मायके प्रयाग गई हुई है। उसको भी कुछ रुपया भेजना है। अतएव विशेष कष्ट न हो तो जो कुछ आप पुस्तकों के हिसाब में मुझे देना चाहते हों, उसका अद्धांश मुझे अभी भेज दीजिए। अवशिष्ट अद्धांश पुस्तकें छप जाने या मुझे उसकी जरूरत होने पर भेजिएगा।———

शुभाकांक्षी
म० प्र० द्विवेदी

(16)

पं० किशोरीदास बाजपेयी जी को 12–8–1933 को पत्र लिखा था, जिसका एक अनुच्छेद–इस प्रकार था।

'आपकी कौटुंबिक व्यवस्था से मिलता जुलता ही मेरा हाल है। अपना निंज का कोई नहीं है। दूर-दूर की चिड़ियाँ जमा हुई हैं। खूब चुगती हैं। पुरस्कार स्वरूप दिन रात पीड़ित किए रहती हैं।'

(17)

पं० देवीदत्त शुक्ल को एक पत्र लिखा था :

दौलतपुर
21-10-1938

नमस्कार,

बहुत समय हुआ, मैंने सरस्वती में स्तुति कुसुमांजलि पर एक या दो लेख लिखे थे। उन्हें देखकर काशी के प्रेमवल्लभ शास्त्री मुग्ध हो गए। उन्होंने समस्त पुस्तक का हिंदी भावार्थ लिखा—सान्वय। वह इंडियन प्रेस काशी में मूल समेत छप रहा है। अद्भुत पुस्तक है। शास्त्री जी अल्पवयस्क पर बड़े अच्छे कवि और पंडित हैं, गरीब हैं। माँग जाँच कर किसी तरह छपाई का खर्च दे रहे हैं। अभी देना बाकी है। पुस्तक की छपाई समाप्त प्राय है। जरा एक कापी मँगा कर देखिए, इंडियन प्रेस कापीराइट लेना चाहे तो थोड़े ही खर्च से मिल सकता है। जरा पूछिए, उत्तर दीजिए। मेरे पास के छपे हुए फार्म पं० मातादीन ले गए हैं।

आपका
म० प्र० द्विवेदी

(18)

पं० किशोरीदास वाजपेयी जी को 2-11-1938 को एक पत्र लिखा :

शुभाशिषः संतु

मैं कोई दो महीने से नरक यातनाएँ भोग रहा हूँ। पड़ा रहता हूँ। चल फिर कम सकता हूँ। दूर की चीज़ भी नहीं देख पड़तीं। लिखना पढ़ना प्रायः बंद है। जरा सी दलिया और शाक खा लेता था। अब वह कुछ हजम नहीं होता। तीन पाव के करीब दूध पीकर रहता हूँ——तीन दफे में। सूखी खुजली अलग तंग कर रही है। बहुत दवाएँ की नहीं जातीं।

शुभैषी
म० प्र० द्विवेदी

21 दिसंबर 1938 को प्रातःकाल पौने पाँच बजे इस अमर आत्मा ने नश्वर शरीर त्याग कर सदैव के लिए पत्र लिखने समाप्त कर दिए।

महाप्राण निराला का द्विवेदी जी के नाम लिखा एक दुर्लभ पत्र

"मतवाला" कार्य्यालय।

बालकृष्ण प्रेस,
२३, शंकरघोष लेन,

कलकत्ता, २१/१०/ १९२३

आचार्य के ऐतिहासिक पत्र

-लक्ष्मीशंकर व्यास

आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिंदी भाषा तथा साहित्य के अनन्य उन्नायक थे। खड़ी बोली में कविता के प्रबल समर्थक और प्रवर्तक आप ही थे। हिंदी भाषा में जो अराजकता और अनस्थिरता फैली हुई थी उसे व्यवस्थित एवं शुद्ध स्वरूप में प्रचलित करने के लिए 'सरस्वती' के माध्यम से आपने जो योगदान किया है, उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। आचार्य द्विवेदी जी न केवल तत्कालीन विद्वानों तथा हिंदी लेखन के दोषों की ही कड़ी आलोचना किया करते थे अपितु जिन पत्रों में लेखकों की उत्कृष्ट रचनाएँ प्रकाशित होती थीं उनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा भी किया करते थे। हिंदी पत्रकारिता के नए मानदंड स्थिर करने का ऐतिहासिक कार्य भी आपने किया है, आपका व्यक्तित्व एवं कृतित्व इतना महान है कि हिंदी साहित्य का एक अध्याय ही द्विवेदी-युग के नाम से विख्यात है। आचार्य द्विवेदी ने अपने जिन महान कार्यों से एक नवीन युग का प्रतिष्ठापन किया, उनमें बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक की दो घटनाएँ चिरस्मरणीय हैं।

इनमें नवंबर 1905 की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'भाषा और व्याकरण' ने हिंदी जगत् में भारी आंदोलन खड़ा कर दिया। इसमें आचार्य द्विवेदी जी ने हिंदी के प्रख्यात लेखकों की रचनाओं से व्याकरण संबंधी अनेक दोषों के उद्धरण देकर उनकी आलोचना की थी। तत्कालीन 'भारतमित्र' संपादक श्री बालमुकंद गुप्त की रचना का भी उक्त लेख में एक अवतरण था। इस लेख का बड़ी तीव्र भाषा में प्रतिवाद किया गया। 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक लेख के लेखक थे 'आत्माराम'। ये आत्माराम और कोई नहीं स्वयं श्री बालमुकंद गुप्त थे। इन लेखों का बहुत ही कड़ी भाषा में उत्तर दिया आचार्य पंडित गोविंदनारायण मिश्र ने। 'हिंदी बंगवासी' में प्रकाशित मिश्र जी के इन लेखों ने समस्त हिंदी जगत् का ध्यान आकृष्ट किया था। इन लेखों का परिणाम यह हुआ कि 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर साहित्यिक विवाद छिड़ गया। यह शब्द द्विवेदी जी ने अपने लेख में प्रयुक्त किया था। श्री बालमुकंद गुप्त ने 'आत्माराम' के कल्पित नाम से 'अनस्थिरता' शब्द को संस्कृत की दृष्टि से अशुद्ध मान कर उसके शुद्ध रूप 'अस्थिरता' पर बल दिया। उधर पंडित गोविंदनारायण मिश्र ने 'हिंदी बंगवासी' में अस्थिरता की शुद्धता स्थिर की। इस वाद-विवाद में देश भर के प्रायः सभी पत्रों में पक्ष-विपक्ष में लेख प्रकाशित हुए। हिंदी भाषा तथा साहित्य के अनेक विद्वान भी उस समय श्री बालमुकंद गुप्त का ही समर्थन कर रहे थे। ऐसे समय में पंडित गोविंदनारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक लेख-माला से आचार्य द्विवेदी जी के पक्ष का समर्थन किया। इस प्रत्यालोचना से गुप्त जी को अंत में चुप रहना पड़ा।

इस साहित्यिक वाद-विवाद के वाद भी श्री बालमुकंद गुप्त, आचार्य द्विवेदी जी के दर्शन करना चाहते थे, पर उनके पास जाने का साहस न करते थे। जीवन के अंतिम दिनों में कानपुर के प्रसिद्ध उर्दू पाक्षिक 'ज़माना' के संपादक मुंशी दयनारायण निगम के साथ वे आचार्य द्विवेदी जी के यहाँ जुही गए। निगम साहब ने द्विवेदी जी का जैसे ही परिचय कराया श्री बालमुकंद गुप्त न झट द्विवेदी जी के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया। द्विवेदी जी उन्हें पहिचानते न थे। झट उन्हें उठा कर हृदय से लगा लिया। तब श्री निगम ने बताया कि आप 'भारत मित्र' के संपादक श्री बालमुकंद गुप्त जी हैं। गुप्त जी ने अश्रुधारा बहाते हुए कहा—"मैं अपराधी हूँ और आपके सामने अपने उन अभद्रतापूर्ण व्यवहारों के लिए क्षमा माँगने और प्रायश्चित करने आया हूँ। आप विद्या में गुरू वृहस्पति, स्नेह में ज्येष्ठ भ्राता तथा करुणा में बुद्ध के सदृश हैं। अखबारनवीसी एक ऐसा कार्य जिसमें अपने कर्तव्यों का पालन करने में बहुधा ऐसी भूलें होती हैं। मैंने न्यायसंगत बातों का अनुचित रूप से उत्तर दिया है, जिसके लिए मैं हृदय से क्षमा चाहता हूँ।" आचार्य द्विवेदी जी गुप्त जी को हृदय से लगा चुके थे और उनकी वाणी सुन कर उनकी उदारता, सात्विकता और हृदय की शुद्धता पर मुग्ध हो गए।

हिंदी जगत के इसी आंदोलन के संबंध में आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जो पत्र पंडित गोविंद

नारायण मिश्र को लिखे थे उनसे तत्कालीन साहित्यिक गतिविधि पर भी प्रकाश पड़ता है। दो पत्र इस प्रकार हैं :—

जुही, कानपुर
4 मार्च, 1906

मधुषाधार सहकार-शिरोमणे,

[1]आपके प्रेमामृत-सिंचित पत्र को पाकर परमानंद हुआ। आपने अपने सौजन्य गुणग्राहकत्व, न्याय शीलत्व, भाषा प्रेम और विद्वत्व से हम को ही नहीं, जहाँ तक हम जानते हैं, सभी हिंदी के पाठकों को मोह लिया है। आपकी एक-एक युक्तियों को पढ़ कर तर्क-प्रणाली रूप आपके खरतर खड्ग की धारा को देख कर परोत्कर्षा सहिष्णु अज्ञ अहंमानी जनों पर आपकी चैंदी गदा के प्रहारों का प्रहार बार-बार स्मरण करके हमारी वह हालत हो रही है कि हमारा मन ही जानता है। वह स्वयंवेद्य है। कही नहीं जा सकती। हमें अफ़सोस इस बात का है कि आप जैसे महानुभाव महात्माओं से हम अभी तक अपरिचित रहे। हमने समझ लिया था कि हिंदी जानने वालों और हिंदी लिख सकने वालों में न्याय का नाश हो गया, पांडित्य डूब मरा, गुण ग्राहकता अस्त हो गई, लेखन शक्ति का उच्छेद हो गया, पर अंत में आपने हमारे इस नैराश्यपूर्ण भ्रम को दूर कर दिया—धन्योभवान् !

विनयावनत
महावीर

दूसरे पत्र में 'आत्माराम' के लेखों की चर्चा है और 'बंगवासी' के उन लेखों के प्रभाव का वर्णन है जिसे पंडित गोविंद नारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टें टें' के शीर्षक से लिखा—

दौलतपुर (रायबरेली)
13–3–06

·······आत्माराम के प्रभावों से हम खिन्न नहीं। हमारी खिन्नता का कारण लेखकों का मौनावलंबन है। हमने फरवरी की 'सरस्वती' में जो किया उसका कारण केवल यही है कि और लोग कुछ का कुछ न समझ जाएँ। 'हितवार्ता' में किसी समझदार महात्मा ने यह स्पष्ट कह दिया कि हमारे मौन का कारण, यही अनुमान किया जा सकता है कि हमारे पास कोई उत्तर नहीं। आपके लेख ने बड़ा काम किया। देहात तक में उसकी धूम है। यहाँ कई जगह 'बंगवासी' आता है। उसे बड़े चाव से पढ़ते हैं और आपके लेख की प्रशंसा करते हैं। जब नीरस और मूर्खप्राय ग्रामीणों की यह दशा है तो और की क्या कहना ? आपके लेख ने आपका उद्देश्य पूर्ण कर दिया। और हम क्या विनय करें——कृपा बनाए रखिए। अपने आशीर्वाद का पात्र हमें समझते रहिए——यही प्रार्थना है।

विनयावनत
महावीर

सन् 1907 में जब महामना पंडित मदनमोहन मालवीय ने 'अभ्युदय' निकाला तो हिंदी के सभी विद्वानों का सहयोग लिया। आचार्य द्विवेदी जी से उन्होंने लेखों का तो सहयोग माँगा ही, पत्र-पत्रिकाओं के लेखों के लिए पारिश्रमिक की व्यवस्था तथा स्वरूप पर भी विचार-विनिमय किया। यह पत्र आचार्य द्विवेदी के उन पत्रों के बंडलों से प्राप्त हुआ है जिसके विषय में आचार्य किशोरीदास वाजपेयी को एक बार आंदोलन चलाना पड़ा था। महामना द्वारा आचार्य द्विवेदी को लिखे गए इस पत्र का पत्रकारिता के मानदंड तथा उच्च स्तर को बनाए रखने में ऐतिहासिक महत्त्व है। 26 फरवरी, 1907 को जो पत्र आचार्य द्विवेदी जी को महामना ने लिखा था, उसमें 'अभ्युदय' के प्रकाशन के उद्देश्य और आवश्यकता पर तो प्रकाश डाला ही गया है, तत्कालीन लेखकों को पारिश्रमिक देने तथा उसके आधार की भी चर्चा की गई। भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में इस पत्र का ऐतिहासिक महत्त्व स्पष्ट है।

---

[1] गोविंद निबंधावली, भूमिका।

श्री:

प्रयाग.
२६.२.०७.

प्रिय महावीर प्रसाद जी

प्रणाम. आपके दोनों कृपा पत्र और दो लेख एक आपका दूसरा डा. किशोरीलाल गुप्त का पहुंचा। मैं अब तक स्वीकार पत्र नहीं लिख सका. इस को क्षमा कीजियेगा। मैंने पहिला पत्र अपने हाथ से नहीं लिखा. इसको भी क्षमा कीजिये. कार्य बाहुल्य और क्रम-पूर्वक काम न करने के दुरभ्यास के कारण मुझ को प्राय: अपने अति सम्मानित मित्रों को भी दूसरे के हाथ से लिखा कर पत्र भेजना पड़ता है किन्तु जैसा अनुग्रह आप तथा और सम्मानित मित्र मुझ पर रखते हैं और मेरे हार्दिक भाव को जानकर मुझ को क्षमा कर देते हैं. इस से मैं इस प्रकार से काम चलाने को पत्र लिखवा कर भेज देता हूं। मैं आशा करता हूं कि आप इस से वस्तुतः यह कभी न ख्याल करेंगे कि मैं ऐसा मूर्ख या संकुचित हृदय हूं कि आप के गुणों का उचित आदर नहीं करता आपने मेरे ऐसे पत्र पर भी कृपाकर तुरंत आर्थिक सहायता देना स्वीकार किया इस के लिये मैं हृदय से धन्यवाद करता हूं। यह प्रार्थना है कि जहां तक संभव हो आप प्रति सप्ताह एक लेख अभ्युदय के लिये भेजिये। मैं आशा करता हूं कि आप इस को स्वीकार करेंगे।

हिन्दी भाषा में इस प्रान्त में एक ऐसा प्रतिष्ठित साप्ताहिक पत्र स्थापन करने की चिरकाल से आवश्यकता चली आती है जिस में विद्वान विचारवान अनुभव संपन्न देशहितैषी सज्जनों के लेख छपें. और जिस में लिखने का ऐसे सज्जनों को उत्साह हो। ऐसे पत्र का बनाना आपको भी उतना ही इष्ट और प्रिय होगा जितना मुझ को है। किंतु इस कार्य में वस्तुतः जितनी सहायता आप कर सकते हैं उतनी मैं नहीं कर सकता। मैंने बहुत से और कामों की चिन्ता और बोझ होने पर भी साहस करके पत्र को जारी कर दिया है। इस को देशहित के लिये काम में लाना और जारी रहने के योग्य करना आप तथा अन्य देशहितैषी मित्रों का कर्तव्य है। और यह आप ही लोगों की सहायता पर निर्भर है।

यद्यपि अभी यह साहस और अनावश्यक साहस मालूम होगा तथापि मेरी यह इच्छा है कि मैं 'अभ्युदय' में लेखकों को कुछ भेंट करने का क्रम जारी करूं। ऐसे लेखक अभी बहुत कम हैं जिनके लेखों के लिये कुछ भेंट करना मुनासिब होगा। और पत्र की वर्तमान अवस्था में कुछ देने के योग्य भेंट करना कठिन भी होगा। किन्तु 'अल्पारम्भाः क्षेमकराः' इस न्याय से मैं चाहता हूं कि उन लेखों के लिये जो आपके 'वैदिक काल की स्त्रियाँ' के समान आदर सहित पत्र में छापे जायं, कुछ पत्र पुष्प अर्पण किया जाय। कृपा कर इस विषय में अपनी संमति लिखिये। मेरा विचार है कि अभी २) रुपया कालम से प्रारंभ किया जाय और ज्यों २ पत्र की अर्थसंबंधी अवस्था अच्छी होती जाय त्यों २ भेंट की रकम बढ़ाई जाय। इससे किसी योग्य मित्र को कुछ व्याख्यान करने के लायक प्राप्ति तो होगी नहीं, किन्तु इससे एक ऐसा क्रम प्रारंभ हो जायगा कि जिससे जो मित्र पत्र के बनाने और बढ़ाने में सहायक होंगे वे आगे चलकर देश हित और मातृभाषा के हित साधन के संतोष के अतिरिक्त, पत्र के लाभ से कुछ आर्थिक लाभ उठाने का भी संतोष अनुभव करेंगे। मुझे आशा और विश्वास है कि यदि आप तथा दो तीन और मित्र जिनको मैं लिख रहा हूं, पत्र को पूरी सहायता देंगे तो अचिर काल में इसके आठ दस हज़ार ग्राहक हो जावेंगे।

विशेष आपको लिखना आवश्यक नहीं। मैं आशा और विश्वास करता हूं कि जिस भाव से मैं इस पत्र को लिख रहा हूं उसी भाव से आप इसको विचारेंगे। और प्रति सप्ताह एक दो लेख से सहायता करेंगे।

मैंने विधवा विवाह का भाग इसलिये निकाल दिया था कि उसमें आपका मत नहीं प्रकाशित था और उससे लेख सर्वजन प्रिय न रहता। मैं आशा करता हूं आप उससे अप्रसन्न न हुवे होंगे।

बा. मिश्रीलाल के लेख के विषय में कल लिखूंगा।

भवदीय

मदन मोहन मालवीयः

आचार्य द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' का प्रत्येक अंक एक सर्वांगपूर्ण चित्र होता था और संपादक के व्यक्तित्व की घोषणा करता था। 'सरस्वती' के संपादन के सिलसिले में उन्होंने हिंदी के होनहार साहित्यकारों की पहिचान की और उनको उत्साह-प्रदान किया। आज हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारों में अधिक ऐसे हैं जिन्हें द्विवेदी जी से लिखने का प्रोत्साहन तथा पथ-प्रदर्शन मिला था। आचार्य द्विवेदी जी हिंदी संपादकों तथा साहित्यकारों की कटु आलोचना ही नहीं, उनके गुणों तथा विशेषताओं का भी समादर करते थे। हिंदी में सहज, सरल और बोधगम्य भाषा-शैली के वे समर्थक थे। समय-समय पर संपादकों तथा लेखकों को पत्र लिख कर वे सदा उत्साहित किया करते थे। जिस पत्र के लेख आपको पसंद आते तो उसके लेखक अथवा संपादक को तत्काल पत्र भेज कर उसकी प्रशंसा करते थे। ऐसे अनेक पत्र 'आज' के प्रधान-संपादक संपादकाचार्य पंडित बाबूराम विष्णु पराड़कर को आपने लिखे थे। ऐसा ही एक पत्र आपने दौलतपुर (रायबरेली) से 18 दिसंबर, सन् 1927 को लिखा था[1]।

नमस्कार,

विनय या विनती विशेष यह है कि आज मैंने 'एक रथ के दो चक्र' नामक लेख पढ़ा कर सुना। इसके पहिले भी इस तरह के कई लेख मैंने सुने। आपकी सहृदयता, न्यायशीलता और तर्कपद्धति पर मैं मुग्ध हो गया। आप धन्य हो। जिन बातों ने 'आज' कोई 30–35 वर्षों से मेरे हृदय में घर कर रखा था, उनको ही मानों आपने वहाँ से निकाल कर स्वयं प्रकट कर दिया। आपने अनुभव-सिद्ध सी बातें लिख दी हैं। आपके विचार मुझे तो बिल्कुल ही सच मालूम हुए। दीर्घयुर्भूयाः—सुख सौभाग्यवृद्धिस्ते भूपादीका प्रसादतः

अनुगत
म० प्र० द्विवेदी

न केवल 'सरस्वती' के संपादन काल में अपितु जीवन भर आचार्य द्विवेदी जी हिंदी भाषा और साहित्य की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहे और अपने अमूल्य सुझावों, सत्परामर्शों तथा निर्देशों से राष्ट्रभाषा हिंदी की श्रीवृद्धि में ऐतिहासिक योगदान करते रहे। उपर्युक्त कतिपय पत्र इस सत्य की साक्षी है।●

---

[1] पराड़कर और पत्रकारिता : पत्रकारिता खंड।

पत्रोत्तर का कष्ट न उठाइये।

प्रताप-कार्यालय २२
कानपुर
३१.१२.२४

म० द्वि० २/१/२५

पूज्य द्विवेदीजी,

सादर प्रणाम।

आपकी कृपाओं के लिये कृतज्ञ हूँ। आपके दर्शन करने के पश्चात् अब मैंने सदा के लिये अपनी उस आदत को छोड़ दिया है जिसके कारण मैं दूसरों के विषय में, बिना उन्हें जाने, अपने विचार स्थिर कर लिया करता था। First impressions कितने धोखे वाले होते हैं इसका प्रमाण मुझे अपने जीवन की ३३वीं वर्ष में मिला है।

आपके सत्संग से जो शिक्षायें मैंने ग्रहण की हैं उन्हें मैं अपने जीवन में चरितार्थ करने का प्रयत्न करूँगा।

मारीशस से लौटने पर पुनः आपके दर्शनार्थ उपस्थित होऊँगा और १५ दिवस आपकी सेवा में रह कर आपके जीवन के अनुभव लिखूँगा। आप जुही में उस समय होंगे तो वहाँ आऊँगा अन्यथा दौलतपुर में ही हाजिर रहूँगा। उसकी प्रतीक्षा उत्कंठा से करूँगा।

आपके उदारतापूर्ण स्वभाव के कारण मुझे अपनी क्षुद्रता पर लज्जित होना पड़ा है। आपकी सहृदयता पर मुग्ध हूँ।

कृपाकांक्षी
बनारसीदास चतुर्वेदी

विविध विषय
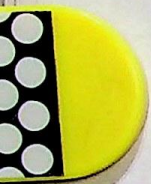
साहित्याकाश का ध्रुवतारा :

रमेश साबद्रा 'भारती'

आचार्य श्री एक कुशल संयोजक, मागदर्शक नेता, कर्मठ साहित्य सेवी के रूप में हमारे संमुख आते हैं। 'योजकः तत्र दुर्लभः' की उक्ति आप जैसे व्यक्तियों पर सर्वतोभावेन चरितार्थ होती है। हिंदी भाषा के परिष्कृत स्वरूप के प्रसारक, प्रचारक, एवं प्रेरक के रूप में आपके कार्य का स्वरूप देख पड़ता है। और यही कारण है कि उनकी साहित्य सेवा का काल—1907 ईसवी से 1921 ईसवी तक—'द्विवेदी युग' नाम से हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रख्यात हो गया। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, डा० गोपालशरण सिंह, पं० अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध', श्रीधर पाठक, 'सनेही', पूर्ण, शंकर, सत्यनारायण कविरत्न आदि कतिपय कवि तथा गद्यकारों ने विषय, छंद प्रयोग और भाषा की शुद्धता एवं सफ़ाई आदि की दृष्टि से प्रेरणा ग्रहण की और युगानुकूल रचना की। इस तरह हम आचार्य श्री को युगद्रष्टा और युग को मोड़ देने में अत्यंत सक्षम संयोजक नेता कह सकते हैं।

आपने निःवार्थ भाव से 1903 ईसवी में 'सरस्वती' का संपादन कार्य सँभाला, जिसे सतत जागरूक रहकर सत्रह वर्ष तक 1920 ईसवी तक सुचारुरूपेण निभाया और बाद में अवकाश ग्रहण किया। 'सरस्वती' का संपादन आपके लिए जीविका का साधन नहीं था। बल्कि आपका हेतु पाठकों और लेखकों को समान रूप से लाभांन्वित करने की भावना से ओत-प्रोत था और इसीलिए द्विवेदी जी को बड़े से बड़े लेखक की भाषागत ग़लतियों का सुधार करने में किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं होती थी। क्योंकि यही तो आपको वांछनीय था। फिर भी आपका हेतु शुद्ध और प्रामाणिक होने से कटुता की भावना नहीं फैल पाती थी। आपका ध्येय ही परिकृष्त, मर्यादा सपन्न, सुसंस्कृत, सुरुचि संपन्न हिंदी का प्रचार एवं प्रसार था। इस प्रकार आपने हिंदी सेवियों के संमुख एक उच्च आदर्श की स्थापना की। उच्च अभिरुचि संपन्न साहित्यिक आपका लोहा मानते थे। क्योंकि आपने किसी की भी परवाह न करते हुए अपरिपक्व हिंदी गद्य की दुरावस्था को दृढ़ता और धैर्य, परिश्रम और लगन, निदिध्यास और आदेश, निर्देश और उपदेश द्वारा मिटाने का कठिन कार्य किया। भारतेंदुकालीन हिंदी को एक व्यवस्था दी, मर्यादा दी, 'विधि विडंबना' में द्विवेदी जी लिखते हैं :—

> 'शुद्धा शुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार,
> लिखवाता है उनके कर से नए-नए अखबार।
> —द्विवेदी काव्य माला, पृ० 291.
> विधाता के प्रति उपर्युक्त निर्देश हिंदी-हितैषिता एवं—
> एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे, लोकेच,
> काम धुग् भवति
> उच्चतम वैयाकरणीय आदर्शका सम्यक् द्योतक है।

द्विवेदी जी संपादित 'सरस्वती' इस बात की साक्षी है कि द्विवेदी जी में काव्य-संशोधन वृत्ति मात्र पर-छिद्रांन्वेषी ही नहीं है बल्कि वे स्वयं सरसता के पक्ष पाती थे। गोपालशरण सिंह की—

> 'मधुप पंक्ति नित पुष्पधारा में बहती
> या वह अति अनुरक्त बौर पर भी है रहती।'

इन मूल पंक्तियों का सुधार आपने यों किया—

मधुप पंक्ति यों पुष्प रस में नित बहती,
आम्र मंजरी पर क्या वह अनुरक्त न रहती ?

('माता की महिमा', 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ, 1914 ईसवी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित)

'आम्र मंजरी', 'पुष्प रस' शब्दों में अवश्य ही मूल की अपेक्षा अधिक सरसता का बोधन होता है।

द्विवेदी जी की प्रेरणा और उनके प्रोत्साहन से ही कतिपय कवि प्रकाश में आए। उनकी 'सरस्वती' के माध्यम से ही 'सरस्वती' के ये वरद पुत्र अपनी प्रतिभा का विकास विलसित करने में समर्थ हुए। द्विवेदी जी ने ही वाणी और विचार के दो माध्यमों—'गद्य' और 'पद्य' की रूपगत-भाषागत विषमता को मिटा कर दोनों के लिए राष्ट्रभाषा खड़ी बोली को सिंहासनाधिष्ठित करना उचित समझा। यह उन्हीं के जैसे कर्मठ हिंदी सेवी के बस की बात थी। उन्होंने कविता को परंपरागत ब्रज के कुंजों से मुक्त कर खड़ी बोली के नए उद्यान में साँस लेने के लिए प्रेरित किया। यही नहीं उन्होंने घोषणा की—

'गद्य और पद्य दोनों ही में कविता हो सकती है।'

—'कवि कर्तव्य,' 'सरस्वती' 1901 ईसवी, पृ० 232.

निश्चित ही हिंदी साहित्य के इतिहास में यह सर्वप्रथम क्रांतिकारी घोषणा थी। द्विवेदी जी ने नाट्य साहित्य को भी व्यवस्था प्रदान करने के हेतु सुधी पाठकों, दर्शकों, समालोचकों एवं नाट्य-रचनाकारों को 'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ का प्रणयन कर आलोक दिया। संपत्ति शास्त्र, शिक्षा, स्वाधीनता जैसे साहित्येतर विषयों पर भी अपनी लेखनी चलाकर हिंदी-भाषा के साहित्येतर स्वरूपों की भी पूर्ति की। उनकी भाषा का स्वरूप सीधा-सादा एवं विषयानुकूल, सहज बोधगम्य होता था। अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों का बड़ी ही सहजता से वे अपनी भाषा में खपाकर प्रयोग किया करते थे। भाषा संप्रेषणीय रहे इसका बड़ा ध्यान आप रखते थे। मातृभाषा के प्रति प्यार यह तो उनका स्थायी भाव था। मातृभाषा द्रोहियों के प्रति आपकी भावना यों व्यक्त हुई है :—

'विधे ! मनोज्ञ मातृभाषा के द्रोही पुरुष बनाना छोड़।

—द्विवेदी काव्य माला—पृ० 291.

आचार्य श्री के कमरे में अनेक शस्त्रों के साथ एक फरसा टँगा रहता था। उसे देखकर संभवतः पं० वेंकटेश नारायण तिवारी ने उन्हें 'वाक्यशूर परशुराम' कहा था।

—'सरस्वती', भाग 40, सं० 2, पृ० 215.

सही माने में वे भाषा के अनाड़ी क्षत्रियों के परशुराम ही थे। अपनी लेखनी के फरसे से आजीवन वे भाषागत अव्यवस्था का सफ़ाया करते रहे। यह उन्हीं के फरसे का महदुपकार है कि हमें आज राष्ट्रभाषा के रूप में स्वच्छ, निर्मल हिंदी देखने को मिल रही है। जब तक भाषा की शुद्धता की आवश्यकता रहेगी तब तक आचार्य श्री का नाम अवश्य ही याद किया जाएगा।

कतिपय प्रसिद्ध लेखकों की लेखनी पर अंकुश रखते हुए वे कभी निरंकुश नहीं हुए ! वे बड़े सत्यप्रिय एवं न्याय-निष्ठ थे। खुद की आलोचना पढ़कर भी आपकी सत्यप्रियता में कमी न आई और न ही न्याय बुद्धि विचलित हुई। उनका आचरण सदैव 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत' को चरितार्थ करता रहा। जब वैयाकरण, कामता प्रसाद गुरू ने उनके, 'राजे', 'योद्धे', 'जुदा जुदा नियम', 'हजारहा' आदि चिंत्य प्रयोगों की चर्चा की तब उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया—

'आप मेरे जिन प्रयोगों को अशुद्ध समझते हैं उनकी स्वतंत्रता से समालोचना कर सकते हैं।

'सरस्वती', भाग 40, सं० 2, पृ 134-35।

द्विवेदी जी का आत्मविश्वास भी देखने लायक चीज़ है। जब श्री सूर्यनारायण जी ने उनकी जीवनी लिखकर संशोधन के लिए आपके पास भेजी तो आपने कतिपय सुधार किए। निम्न सुधार से आपके आत्मविश्वास का पता चलता है।

'विद्याविषयक वाद-विवाद में भी द्विवेदी जी की बराबरी शायद ही कोई और हिंदी लेखक कर सकें। हिंदी पत्रों के पाठक इस बात को भली भाँति जानते हैं।'

—द्विवेदी जी के पत्र, बंडल उच, काशी नागरी प्रचारिणी सभा का कार्यालय।

द्विवेदी जी अकर्मण्यता के कट्टर शत्रु थे। यही कारण था कि :—

'अजगर-करे न चाकरी, पंछी करे न काम,
दास मलूका कह गए सबके दाता राम।'

इस आलसियों के मूलमंत्र के अनुसार शिथिल आचरण वाले को उनसे कड़ी फटकार सुननी पड़ती थी।

आचार्य द्विवेदी जी जीवन की भाँति मानस-सृष्टि साहित्य में भी 'आदर्श' और 'सत्य' के उपासक थे। जरा भी स्खलन उन्हें कतई अच्छा नहीं लगता था। द्विवेदी जी की सत्यप्रियता एवं असत्य के प्रति विरुचि यों व्यक्त हुई है :—

'नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं
सींग क्यों नहीं उनके सिर पर बड़े-बड़े उग आते हैं।'

—द्विवेदी काव्य माला—पृ० 290

द्विवेदी जैसे उदात्तचेता मनुष्य का 'सत्' के प्रति आकर्षण सर्वथैव स्वाभाविक था। वे साहित्य में उदात्त, विशाल, कल्याणदायी मंगल भावों और विचारों का प्राबल्य देखना चाहते थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से उद्घोषणा की—

'साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि को तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जाएँ और आत्म गौरव की उद्भावना हो।'

—हिंदी साहित्य संमेलन के 13वें अधिवेशन के अवसर पर स्वगताध्यक्ष पद से द्विवेदी जी द्वारा दिए गए भाषण के पृ० 32 के आधार पर।

द्विवेदी जी के कारण ही उस काल के कवियों का आदर्श राष्ट्रीयता से ओतप्रोत रहा। राष्ट्रीय जागरण के राजपथ पर चलने के लिए हिंदी उठ खड़ी हुई और समाज को राष्ट्रभवन की नींव समझ कर समाज की दुर्बलता पर चिकित्सक की निर्मम दृष्टि डालने में समर्थ हुई। सुधार की इसी भावना ने अनेक कवियों को लेखनी चलाने के लिए प्रेरणा प्रदान की। आचार्य श्री ने कवियों को अपना क्षेत्र और बढ़ाने की प्रेरणा दी—

'चींटी से लेकर हाथी पर्यंत, पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यंत, मनुष्य, बिंदु से लेकर समुद्र पर्यंत' जल, अनंत आकाश, अनंत पृथ्वी, सभी पर कविता हो सकती है।'

—'कवि कर्तव्य'

इस प्रकार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के अनेक रूप हिंदी भाषा की नाना प्रकार से सेवा करने में तन-मन-धन और लगन के साथ जुटे हुए दीख पड़ते हैं। लेखक, भाषा शिक्षक, संपादक, हिंदी-भाषा-प्रचारक, गद्य और पद्य की भाषा के परिष्कारक, निबंधकार, आलोचक, कवि, शिक्षक आदि अनेक स्वरूपों में हम इस अनेक विध कार्य पंखुड़ियों से युक्त महापुष्प के सौरभ को राष्ट्रभाषा के विशाल उद्यान में आज भी महकता हुआ, प्रेरक एवं उत्साहवर्धक शक्ति के रूप में अनुभव कर सकते हैं। आचार्य श्री को हम इतस्ततः अव्यवस्थित हिंदी के उद्यान की सुचारु व्यवस्था लगाने वाला कुशल माली भी कह सकते हैं। जंगली उपवन का मनचाहा विस्तार कितना ही क्यों न हो पर सुव्यवस्थित रमणीय उद्यान का प्रभाव सुसंस्कृत सभ्य नागरजनों पर कुछ और ही जमता है। और यही कार्य आचार्य द्विवेदी जी ने नागरजनों के लिए हिंदी का परिष्कार करके किया।

आचार्य श्री को हम हिंदी साहित्याकाश के नक्षत्र मंडल का पथ प्रदर्शक ध्रुवतारा कह सकते हैं, जिसने अनेक भूले-भटके पथिकों को निश्चित दिशाएँ प्रदान कीं। जो सेवा अकेले द्विवेदी जी ने मार्गदर्शक के रूप में की है उसी का शुभ परिणाम है कि हिंदी आज बहुत ही साफ़-सुथरे एवं स्वच्छ स्वरूप में राष्ट्रभाषा के गौरवास्पद सिंहासन पर बैठ कर इतर भाषा बहनों का मार्गदर्शन करने में सक्षम सिद्ध हुई है। ●

आचार्य द्विवेदी तथा हिंदी नाटक

--कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह

भारतेंदु के बाद हिंदी भाषा और साहित्य का जो दूसरा उत्थान हुआ उसके प्रमुख प्रेरणा-केंद्र पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। इसीलिए साधारणतया यह युग 'द्विवेदी-युग' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस दूसरे उत्थान में काव्य,उपन्यास, कहानी,निबंध तथा समालोचना आदि साहित्यांगों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही, पर नाटक की प्रगति अवरुद्ध होती हुई दिखाई पड़ी। भारतेंदु-युग के लेखकों का जो अभूतपूर्व उत्साह बहुसंख्यक नाटकों के प्रणयन का कारण बना था, वह इस युग में आकर मंद पड़ गया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि भारतेंदु के पीछे नाटक की ओर प्रवृत्ति कम हो गई। नाम लेने योग्य अच्छे मौलिक नाटक बहुत दिनों तक न दिखाई पड़े। अनुवादों की परंपरा अलबत्ता चलती रही।[1] वस्तुतः भारतेंदु जी का समय हिंदी नाटकों का स्वर्णयुग कहा जा सकता है, और उनके बाद ही नाटकों के क्षेत्र में जो ह्रासोन्मुखता दिखाई पड़ी थी, उससे उस समय के विद्वानों और लेखकों को मार्मिक कष्ट हुआ था। 'चौपट चपेट' नामक प्रहसन में उपलब्ध किशोरीलाल गोस्वामी का कथन इसका प्रमाण है:—

"हिंदी के अभाग्यवश जब से भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी परलोक सिधारे हैं, तब से साहित्य की बड़ी दुर्दशा हो रही है। गद्य की तो जो हुई है सो हुई है, पर पद्य की दशा ऐसी भयानक हो रही है कि देखते ही शरीर काँप उठता है। बहुत से मूर्खाधिराज कविता का श्राद्ध करने पर उतारू भये हैं, अस्तु। और नाटक- विद्या को तो कदाचित् बाबू साहब अपने संग ही ले गए हों, उनके पीछे दो-एक रूपक कि जिनसे घंटा भर जी लगे, छोड़के और आज तक कोई नाटक नहीं बना जिससे हिंदी भाषा की पुष्टि होय, यह अभाग्य नहीं तो क्या ?"

इसी प्रकार रामकृष्ण वर्मा ने भी अपने 'कृष्णकुमारी नाटक' में भारतेंदु के पीछे नाटकों की हीनावस्था पर खेद-प्रकाश किया है :—

"......जब से श्रीयुत भारतभूषण भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने और विद्याशिरोमणि लाला श्रीनिवासदास जी ने इस भारतवर्ष को छोड़ कर स्वर्ग को भूषित किया तब से अभागिनी हिंदी में कोई भी नाटक, उपन्यास अथवा कोई अपूर्व मनोहर ग्रंथ देखने में न आया। नाटकों की जैसी कुछ दुर्दशा इन दिनों है, वह केवल वे ही लोग जान सकते हैं जो नाटक के गुण-दोष और लक्षणों से अभिज्ञ है। इन दिनों यह परिपाटी पड़ गई है कि दो-तीन पुरुषों की बातचीत अथवा रंगभूमि पर व्यर्थ ही हाथ-पैर हिलाने को लोग नाटक कह देते हैं। स्वर्गवासी बाबू हरिश्चंद्र जी ने इन दोषों को दूर करने और लोगों को नाटक के लक्षण तथा लाभ समझाने के लिए "नाटक" नामक एक उत्तम ग्रंथ लिखा था परंतु आलसी लोग उसे कब देखते हैं......"

---

[1]—आचार्य रामचंद्र शुक्ल कृत हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 493।

भारतेंदु-युग की तुलना में द्विवेदी-युग के आरंभ में नाटकों के प्रति लेखकों का जो उपेक्षा-भाव दिखाई पड़ा, उसी का यह परिणाम है कि हिंदी-नाटक-साहित्य के इतिहास अथवा विकास पर लिखने वाले प्राय: सभी लेखकों ने उसको निर्महत्व समझकर उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं स्वीकार की है। बाबू ब्रजरत्नदास ने लिखा है कि "भारतेंदु जी तथा उनके मंडल के अस्त होने पर हिंदी साहित्य प्रेमियों ने नाटकों की ओर अपनी कृपादृष्टि एकदम कुछ दिनों के लिए बंद कर ली।"[2] इसीलिए संभवत: उन्होंने अपने हिंदी-नाट्य-साहित्य में भारतेंदु काल के नाटकों का स्वतंत्र-रूप से विवरण देने के बाद वर्तमान काल का विवेचन प्रारंभ कर दिया है, और नाटकों की दृष्टि से द्विवेदी युग का स्वतंत्र अस्तित्व और महत्व स्वीकार नहीं किया है। इसी प्रकार डा० सोमनाथ गुप्त ने भी "हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास" नामक ग्रंथ में 1904 ई० से 1915 ई० तक के समय को जो पूर्णरूप से द्विवेदी जी का ही युग है, संधि-काल की संज्ञा प्रदान की है। आश्चर्य है कि गुलाबराय जी ने भी इसी प्रकार संधिकाल कहकर द्विवेदी युग की उपेक्षा की है।[3] अन्य लेखकों में भी नाटकों के उत्कर्ष की दृष्टि से द्विवेदी युग के संबंध में ऐसी ही धारणा पाई जाती है। पर हिंदी नाटक साहित्य के इतिहास में द्विवेदी युग के प्रति इस प्रकार के दुर्लक्ष्य या उपेक्षाभाव को प्रश्रय देना समीचीन नहीं है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतेंदु-युग में जितने नाटक लिखे गए संभवत: उसके आधे भी द्विवेदी युग में नहीं लिखे गए। यह भी सत्य है कि युग-धर्म और अपने युग की सभी समस्याओं को नाटकीयता प्रदान करने का जो अदम्य उत्साह भारतेंदु युग के लेखकों में दिखाई पड़ा था उसके दर्शन हमें द्विवेदी युग के लेखकों में नहीं होते। हिंदी नाटक और रंगमंच के उत्थान और निर्माण के लिए भारतेंदु जी ने ऐतिहासिक महत्व का जैसा कार्य किया, वैसा द्विवेदी जी नहीं कर सके। फिर भी द्विवेदी जी ने नाटक की नितांत उपेक्षा की, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। उन्होंने "नाट्य-शास्त्र" नामक पुस्तिका इस विषय के संस्कृत, अँग्रेज़ी, मराठी और हिंदी के उस समय के सब उपलब्ध ग्रंथ पढ़कर लिखी है। इस पुस्तिका को पढ़कर यह प्रकट होता है कि आचार्य द्विवेदी जी को अपने समय में नाटकों को देखकर बड़ा दु:ख हुआ था[4] और वे अभीष्ट दिशा में उनका अधिक से अधिक उत्कर्ष-साधन करना चाहते थे। पर नाट्यशास्त्र के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक ज्ञान से विहीन जो अनधिकारी लेखक अपनी लेखनी की कालिख नाटक-साहित्य के मुख पर पोतने लगे थे, उनकी अवश्य उन्होंने बड़े कड़े शब्दों में भर्त्सना की है:—

"नाटक लिखने की प्रणाली का जिन्हें अत्यल्प भी ज्ञान नहीं उन्होंने भी हिंदी में नाटक लिखने की कृपा की है। ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि इस प्रकार ऊटपटांग लिख कर उसे प्रकाशित करने से हिंदी की ही नहीं स्वयं उनकी भी हानि है। नाटक लिखना सबका काम नहीं, उसके लिए उपयुक्त विद्या-बुद्धि के अतिरिक्त लोक-व्यवहार और मनुष्य-प्रकृति का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए।"[5]

इसी प्रकार उन्होंने उन लेखकों को भी बड़ी फटकार बताई है, जो पारसी कंपनियों के लिए अत्यंत निकृष्ट श्रेणी के ऐसे नाटक लिख रहे थे, जिनसे सदाचार की मर्यादा का हनन हो रहा था——

"नाट्यकला का फल उपदेश देना है। उसके द्वारा मनोरंजन भी होता है। चाहे जैसा नाटक हो और चाहे उसे जिसने बनाया हो, उससे कोई न कोई शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो नाटककार का प्रयत्न

---

2. ब्रजरत्नदास कृत "हिंदी नाट्य साहित्य", पृष्ठ 123, द्वितीय संस्करण।
3. गुलाबराय कृत "काव्य के रूप", पृष्ठ 83।
4. देखिए आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत "नाट्यशास्त्र का उपसंहार"—"अभाग्यवश हिंदी में दो-चार को छोड़कर कोई अच्छे रूपक ही नहीं। नाटक लिखना लोगों ने खेल समझ रखा है।"
5. देखिए—वही, पृष्ठ 57।

व्यर्थ है, अभिनेता का परिश्रम व्यर्थ है। दर्शकों का नेत्र व्यापार भी व्यर्थ है। जो लोग 'इंद्रसभा' तथा 'गुलबकावली' आदि खेल, जो पारसी थियेटर वाले आजकल प्राय: खेलते हैं, देखने जाते हैं उन्हें अपना हानि-लाभ सोचकर वहाँ पधारना चाहिए।"[6]

इन अवतरणों से यह सिद्ध है कि आचार्य द्विवेदी हिंदी नाटक की गति-स्रति को बहुत ध्यान से देखते रहते थे, कम से कम वे उस ओर से असावधान तो कदापि नहीं थे। उनके द्वारा हिंदी-भाषी जनता के प्राय: दो दशकों के अनवरत साहित्यिक अनुशासन के परिणामस्वरूप जिस साहित्यिक आदर्शवाद का जन्म हुआ था, उसने नाटक-साहित्य की प्रगति पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला। अवश्य इस साहित्यिक आदर्शवाद से अनुप्राणित ऐसा कोई महान् व्यक्तित्व नाटक के क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ा जैसा आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का, कविता के क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त का और उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचंद जी का था। द्विवेदी जी का रोषपूर्ण भृकुटि-भंग देखकर अनधिकारी और व्यवसायी दोनों ही प्रकार के नाटक-लेखकों के दिल दहल गए थे तथा उनके आतंक के कारण उनके समय के नाटकों की वेगवती धारा मंद पड़ गई थी और क्षीण भी। किंतु मंद और क्षीण होकर इस धारा में जो निर्मलता आई वह हिंदी नाटक के इतिहास की निर्महत्व घटना नहीं है। अतएव भारतेंदु युग की परिसमाप्ति के बाद हिंदी नाटक की विकास दिशा में जो परिवर्तन लक्षित होता है उसका सम्यक् श्रेय आचार्य द्विवेदी जी को प्राप्त होना चाहिए। द्विवेदी जी का प्रभाव हिंदी नाटक साहित्य पर कई रूपों में प्रतिफलित प्रतीत होता है। एक तो जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आचार्य जी के आतंक के कारण अनधिकारी लेखक हिम्मत हार बैठे जिसके परिणामस्वरूप उस कड़े-कचरे की बाढ़ रुक गई जो नाटक साहित्य के नाम पर हिंदी के कलेवर को मलीन बना रहा था। दूसरी बात यह हुई कि अपनी उल्लिखित "नाट्य-शास्त्र" नामक पुस्तिका में आचार्य द्विवेदी ने जो निर्देश दिए[7] उनके प्रकाश में लेखकों ने अपनी प्रतिभा और योग्यता को ठीक-ठीक पहचाना। इसका परिणाम यह हुआ कि मौलिक नाटक-रचना की सहज क्षमता रखने वाले कुछ इने-गिने व्यक्ति ही पूरी तैयारी के साथ इस क्षेत्र में टिके रह पाए। अन्य लोग जिनको हिंदी नाटक साहित्य को समृद्ध करने की सच्ची लगन थी संस्कृत, बँगला, अँग्रेज़ी आदि भाषाओं की श्रेष्ठ नाटकीय कृतियों के सफल अनुवाद करने में दत्तचित हुए। इसीलिए इस काल में उत्तम अनूदित नाटकों की बहुत अच्छी संख्या हमें उपलब्ध होती है। तीसरी महत्वपूर्ण बात यह हुई कि पारसी थियेटर के नाम से प्रसिद्ध विशुद्ध रंगमंच पर हिंदी तथा हिंदूपन दोनों का थोड़ा बहुत प्रवेश हुआ। द्विवेदी जी ने अपने युग के लेखक और प्रेक्षक को पारसी थियेटर वाले अभिनयों के संबध में जो चेतावनी दी थी[8], उसका अभीष्ट प्रभाव हुआ। इसी समय पारसी रंगमंच पर राधेश्याम कथावाचक जैसे लेखकों को स्थान मिला, जिनकी रचनाओं में हिंदीपन के साथ-साथ भारतीय आचार की मर्यादा का निर्वाह भी दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार हम आचार्य द्विवेदी जी के साहित्यिक आदर्शवाद और नीतिवाद से व्यवसायी रंगमंच को थोड़ा-बहुत प्रभावित तो पाते ही हैं। चौथी उल्लेखनीय बात यह है कि द्विवेदी जी के समकालीनों के अधिकांश मौलिक नाटक उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की मुद्रा धारण करते हैं। इन सब नाटकों में हमें द्विवेदी जी द्वारा अनुष्ठित "नीतिवाद, व्यवहारवाद अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद" का ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष व्याख्यान सुनाई पड़ता है। परंतु नाटक मनुष्य की मूलत: विविध शारीरिक तथा मानसिक अवस्थाओं का अनुकरण है[9] इसलिए इतने कठोर प्रतिबंधों के बीच उसके सहज विकास का रुक जाना भी स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि द्विवेदी युग के मौलिक नाटक सजीवता, सरसता तथा कलात्मक परिपाक की दृष्टि से भारतेंदु-युग के नाटकों से आगे नहीं आते। अवश्य, उनकी भाषा कुछ अधिक

---

6. देखिए—वही, पृष्ठ 57।
7. देखिए—आचार्य द्विवेदी कृत नाट्यशास्त्र का उपसंहार।
8. देखिए—वही।
9. "अवस्थानुकृतिनाटकम्"—दशरूपक।

परिष्कृत और परिमार्जित है, जो द्विवेदीकाल की सर्वप्रथम विशेषता है। संभवतः इसी कारण वे अनेक अव्यवसायी नाटक-मंडलियाँ जो भारतेंदु-युग के उन्मुक्त वातावरण में प्रादुर्भूत होने वाली थीं, द्विवेदी युग के घोर नीतिवादी तथा शुद्धिवादी वातावरण में साँस न ले सकीं और कुछ समय बाद काल-कवलित हो गईं। पं० माधवप्रसाद शुक्ल जैसे उत्साही नाटक-लेखकों और श्रेष्ठ अभिनेताओं ने भी लखनऊ, जौनपुर तथा कलकत्ता आदि में जाकर नाटक-मंडलियों की स्थापना के जो प्रयत्न किए वे भी असफल हो गए। इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए कुछ लोगों को आचार्य द्विवेदी जी के प्रभाव को हिंदी नाटक के लिए आकाशधर्मी मानने में आपत्ति हो सकती है। कारण समष्टि रूप से उनके व्यक्तित्व की सीमाओं से हम उसको चारों ओर से मर्यादित पाते हैं। पर, आचार्य के आदर्शनिष्ठ व्यक्तित्व की सीमाओं से मर्यादित होकर हिंदी नाटक की हानि ही हुई, ऐसा समझना बहुत भारी भ्रम होगा। अपने कठोर साहित्यिक अनुशासन में आचार्य ने हिंदी नाटक को संयम का जो पाठ पढ़ाया, उसी से वह प्रसादकालीन नव्योत्थान के उपयुक्त शक्ति संकलित कर सका। तात्पर्य यह कि द्विवेदी जी के प्रभाव को हम हिंदी नाटक के लिए परिणाम में शुभावह ही पाते हैं और इसलिए इस आलोच्य अवधि को यदि कोई द्विवेदी युग कहे तो उसे हम अनुपयुक्त नहीं समझते।

परंतु आधुनिक हिंदी साहित्य के इस द्विवेदी उत्थानकाल में, जिसे काव्य रचना आदि के क्षेत्र में 'द्विवेदी-युग' कहा जाता है, मौलिक नाटकों की रचना की अपेक्षा अनुवाद का कार्य बहुत अधिक हुआ। इसीलिए कतिपय विद्वान् इसे अनुवाद काल कहना अधिक संगत समझते हैं। भारतेंदु के जीवनकाल में हमें जैसा उत्साह मौलिक नाटकों के प्रणयन में दिखाई पड़ता है, वैसा ही उत्साह अब नाटकों के अनुवाद-कार्य में लक्षित होता है। ये अनुवाद भी विभिन्न भाषाओं से किए गए पर इनमें बंगला के अनूदित नाटकों की संख्या संभवतः सबसे अधिक है और संस्कृत, अँग्रेज़ी, मराठी, गुजराती आदि का स्थान क्रमशः उसके बाद आता है। द्विवेदी जी ने स्वयं विभिन्न भाषाओं से अनेक ग्रंथों का हिंदी अनुवाद किया था, और इस कार्य को वे निरंतर प्रोत्साहित भी करते रहते थे, अतएव उस युग के लेखकों में अनुवाद कार्य के प्रति विशेष उत्साह होना स्वाभाविक ही था।

इस युग के मौलिक नाटक पूर्ववर्ती पीढ़ी के नाटकों की अपेक्षा संख्या में बहुत कम तो हैं ही, भाषा-परिष्कार को छोड़कर अभिनेयता आदि नाटक के अन्य अंतर्वर्ती व्यावर्तक गुणों में भी हीन हैं। भारतेंदु-युग के नाटकों में जीवन के यथार्थ अभिव्यंजन और अनुकरण का जो अदम्य उत्साह परिलक्षित होता है वह भी इनमें नहीं है। भारतेंदु और उनके सहयोगियों के नाटकों में व्यंग्य और परिहास की जो सहज वेगवती कल्लोलिनी प्रवहमान है, उसका उत्स भी अब कुछ सूखता-सा प्रतीत होता है। इन सब दृष्टियों से हम इसे भारतेंदु युग के नाटक का ह्रास काल कह सकते हैं।

किंतु इस युग में मौलिक नाटकों की सर्जना का प्रयास भले ही मंद पड़ गया हो, पर हिंदी रंगमंच की स्थापना और हिंदी नाटकों के अभिनय की कलापूर्ण परंपरा के प्रवर्तन का जैसा संगठित प्रयास पं० माधव शुक्ल जैसे साधकों के द्वारा इस युग में हुआ, वैसा आज तक नहीं हो पाया है। भारतेंदु के आदर्श से अनुप्राणित अनेक साहित्यकारों तथा साहित्य प्रेमियों ने स्थान-स्थान पर नाटक मंडलियों की स्थापना कर हिंदी नाटक और रंगमंच के अभ्युत्थान का जो संगठित प्रयत्न किया, वह हिंदी नाटक साहित्य के इतिहास का सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य अत्यंत गौरवशाली अध्याय है। खेद है, वह ग्रब तक विस्मृत है। जिस समय यह प्रयत्न किया गया उस समय व्यवसायिक पारसी रंगमंच का एकच्छत्र साम्राज्य था, उसकी होड़ में बिना किसी सहयोग, सहायता या समर्थन के यह महाप्राण आंदोलन असफल अवश्य हो गया, पर आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए एक महान् आदर्श छोड़ गया। मुझे इस बात पर आश्चर्य है कि आचार्य द्विवेदी जी का आशीर्वाद इन प्रयत्नों को नहीं प्राप्त हुआ। कम से कम उसका कोई उल्लेख या प्रमाण नहीं मिलता।

● ● ●

द्विवेदी जी की अप्रकाशित पुस्तकें

उदयभानु सिंह

अब से बीस वर्ष पहले की बात है। मैं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी पर अनुसंधान कर रहा था। अपने विषय से संबद्ध प्रकाशित सामग्री का अध्ययन कर लेने के बाद अप्रकाशित सामग्री का अनुशीलन आरंभ किया। नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) के कलाभवन में उनके ग्रंथों की पांडुलिपियाँ देख रहा था। एक अश्रुतपूर्व पुस्तक पर दृष्टि पड़ते ही चौंक पड़ा। उसका नाम है––कौटिल्य-कुठार। मन में सोचा कि 'वाक्शूर परशुराम' कहे जाने वाले द्विवेदी जी की कलम से 'कौटिल्य कुठार' का प्रणयन सर्वथा स्वाभाविक है। पुस्तक को आद्योपांत पढ़ गया। शरीर झनझना उठा।

उपर्युक्त पुस्तक तीन खंडों में विभक्त है––सभा की सभ्यता, वक्तव्य और परिशिष्ट। द्विवेदी जी के स्वभाव और भाषा-शैली के अध्ययन की दृष्टि से यह रचना विशेष महत्त्वपूर्ण है। स्थान-स्थान पर उनके क्रोध और उग्रता की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। उनकी वक्तृतात्मक और व्यंग्यात्मक शैलियाँ ओजस्विता की पराकाष्ठा पर पहुँच गई हैं। इस कृति में काशी नागरी-प्रचारिणी सभा और बाबू श्यामसुंदर दास की तीव्र आलोचना की गई है।

'कौटिल्य-कुठार' रचना का एक इतिहास है। 'सरस्वती' पत्रिका नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से संस्थित थी। इस पत्रिका के संपादक-पद से उन्होंने सभा की खोज-रिपोर्ट की आलोचना की (अक्टूबर, 1904)। स्वभावतः, यह बात सभा को बुरी लगी। उसने इंडियन प्रेस को हिदायती पत्र लिखा। द्विवेदी जी ने पत्र को प्रकाशित करते हुए उसकी कटु आलोचना की (दिसम्बर, 1904)।

इस विवाद के क्रम में एक रोचक घटना भी घटी। पं० केदारनाथ पाठक सभा की ओर से द्विवेदी जी के यहाँ गए। पहुँचते ही गरज कर पूछा––सभा के कार्यों की इतनी कड़ी आलोचना का हमें किस रूप में प्रतिवाद करना होगा? क्या 'विषस्य विषमौधम्' की नीति का अवलंबन करना पड़ेगा? द्विवेदी जी मिठाई, जल और एक मोटी लाठी ले आए। मुस्कराते हुए कहा––थके-माँदे आ रहे हो, हाथ-मुँह धोकर जलपान कर के सबल हो जाओ, तब यह लाठी और यह मेरा मस्तक है।

विवाद यहीं पर समाप्त नहीं हुआ। सभा ने एक पत्र लिखकर (जनवरी, 1905) आदेश किया कि उसकी अनुमति के बिना उसके संबंध में 'सरस्वती' कुछ न छापे, अन्यथा उससे सभा का नाम हटा दिया जाए। इसके फलस्वरूप 'सरस्वती' से सभा का नाम निकाल दिया गया।

अगस्त, 1906 में सभा ने द्विवेदी जी से चंदा माँगा। वे अत्यंत उत्तेजित हो गए, और 57 फुलस्केप पृष्ठों का वक्तव्य लिख कर सभा को भेजा। उसमें अपने को निर्दोष और सभा को दोषी ठहराया। 'भारतमित्र' और 'हिंदी बंगवासी' में कुछ समय तक यह विवाद चलता रहा। द्विवेदी जी ने उक्त वक्तव्य का परिवर्तन करके एक ग्रंथ ही लिख डाला––'कौटिल्य-कुठार'। लिख तो डाला, परंतु उसे प्रकाशित करना उचित नहीं समझा।

समय ने मनोमालिन्य दूर कर दिया। सभा ने 1931 में द्विवेदी जी को अभिनंदन-पत्र दिया और 'द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ' का प्रकाशन किया। द्विवेदी जी ने अपना ग्रंथ-संग्रह तथा अन्य बहुमूल्य सामग्री सभा को दान कर दी :

अन्योन्यदानाश्रयणाद् बभूव
साधारणो भूषणभूष्यभावः।

इस प्रकार गौरवशाली साहित्य-महारथियों का विवाद महिमामय ढंग से समाप्त हुआ।

द्विवेदी जी में भी कभी जवानी की उमंग थी। मित्रों ने समझाया-आदर्शवादी ग्रंथों के द्वारा मुद्राराक्षसी पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती, कुछ दिल फड़काने वाली चीजें लिखो, 'मदन-मंजरी' लिखो, 'अनंग-रंग' लिखो, 'रति

रहस्य' लिखो। रंग में आकर द्विवेदी जी ने दो पुस्तकें लिख डाली। उनके नाम है—'तरुणोपदेश' और 'सोहागरात'।

सभा द्वारा आयोजित अभिनंदनोत्सव के अवसर पर उन्होंने अपनी इन 'रसीली' पुस्तकों का उल्लेख किया। 'सोहागरात' के विषय में उन्होंने निवेदन किया—ऐसी पुस्तक जिसके प्रत्येक पद से रस की नदी नहीं तो बरसाती नाला जरूर बह रहा था। नाम भी मैंने ऐसा चुना जैसा कि उस समय उस रस के अधिष्ठाता को भी न सूझा था।....आज-कल तो वह नाम बाजारू हो रहा है और अपने अलौकिक आकर्षण के कारण निर्धनों को धनी और धनियों को धनाधीश बना रहा है।.....अपने बूढ़े मुँह के भीतर धँसी हुई ज़बान से आपके सामने उस नाम का उल्लेख करते हुए मुझे बड़ी लज्जा मालूम होगी पर पापों का प्रायश्चित करने के लिए आप पंचसमाजरूपी परमेश्वर के सामने शुद्ध हृदय से उसका निर्देश करना ही पड़ेगा। अच्छा तो उसका नाम था या है—"सोहागरात"। उन्होंने आगे कहा—मेरी पत्नी ने मुझे साहित्य के उस पंकपयोधि में डूबने से बचा लिया, आप भी मेरे उस दुष्कृत्य को क्षमा कर दें तो बड़ी कृपा हो।

संयोग की बात है कि पं० कृष्णकांत मालवीय ने एक पुस्तक लिखी थी—'सोहागरात या बहूरानी को सीख।' लोगों के सुझाने से मालवीय जी ने समझा कि यह मर्मवेधी आक्षेप उन्हीं पर है। इस अपमान का प्रतिशोध आवश्यक प्रतीत हुआ। उन्होंने 'भारत' (11 जून, 1933) में एक लेख लिखकर सेक्स के साहित्य को पाप और पंकपयोधि समझने वाले पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की कूपमंडूकता की व्यंग्यपूर्ण आलोचना की। द्विवेदी जी ने ईंट का जवाब पत्थर से दिया। उन्होंने 'भारत' (24-25 जून, 1933) में ही 'क्षमाप्रार्थना' प्रकाशित कराई। जो आद्योपांत वक्रताओं और व्यक्तिगत आक्षेपों से व्याप्त थी। प्रत्युत्तर में 'क्षमाप्रार्थना का वितंडावाद' (भारत, 2 जुलाई, 1933) निकला। मालवीय जी ने स्वयं इस विवाद का उपसंहार कर दिया।

द्विवेदी जी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व का अनुसंधायक होने के नाते मैंने यह सारी चखचख अवधानपूर्वक अक्षरशः पढ़ी। मेरे मन में इन रसीली पुस्तकों के विषय में अदम्य जिज्ञासा जागृत हुई। सभा-भवन में इनके पहुँचने का प्रश्न ही नहीं था। सोचा कि शायद दौलतपुर में मेरा मनोरथ सफल हो जाए। वहाँ पर और भी सामग्री मिलने की संभावना थी।

वहाँ के खट्टे-मीठे अनुभव अविस्मरणीय हैं। जब मैं दौलतपुर की सीमा पर पहुँचा तब एक ब्राह्मण कुलभूषण से साक्षात्कार हुआ। वे फावड़ा लेकर खेत में जुटे हुए थे, डाँड़ फेंक रहे थे। शरीर पर लगभग एक अंगुल मोटा यज्ञोपवीत शोभित हो रहा था। मैंने पैंलगी कर के दौलतपुर का रास्ता पूछा। उनके प्रश्न के उत्तर में बताया कि स्वर्गीय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के घर जा रहा हूँ। वे प्रेताविष्ट-से होकर द्विवेदी जी को गालियाँ देते हुए अपनी बौखलाहट प्रकट करने लगे। मैं विचार करने लगा—एक वह महान पुरुष है जिस पर अनुसंधान किया जा रहा है, एक मैं हूँ जो उस पर शोधप्रबंध लिख कर गौरव प्राप्त करना चाहता हूँ। एक यह विचित्र जीव है जो उन्हें गालियाँ देकर आत्मतुष्टि-लाभ कर रहा है। उनसे शास्त्रार्थ करना घातक होता। मैं नमस्कार करके आगे बढ़ गया।

दौलतपुर पहुँचा। द्विवेदी जी के भानजे पं० कमलाकिशोर त्रिपाठी बड़े स्नेह से मिले। उपर्युक्त घटना (वस्तुतः दुर्घटना) का ताप शांत हो गया। त्रिपाठी जी ने बहुत-सी सामग्री दी। मैंने ऐसे भी बहुत से कागज़-पत्र देखे जिनको द्विवेदी जी प्रकाश में नहीं लाना चाहते थे। परंतु, मुझे 'सोहागरात' नहीं मिली। मैंने त्रिपाठी जी से प्रार्थना की—मैं विशेष रूप से 'सोहागरात' और 'तरुणोपदेश' को देखने के लिए यहाँ आया हूँ, कृपया वे पुस्तकें दिखलाइए। उनके सधे हुए उत्तर का तात्पर्य यह था कि द्विवेदी जी की धर्मपत्नी ने उन पुस्तकों को अश्लील समझ कर छपने नहीं दिया, ताले में बंद रखा, और उनके स्वर्गवास के उपरांत द्विवेदी जी ने उन्हें संसार की दृष्टि से बचाने के लिए नष्ट कर दिया। मैंने बड़ी दयनीयता के साथ अपनी यात्रा की असफलता पर खेद प्रकट किया। त्रिपाठी जी से विदा लेकर चल पड़ा।

कुछ ही दूर चला था कि अपने नाम की पुकार सुनकर रुक गया। देखा कि त्रिपाठी जी आ रहे हैं। उन्होंने सूचित किया—जब मैं आप से बातें करने के बाद अंदर गया तब मेरी धर्मपत्नी ने मुझे बतलाया कि वे दोनों पुस्तकें मिल गई हैं। मुझे अपार हर्ष हुआ। अगले दिन सबेरे आने के लिए कह कर मैं अपने मित्र की ससुराल चला गया जहाँ पर कई दिनों से ठहरा हुआ था।

मैंने सारी स्थिति पर विचार किया। जिन पुस्तकों को स्वयं द्विवेदी जी और उनकी धर्मपत्नी ने छिपा कर रखा उन्हें उनके स्वर्गवास के उपरांत लोगों को दिखाना उनकी दिवंगत आत्माओं के प्रति अन्याय था। अतएव त्रिपाठी जी का आचरण सर्वथा न्यायोचित था। मेरा अनुमान है कि जब मैं उनसे इन दो अप्रकाशित रचनाओं के विषय में बातें कर रहा था तब उनकी धर्मपत्नी ओट से सब बातें सुन रही थीं। मेरी निराशा और खिन्नता ने उनके नारी सहज कोमल हृदय को पिघला दिया। इधर त्रिपाठी जी भी करुणार्द्र थे। मेरे प्रस्थान करते ही दोनों ने राय की और तत्काल निर्णय किया कि द्विवेदी जी के भक्त इस अमायिक अनुसंधाता को पुस्तकें दिखा देने में कोई अनौचित्य नहीं है। मैं इनका चिरकृतज्ञ हूँ कि उन्होंने मुझे वे पुस्तकें पढ़ने को दीं, और मुझे इस बात का संतोष है कि मैंने उनकी उदारता तथा कृपा का दुरुपयोग नहीं किया।

मैंने दो दिन रुक कर उन कृतियों का पारायण किया। मैं अधिकार के साथ कह सकता हूँ कि यदि 'सोहागरात' प्रकाशित हो जाती तो द्विवेदी जी सचमुच पंक-पयोधि में डूब जाते। पं० कृष्णकांत मालवीय ने उस पुस्तक को देखे बिना ही द्विवेदी जी की संगत उक्ति को अज्ञानवश अपने ऊपर आरोपित कर लिया था। यह पुस्तक इतनी अश्लील है कि इसके उद्धरण नहीं दिए जा सकते। यह तो सच्चरित्र, संयमशील और आदर्शवादी द्विवेदी जी की कृति ही नहीं प्रतीत होती। यदि वे स्वयं इसकी चर्चा न कर देते तो मैं उनका अनुसंधाता होकर भी इसे उनकी रचना मानने का दुस्साहस न करता।

सोहागरात—एक अनूदित रचना है। स्वयं लेखक के अनुसार यह अँग्रेज़ कवि बायरन की 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद है। "पहले ही पहल पति के घर आई हुई एक बाला स्त्री का उसकी मैत्रिणी को पत्र है।" इसके पचास पद्यों में नवविवाहिता शशी ने अपनी अविवाहित सखी कलावती के प्रति सोहागरात में की गई छह बार की रति का प्रस्तावनासहित विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उपसंहार में द्विवेदी जी ने चार्वाक-दर्शन का निचोड़-सा प्रस्तुत किया है :

देखो दो वेदों का पढ़ने वाला भी यह कहता है—
सुख भोगो, दुनिया में आकर कौन बहुत दिन रहता है ?

तीसरी अप्रकाशित पुस्तक 'तरुणोपदेश' है। इसे हम सेक्स-विषयक उपयोगी साहित्य की कोटि में रख सकते हैं। अपनी अति-आदर्शवादिता के कारण द्विवेदी जी ने इसे भी अप्रकाशित रहने दिया। 210 पृष्ठों की इस पुस्तक में चार अधिकरण है। पहला 'सामान्याधिकरण' हैं—उसमें सात परिच्छेद है। तारुण्य, पुरुषों में क्या-क्या स्त्रियों को प्रिय होता है, विवाहकाल, दांपत्यसंगम, इच्छानुकूल पुत्र अथवा कन्योत्पादन, अपत्यप्रतिबंध, और संतान न होने के कारण। दूसरा 'वीर्याधिकरण' है। उसमें तीन परिच्छेद है—वीर्य-वर्णन, ब्रह्मचर्य की हानियाँ, और अतिप्रसग की हानियाँ। तीसरा 'अनिष्टाविदाधिकरण' है। उसमें चार परिच्छेद है—निषिद्ध मैथुन, हस्तमैथुन, वेश्यागमन-निषेध, और मद्यप्राशन। अंत में 'रोगाधिकरण' के चार परिच्छेदों में अनिच्छित वीर्यपात, मूत्राघात, उपदंश और नपुंसकता का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार इस पुस्तक में तरुणों के लिए ज्ञातव्य विषयों का बोधगम्य भाषा में प्रतिपादन हुआ है। यह पुस्तक द्विवेदी जी ने तीस वर्ष की आयु में लिखी थी। अतः इसकी भाषाशैली में प्रौढ़ता नहीं है। परंतु, संपूर्ण ग्रंथ में अश्लीलता कहीं भी नहीं पाई जाती। प्रस्तुत रचना की एक अवेक्षणीय विशेषता यह भी है कि इसमें पुरुषों की वयःसंधि का भी विशद वर्णन है। लेखक ने उदाहरण-रूप में संस्कृत काव्यों से पर्याप्त उद्धरण दिए हैं। विवेचन के क्रम में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के मतों का भी यथास्थान उल्लेख किया है। अपने प्रतिपाद्य विषय को यथाशक्ति व्यापक, उपयोगी तथा आप्त बनाने की चेष्टा की है। इस बात का ध्यान रखा है कि यह पुस्तक तरुणों को स्वास्थ्य, संयम और ब्रह्मचर्यपालन का मार्ग दिखा कर उन्हें अनिष्ट कृत्यों से बचा सके।
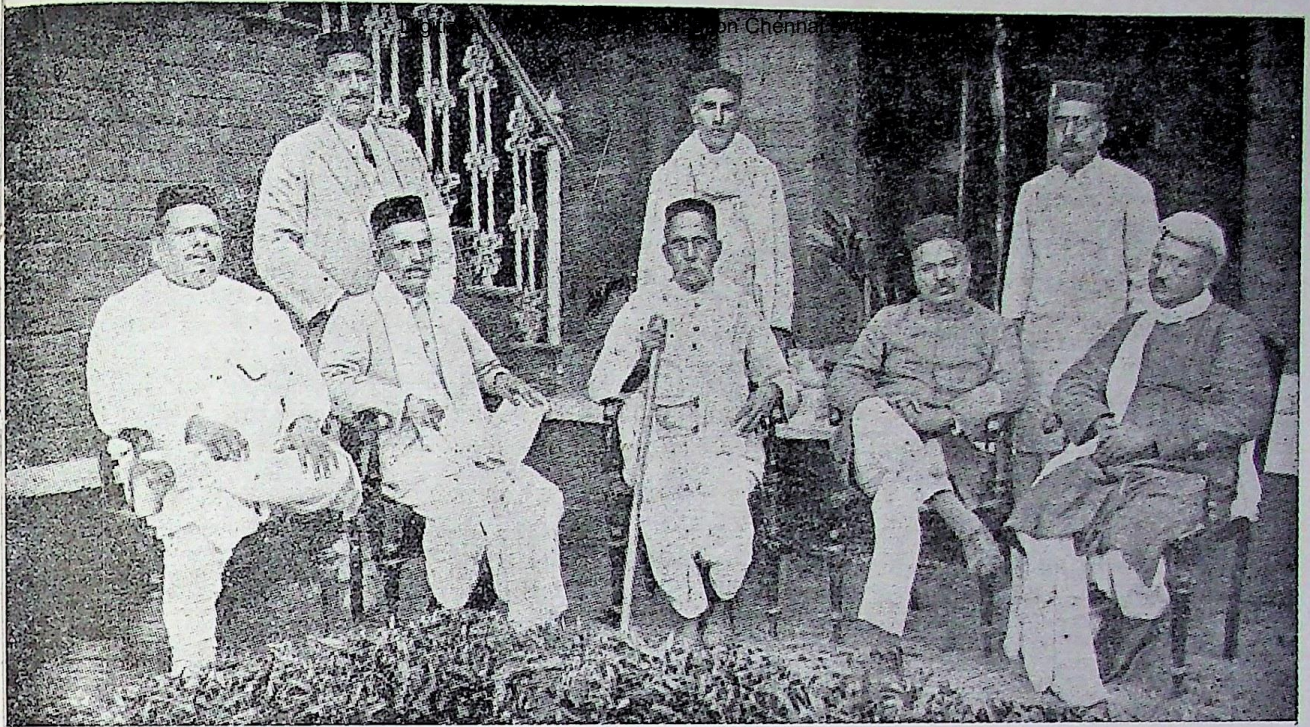
चित्र में बैठे हुए —— जगन्नादास 'रत्नाकर', कामताप्रसाद गुरु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, लज्जाशंकर झा, चंद्रधर शर्मा गुलेरी ।
खड़े हुए :— श्यामसुन्दर दास, रामनारायण मिश्र, रामचंद्र शुक्ल ।

द्विवेदी युगीन सामाजिक परिवेश

कृष्णबिहारी मिश्र

द्विवेदी युग भारतीय जीवन में हो रहे व्यापक परिवर्तनों का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय था। 20वीं सदी का आरंभ होते-होते कांग्रेस में उग्र-दलीय नेताग्रों तिलक, लाजपतराय और विपिनचंद्र पाल का प्रभाव बढ़ने लगा था। अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के नए मोड़ ने भी राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं को प्रोत्साहित किया। सन् 1896 में अबीसीनिया के द्वारा इटली की पराजय और सन् 1905 में जापान की रूस पर विजय ने एशिया वासियों के हृदय में हर्ष की लहर दौड़ा दी और यूरोपीय जातियों की अजेयता और श्रेष्ठता का भ्रम दूर हो गया।[1]

भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीतियाँ राष्ट्रीय असंतोष की अग्नि में ईंधन का कार्य कर रहीं थीं। सन् 1904 में लार्ड कर्ज़न ने अपने एक व्याख्यान में इंडियन सिविल सर्विस के भारतीय-करण का विरोध करते हुए अँग्रेज़ों को ही सिविल पद देने का कारण उनकी पैतृक विशेषता, शिक्षा, चरित्र बल, और शासन सिद्धांत के ज्ञान को बताया, जिससे भारतीय क्रुद्ध हुए[2]। 16 अक्तूबर, सन् 1905 को बंग-भंग की घोषणा

---

1. भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास (1900–1919) लेखक : गुरमुख निहाल सिंह, अन० सुरेश शर्मा, पृष्ठ 153–154।
2. वही, पृष्ठ ।

ने भारतीयों की सहन-शक्ति को समाप्त कर दिया। उस समय के बंगाल के सूबे में बिहार, उड़ीसा भी संमिलित थे, अतः उसका विभाजन तो आवश्यक था, परंतु जिस मनमाने रूप में वह किया गया था, उसका उद्देश्य रेनाल्डशे के शब्दों में 'बंगला राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई दृढ़ता पर आक्रमण करना[3] और हिंदू-मुस्लिम-द्वेष को बढ़ावा देना था। 1908 में क्रांतिकारी आंदोलन को दबाने के लिए विस्फोटक पदार्थ एक्ट और वैधानिक आंदोलन का दमन करने के लिए समाचार पत्र (अपराध उत्तेजक) ऐक्ट बनाए गए। बंग-भंग के विरुद्ध प्रबल आंदोलन भी इस काल में अत्यंत सक्रिय रहा।

भारत-दोहन की अँग्रेज़ी आर्थिक नीति इस युग में पूरी तत्परता से अपना कार्य कर रही थी। कृषकों की दशा सोचनीय थी। साइमन कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार कहीं-कहीं तो ज़मींदार और वास्तविक भू-श्रमिक के बीच 50 या उससे भी अधिक मध्यस्थ उपजीवी स्वार्थ वर्तमान थे।[4] निकलसन के आधार पर सर एडवर्ड मैकलेगन ने 1911 में भारत का ग्राम्य ऋण तीन अरब रुपए अनुमानित किया था।[5]

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री शाह और संभाता के अनुसार 1924 में भारतीय औसत आय जनसंख्या के तीन में से दो व्यक्तियों के खाने भर को थी।[6] 1917–18 में भी परिस्थिति बहुत भिन्न न रही होगी। भारत में ब्रिटिश पूँजी अपनी जड़ें मज़बूत कर चुकी थी। 1914 में रेल, चाय, बीमा और बैंक आदि में लगी हुई ब्रिटिश पूँजी 45 करोड़ पौंड तक पहुँच चुकी थी। स्वदेशी आंदोलन से विदेशी तैयार माल के आयात को गहरा धक्का लगा। 1917 के अनुमान आयात में 16 प्रतिशत की कमी हुई। दूसरी ओर बुन-कर उद्योग और दूसरे देशी धंधों को बल मिला। भारत केवल ब्रिटिश तैयार माल की सबसे बड़ी मंडी ही नहीं था, खाद्यान्न और कच्चा माल देने वाली कामधेनु भी था। 1914 में भारत से अन्न और कच्चा माल के निर्यात का मूल्य दो करोड़ बीस लाख पौंड था। अकेले अन्न का ही निर्यात मूल्य 193 लाख पौंड था, जब कि 1900 तक भारत में अँग्रेज़ों के शासन काल में 24 भयंकर दुर्भिक्ष पड़ चुके थे।[7] इस दुर्दशा में भी 1903 में लार्ड कर्ज़न ने एक ऐश्वर्यपूर्ण दरबार में सैनिक व्यय के अतिरिक्त एक लाख अस्सी हज़ार पौंड स्वाहा किए थे। भारतीय पूँजी के साथ ब्रिटिश शासन की विभेदपूर्ण नीति इस युग से निरंतर विद्यमान थी।

नए सामाजिक परिवेश में हिंदुओं की जाति-व्यवस्था के नियम शिथिल हो रहे थे। पाश्चात्य प्रणाली के द्वारा प्रोत्साहित व्यक्तिवाद ने न्याय-व्यवस्था के ब्रिटिश सिविल कानून की ओर झुकाव से बल पाकर संमिलित कुटुंब-प्रणाली की रीढ़ तोड़ दी थी। आर्थिक संघर्ष के दबाव और नगरों में शिक्षा तथा व्यवसाय के नवीन अवसरों की सुविधा के लिए ग्रामों से नगरों की ओर संक्रमण और रूढ़ि-ग्रस्त सामाजिक नियंत्रण से असंतोष होने के कारण भी इस प्रणाली का अनुशासन समाप्त होने लगा था। शिक्षा के प्रसार ने अनुचित सामाजिक प्रथाओं के प्रति विरोध उत्पन्न किया और ब्रह्म-समाज जैसी सुधारवादी संस्थाओं के द्वारा सामाजिक पुनर्जागरण को संघटित शक्ति प्राप्त हुई। सन् 1857 ई० की क्रांति के बाद मुस्लिम समाज के प्रति अँग्रेज़ों की नीति शत्रुतापूर्ण थी, परंतु सर सैयद के प्रयत्नों से इस नीति में परिवर्तन हुआ। 1906 में अँग्रेज़ों के प्रोत्साहन से मुस्लिम लीग की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य मुसलमानों में सांप्रदायिकता को बढ़ावा देकर राष्ट्रीय आंदोलन में दरार डालना था। 1909 के सुधारों में पृथक्-निर्वाचन का उद्देश्य इसी सांप्रदायिकता के विष-वृक्ष का अभिसिंचन करना था, परंतु राष्ट्रीय नेताओं के प्रयत्नों से सन् 1916 तक यह नीति सफल न हो सकी थी।

---

3. लाइफ् ऑफ़् लार्ड कर्ज़न रोनाल्डेश, भाग 1, पृष्ठ 332।
4. साइमन रिपोर्ट, भाग 1, पृष्ठ 340।
5. इंडियन इकनोमिक्स, जथार एण्ड बेरी, चौथा संशोधित संस्करण, 1933, भाग 1, पृष्ठ 269।
6. दि वेल्थ एंड टैकसेबिल कैपेसिटी ऑफ इंडिया––शाह एंड संभाता, पृष्ठ 253, संस्करण 1924।
7. इन आँकड़ों के लिए लेखक रजनी पामदत्त की 'दि इंडिया टु डे' पुस्तक का आभारी है।

साहित्यिक और कलात्मक नव-जागरण भी राजनैतिक चेतना और सामाजिक पुनरुत्थान के आंदोलन का सहयोगी था। जिसके सूत्रधार हिंदी में इसके पिछले युग में भारतेंदु, महाराष्ट्र में चिपलूणकर, बंगाल में वंकिमचंद्र, गुजरात में नर्मदाशंकर और उर्दू में हाली थे। संगीत में दिगंवर पलुस्कर ने शास्त्रीय परंपराओं को पुनर्जीवित किया और अवनींद्रनाथ ठाकुर तो आधुनिक भारतीय चित्रकला के पिता माने जाते हैं। राजा रवि वर्मा के चित्र कलात्मक दृष्टि और मौलिक शिल्प के विचार से उत्कृष्ट नहीं थे, परंतु अपने काल में उनकी काफ़ी प्रशंसा हुई थी। विशेषकर उनका विषय-चयन प्राचीन और परंपरागत होने के कारण उनको लोकप्रियता मिली। हिंदी पत्रकारिता इस युग तक आते-आते एक अद्र्ध-शताब्दी व्यतीत कर प्रौढ़त्व प्राप्त कर चुकी थी। हिंदी के पत्रकारों ने शिक्षित वर्ग को राजनैतिक जागरूकता और सांस्कृतिक अंतर्दृष्टि का दान दिया और भारतीय जातीयता को अपने उत्तरदायित्वों का बोध हो, इसके लिए अथक परिश्रम किया।

इसी वातावरण में द्विवेदी युग के साहित्यकारों ने अपनी लेखनी से साहित्य को समृद्ध और श्रीसंपन्न बनाया था। निश्चय ही भाषा के सुधार, अनुशासन और परिमार्जन में इस युग के लेखकों ने और विशेष कर आचार्य द्विवेदी ने जो महान योग दिया, वह अविस्मरणीय है, परंतु भय है कि कहीं इस विशेष पक्ष पर बल देकर उनके कृतित्व के अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षों की उपेक्षा न हो जाए। यह एक प्रवाद मात्र है कि द्विवेदी युग के रचयिताओं की कृतियाँ साहित्यिक और कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं थीं। इसी प्रकार आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा कि इन लेखकों का सामाजिक दृष्टिकोण अपने युग की परिस्थितियों से सामंजस्य रखने वाला और उनके सुधार, विकास और उन्नति में योग देने वाला था।

अपने युग के राजनीतिज्ञों और नेताओं की अपेक्षा उस युग के साहित्यकार की दृष्टि अधिक दूर-दर्शिनी और क्रांतिकारिणी थी, इसका ज्ञान पंडित माधवप्रसाद मिश्र की उस 'खुली चिट्ठी' से होता है, जो उन्होंने पंडित मदनमोहन मालवीय को उनके विद्यार्थियों को राजनीति में भाग न लेने की सलाह के उत्तर में लिखी थी। इस पत्र में मिश्र जी ने अपने पक्ष में जो सवल तर्क प्रस्तुत किए हैं, उनका आधार प्राचीन भारतीय इतिहास और परंपरा है :—

"भारतवर्ष के ब्रह्मचारी, विद्यार्थी और युवक गण इसी समय नहीं, पहले भी विपदकाल में इस देश के अवलंब रहे हैं। हमारे वामन भगवान लड़कपन से ही यदि राजनैतिक ब्रह्मचारी न होते, तो दैत्यराज बलि के ग्रास से उनकी देव जाति का उस समय उद्धार होना बहुत कठिन था। पर कुशल यही थी कि उस समय की महर्षि-मंडली में कोई उनका उत्साह भंग करने वाला नहीं था। वे उस समय के नेताओं से प्रोत्साहित और पुरस्कृत हुए थे, तिरस्कृत नहीं। हम हिंदुओं के परमोपास्य भगवान कृष्ण बलदेव ने लड़कपन में ही उन राजनैतिक बातों का अनुष्ठान आरंभ कर दिया था, जिस पर इस देश का अभ्युदय होना निर्भर था·······आप ज़रा सोचिए तो सही यह विषय आपके सच्चे पक्षपातियों के निकट कितना मर्मस्पर्शी है कि 'ऊन षेड़श वर्ष' के रामचंद्र जी लक्ष्मण सहित महर्षि विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा के लिए एकाकी वन में चले जाएँ और 'स्वदेशहिताए च' मायाविनी ताड़का का प्राण संहार कर डालें और आप अपने विद्यार्थियों को दुर्नीति को दबाने के लिए कांग्रेस में भी न जाने दें। एक बार विचारिए तो, पूर्वजों की प्रतिष्ठा के लिए कुमार अभिमन्यु और लक्ष्मण चक्रव्यूह में लड़कर प्राण दे दें। भीष्म और पशुराम रक्त की नदियाँ बहा दें। रुकमागंद-सा नन्हा बालक हँसता-हँसता सिर कटा ले, महर्षि कुमार ऊर्व बड़े-बड़े शस्त्रधारियों को परास्त कर दे, बालक राजपूत फत्ता चितौड़ के द्वार पर सहर्ष प्राण गँवा दें, राणा लक्ष्मण सिंह अपने 11 पुत्रों को भारतद्रोही बादशाही फौज़ के विरुद्ध लड़कर मरने को भेज दें। और आप प्रयाग के हट्टे-कट्टे विद्यार्थियों को राजनीति की चर्चा भी न करने दें यह कहाँ का न्याय है।"[8] बाबू बालमुकुंद गुप्त के 'शिव शंभू के चिट्ठे', श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती', पं० श्रीधर पाठक की कविताएँ, पं० रामनरेश

8. श्री माधव मिश्र निबन्ध माला, राजनैतिक, पृष्ठ 29–30।

त्रिपाठी के खंड काव्य, लाला भगवान दीन की 'वीर पञ्चरत्न' पुस्तक तथा ऐसी ही अन्य बहुसंख्य रचनाओं में उस युग की राष्ट्रीयता, देशभक्ति के लिए किए जाने वाले संघर्षों का सजीव और सशक्त चित्र वर्तमान है। माधव शुक्ल की 'अभिलाषा' शीर्षक कविता में उस युग के भारतीय देशभक्तों की आकाक्षांओं का कितना आकर्षक प्रतिविंब है :—

मेरी जाँ न रहे मेरा सर न रहे, सामाँ न रहे न ये साज रहे।
फ़क्त हिंद मेरा आज़ाद रहे, मेरी माता के सर पर ताज रहे।।
पेशानी में जिसकी सोहे तिलक, और गोद में गांधी विराज रहे।
न ये दाग बदन में सुफ़ेद रहे, न तो कोढ़ रहे न ये खाज रहे।।
····मेरी टूटी मड़ैइया में राज रहे, कोई ग़ैर न दस्तंदाज रहे।
मेरी बीन के तार मिले हों सभी, एक भीनी मधुर आवाज़ रहे।।[9]

इन राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय ऐक्य और हिंदू मुस्लिम-एकता की नितांत और अनिवार्य आवश्यकता थी, इस महत्त्वपूर्ण सत्य से भी इस युग के हिंदी साहित्यकार ने आँखें नहीं मूंद रक्खी थीं और अनेक कविताओं, निवंधों में उन्होंने इस मूलभूत एकता को सुरक्षित रखने और पुष्ट करने का संदेश हिंदी पाठकों को दिया था। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' हिंदू-मुस्लिम विरोध पर दुःख प्रकट करते हुए कहते हैं :

हाय हिंद ! अफ़सोस ज़माना कैसा आया।
जिसने करके सितम भाइयों को लड़वाया।।
मुसलमान-हिंदुओ ! यही हैं क़ौमी दुश्मन।
जुदा-जुदा जो करें फाड़ कर चोली-दामन।।[10]

व्यापक रूप से स्वदेशी आंदोलन का प्रारंभ तो 1905 में बंग-भंग के बाद हुआ, जब राष्ट्रीय रोष, विदेशी माल के बहिष्कार और विदेशी वस्त्रों की होली लगाने के रूप में, सर्वत्र-सुलभ दृश्य बन कर सामने आया, परंतु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका में सन् 1903 में ही अपनी एक कविता में स्वदेशी का महत्व प्रतिपादित करते हुए लिखा था :—

स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार कीजै, विनय इतना हमारा मान लीजै।
शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो, न जाओ पास, उससे दूर भागो ।।[11]

यह पंक्तियाँ प्रमाणित करती हैं कि हिंदी के साहित्यकार राजनैतिक आंदोलनों के अनुसरण-कर्ता नहीं, मार्ग-दर्शक रहे हैं। 'भारत-भारती' की इन पंक्तियों में विदेशी वस्तुओं के बहुत आयात और देशी उद्योग धंधों की अवनति की शोचनीय दशा पर कवि कितना क्षुब्ध दिखलाई पड़ता है :

माचिस विदेशी हम न लें, तो फिर अँधेरे में रहें।
हैं क्षुद्र छड़ियाँ तक विदेशी, और आगे क्या कहें ?
····हम काँच लेकर दूसरों से, दे रहे हीरे खरे।
निज रक्त के बदले मदोदक ले रहे हैं, हे हरे।।

नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर' ने भी विदेशी वस्तुप्रियता की मूर्खता पर अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर भारतीयों को व्यंग का लक्ष्य बनाया है :

---

9. राष्ट्रीय सिंहनाद (कविता संग्रह)—पृष्ठ 19।
10. स्वदेशी कुंडल—राय देवी प्रसाद 'पूर्ण'।
11. सरस्वती—जुलाई, 1903।

रुई नाज़ देशी दिया कीजिए। विदेशी खिलौने लिया कीजिए ॥
हवेली-घरों को सजाया करो। पड़े मस्त बाजे बजाया करो ॥[12]

भारत में कृषि की अवनति और उसके परिणाम स्वरूप कृषक वर्ग की दरिद्रता के लिए विदेशी शासन ही अधिकांशतः उत्तरदायी है। इस कटु सत्य को निर्भीक भाव से प्रकट करने में आचार्य द्विवेदी या इस युग के अन्य साहित्यकारों ने किसी प्रकार का संकोच अनुभव नहीं किया। आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' में अमेरिका में कृषि कार्य विषय पर निबंध लिखते हुए स्पष्ट रूप से लिखा: यहाँ की गवर्नमेंट ने देश के कुछ अंशों को छोड़ कर अन्यत्र सभी कहीं कृषि को अपने अधिकार में कर रक्खा है।····अतएव उसने भूमि के लगान और मालगुज़ारी के संबंध में जो कानून बनाए हैं, वे बहुत कड़े हैं।[13]

कृषकों की दुर्दशा इस सीमा तक निरंतर लेखकों की दृष्टि में रहती थी कि जब पं० श्रीधर पाठक ने 'हेमंत' शीर्षक कविता लिखी तो मिश्र जी ने उस कविता की आलोचना करते हुए उसमें भारतीय कृषकों की दीन दशा का उल्लेख न होने की ओर संकेत किया। जब पाठक जी ने उत्तर देते हुए लिखा, "कि हेमंत में अकाल-पीड़ित प्रजा का विषय डाल देने से गुण के स्थान दूषण आ जाता, वर्णन का प्राकृतिक माधुर्य फीका पड़ जाता, इष्ट रस नष्ट हो जाता, सारा पद्य भ्रष्ट हो जाता।" तो मिश्रजी ने जो अभिनिवेश-पूर्ण प्रत्युत्तर दिया, उससे उनकी साहित्यिक प्रतिभा की गति-शीलता और चिंतन के नवीन मान दंडों का पता लगता है। मिश्र जी लिखते हैं, "धन्य है आपको, जिस समय भारतवर्ष में 'शुष्कम्' के अतिरिक्त सरस हरित पत्र भी नहीं दिखलाई देता था, आपको उस समय भी दिव्य दृष्टि से सब सरस हरे-भरे खेत दिखाई दिए। यही नहीं, श्रीमान की दिव्य दृष्टि ने और भी कमाल किया है, सड़कों और बाज़ारों में फिरते हुए दुर्भिक्ष-दलित पुरुष तो दृष्टि-गोचर नहीं हुए, पर अंतरंग रहस्यमय 'सुरति सुख' देखने में दूरबीन को भी मात कर गए····वस्तुगत्या यह हमारी भूल थी कि हम श्रीधर जी अलौकिक कविता में इस प्रकार निकृष्ट लौकिक भाव को देखने की आशा करते थे, कहाँ भला भाग्यहीन, अकाल पीड़ित भारतीय प्रजा, और कहाँ सुरति-सुख-निरति सौभाग्यशाली श्रीमान पं० श्रीधर महाराज।"[14]

भारतीय जनता की गाढ़े परिश्रम की कमाई को लूटकर आनंद मनाने वाले वर्गों के प्रति द्विवेदी-युग के साहित्यकारों का रोष, उनकी वस्तु-स्थिति को हृदयंगम करने की शक्ति, सहज संवेदन-शीलता और सबल नैतिक चेतना के परिणाम स्वरूप था। प्रसिद्ध कवि शंकर की निम्नलिखित पंक्तियों में उस युग के यथार्थ का जीवंत चित्रण देखा जा सकता है:

क्रूर कुशासन की धुजधारी, कट्टर कूट कूनीति प्रसारी;
हा न लोक मत से डरती है। भारत का भुरता करती है।
अकड़ अड़ाती है चित चाही। अटकी कुटिला नौकर शाही।
····मौज उड़ाते रिश्वत खब्बा। उमगें लीडर माल कमव्वा।
ऊलें पुलिसमैंन पटवारी। विचरैं चरुवा चक्र सुखारी।
····डेढ़ टका प्रति वासर पाते। पर कर, चंदा, टैक्स चुकाते।
चूसे रुधिर कचेहरी चंडी। रगड़े रेल उड़ाकर झंडी।[15]

इस युग के लेखकों ने शिक्षा प्रसार के लिए प्रबल जनमत तैयार करके सरकार को शिक्षा पर अधिक

[12]शंकर सर्वस्व—अविद्यानंद का व्याख्यान, पृष्ठ 159।
[13]लेखांजलि (निबंध-संग्रह), आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 116।
[14]माधव-मिश्र-निबंध माला (काव्यालोकन), पृष्ठ 28-29
[15]शंकर सर्वस्व।

धन व्यय करने के लिए बाध्य किया। शिक्षा के ग़लत रूप और उसके दुष्परिणामों की भी कम आलोचना नहीं हुई। इस प्रश्न पर भी गंभीरता से विचार किया जाने लगा कि प्राचीन भारत के शिक्षादर्शों से नवीन शिक्षा पद्धति के निर्माण में कहाँ तक सहायता मिल सकती है। हिंदी का प्रचार और प्रसार तो इस युग के लेखकों का व्रत ही था। हिंदी के लेखक के लिए हिंदी प्रचार राष्ट्रीयता के विकास का ही एक ग्रंग था। सुकवि 'शंकर' ने इसीलिए यह घोषणा कर दी थी कि :

'हिंदी नहीं जाने, उसे हिंदी नहीं जानिए।'

धार्मिक क्षेत्र में विद्यमान साधु वेषधारी लंपटों और पाखंडियों को साहित्यिकों ने अपने व्यंग का निशाना बनाया। उन्होंने सड़ी-गली सामाजिक प्रथाओं और गए-बीते रीति-रिवाजों की भी अच्छी खबर ली। श्राद्ध खाने वाले पुरोहित, वर्ण श्रेष्ठता का दम भरने वाले निरक्षरभट्ट ब्राह्मण, भोग-लोलुप कपटाचारी साधु, भूत-चुड़ैल झाड़नेवाले ओझा, कोई भी तो इनके वाग्-वाणों से नहीं बचा। छूत-छात, दहेज-प्रथा, बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, विधवा-प्रथा और पर्दा आदि का इन लेखकों ने जहाँ डट कर विरोध किया, वहाँ पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण ग्रौर फ़ैशन-प्रियता आदि की आलोचना करने में भी पीछे न रहे। इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि सभी लेखकों का दृष्टिकोण सर्वथा रुढ़ि मुक्त नहीं था। कुछ विधवा-विवाह का समर्थन करना उचित नहीं समझते थे, तो किसी की दृष्टि में जाति-व्यवस्था का विरोध अनुपयुक्त प्रतीत होता था। श्री मैथिलीशरण गुप्त आदि जाति-व्यवस्था में परिष्कार और सुधार चाहते थे, उसे नष्ट करने के पक्षपाती नहीं थे। नारियों को राजनैतिक अधिकार देने में बड़ी हिचकिचाहट थी। श्री वृंदावन लाल वर्मा ने 1914 की 'सरस्वती' के एक अंक में 'सफ़ेजिस्ट की पत्नी' शीर्षक कहानी लिखी थी, जिसमें लेखक का मत सफ़ेजिस्ट आंदोलन (जो फ्रांस की नारियों को मताधिकार दिलाने वाला एक प्रगतिशील आंदोलन था) के विरोध में था। इस प्रतिगामी प्रवृत्तियों के रहते हुए भी समूचे रूप से देखने पर यह कहना अतिशयोक्ति-पूर्ण न होगा कि इस युग का हिंदी का साहित्यकार न केवल समय के समाज से क़दम मिला कर चल रहा था, अपितु उसकी विधायिका शक्ति को गति और दिशा भी दे रहा था। उसने अपनी वाणी का सार्थक प्रयोग कर समाज से ऋण-मुक्त होने का सफल प्रयास किया था।

तुलनात्मक विवेचन

द्विवेदी और भारती

—एन० नारायण

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के दो महान कवि थे—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और भारती। दोनों ही अपनी-अपनी भाषा के अमर रत्न हो गए हैं। जिस प्रकार द्विवेदी जी की रचनाओं में राष्ट्रीय भावना ओतप्रोत है वैसे ही तमिल के महाकवि भारती (सुब्रह्मण्य भारती) की रचनाओं में भी राष्ट्रीय भावना भरपूर है और दोनों ही अपनी-अपनी भाषाओं में राष्ट्रीय भावनात्मक रचनाएँ रचने में सर्वप्रथम थे।

द्विवेदी जी एक तरह से खड़ी बोली के संस्कार करने वाले कवि थे। भारती को यद्यपि तमिल का संस्कार करने की ज़रूरत न थी, फिर भी पंडिताऊ भाषा को सरल बनाकर उसमें नया जोश डालने का काम करना पड़ा। जिस प्रकार द्विवेदी जी की रचनाओं में—संस्कृत गर्भित समास पद्धति और सरल, सुबोध स्वतंत्र पद्धति—दो शैलियाँ प्राप्त होती हैं, वैसे ही भारती में भी। द्विवेदी जी संस्कृत के ग्रंथों के उच्च कोटि के अनुवादक थे तो भारती ने भी महाभारत के पांचाली शपथ-द्रौपदी दुकूल- का तमिल रूप प्रस्तुत किया और उसमें पांडवों के रूप में देश की हालत का और कौरवों के रूप में विदेशी आततायी शक्तियों का चित्रण किया। उन रचनाओं में राष्ट्रीय भावना को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और स्वतंत्र होने की, आतताइयों के बंधन से मुक्त होने की हमारी प्रबल अभिलाषा ज़ाहिर की।

द्विवेदी जी 'सरस्वती' के संपादक थे तो भारती भी 'स्वदेश मित्रन' के। दोनों ही कवि के अतिरिक्त कहानीकार भी थे। द्विवेदी युग के प्रमुख कवि श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की रचनाओं में भारतीय संस्कृति की जो मनोवैज्ञानिक उत्कृष्ट व्याख्या उपलब्ध है वह भारती की रचनाओं में भी प्राप्त है :

> "यदि कोई पीड़ित होता है तो
> उसे देख सब घर रोता है।

दूसरे के दुख में भाग लेने वाला ही मनुष्य है। समाजवादी रचना का उद्देश्य यही है कि एक दूसरे के सुख-दुख में भाग लें। इस दृष्टि से द्विवेदी जी एक समाजवादी कलाकार थे। भारती द्विवेदी जी से भी पहुँचे हुए समाजवादी कलाकार थे। इसीलिए भारती ने कहा—'तनि ओरुवनुक्कु उणविलैएनिल जयत्तिनै अषित्तिडुवोम'। इसका मतलब यह कि समाज में यदि एक भी व्यक्ति बिना अन्न के भूख से तड़प रहा है तो सारे संसार का नाश कर देंगे। इससे स्पष्ट है कि समाज में किसी को दुख न भोगना चाहिए। अगर एक व्यक्ति दुख भोगे तो उसके दुख को दूर करने का भार व कर्तव्य दूसरों का है। अन्यथा सारे संसार को नष्ट कर देना चाहिए। भारती कितने पहुँचे हुए आदर्श समाजवादी थे। द्विवेदी जी ने हिंदी का प्रचार व प्रसार किया तो भारती को भी यह काम करना पड़ा। अँग्रेज़ी-मोह में पड़े हुए लोग अपनी-अपनी भाषा को कुछ मानते ही न थे। उनके अँग्रेज़ी मोह को तोड़कर उनमें अपनी-अपनी भाषा के प्रति श्रद्धा व लगन पैदा करने का काम दोनों को ही करना पड़ा। दोनों ही अँग्रेज़ीपन के विरोधी थे और अपनी सभ्यता व संस्कृति पर दोनों को गर्व था। दोनों की रचनाओं में शिष्ट, तीखा व्यंग्य पाया जाता है।

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में लिखा था—'हिंदी जिन विदेशी शब्दों को आसानी से ग्रहण कर सके उन्हें तुरंत ही अपने में मिला लेना चाहिए।' भारती भी इसके समर्थक थे। भारती ने यहाँ तक कहा कि दूसरी भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाओं का तमिल में अनुवाद कर लेना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दो महान् कवि हमारे बीच में थे और दोनों यद्यपि भाषा की दीवार के आर-पार बैठे थे फिर भी भावना उनकी एक थी, हृदय उनका एक था, उद्देश्य उनका एक था। जिस प्रकार आज के कई प्रसिद्ध हिंदी लेखक अपने को द्विवेदी जी का शिष्य मानने में गर्व का अनुभव करते हैं वैसे ही तमिल के कई प्रसिद्ध लेखक व कवि भारती को अपना गुरु मानने में गर्व का अनुभव करते हैं।●

आचार्य द्विवेदी और श्यामसुंदर दास

--रुद्र काशिकेय

बात सन् 1933 ई० की है। प्रेमचंद जी 'हंस' का काशी अंक प्रकाशित करने जा रहे थे। स्वभावतः उन्होंने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से भी दो शब्द लिख देने का आग्रह किया और द्विवेदी जी ने 'जहँ बस सम्भु भवानि' वाले संत-सिद्ध लहजे में काशी की स्तुति[1] करते हुए 'हंस' को श्रीवृद्धि का प्रशस्त आशीर्वाद दिया। इस प्रकार उन्होंने दिखा दिया कि कतिपय काशीवासियों से उन्हें भले ही कुछ शिकायत रही हो, काशी के प्रति उनके मन में कोई दुर्भावना नहीं थी। इसी तरह 27 दिसंबर, सन् 1897 ई० से अपने निर्वाणकाल तक 'सभा' के मान्य सदस्य बने रह कर 'सभा' की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाले कार्यों में सदैव हार्दिक योग देकर एक हज़ार रुपए के साथ ही अपनी साहित्यिक संपत्ति काशी नागरी प्रचारिणी सभा को प्रदान कर उन्होंने भली भाँति प्रमाणित कर दिया कि सभा के किसी अधिकारी से भले ही उनकी पटरी न बैठती रही हो, स्वयं सभा के प्रति उनके प्रेम में कहीं कोई कमी नहीं थी। फिर भी हिंदी जगत के समक्ष सभा और द्विवेदी जी के मतभेदों का बहुत बढ़ा चढ़ा कर[2] इतना अधिक प्रचार किया गया था कि वह प्रसंग आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास का महत्त्वपूर्ण अग बन गया है। छोटी सी बात बतंगड़ हो उठी है। यद्यपि मूल में थोड़ा सत्य अवश्य है परंतु वह भट्ट-भणंत और चारण-चाटुकारिता की शाखा-प्रशाखाओं के घटाटोप से इस प्रकार छुपा लिया गया है कि सत्य का प्रकाश सर्वथा उसी में छिप गया है। तथ्य की कुल्हाड़ी से सारा झाड़-झंखाड़ साफ़ कर उस सत्य का स्वरूप प्रकट करना ही पड़ेगा।

स्पर्द्धा और द्वेष, मानव-मन की ऐसी दो प्रवृत्तियाँ हैं जिनकी आकृतिगत समानता प्रायः भ्रम उत्पन्न कर देती है। स्पर्द्धा के भाव को इसी लिए कभी-कभी द्वेष भाव समझ लिया जाता है। इस पर विचार नहीं किया जाता कि आकृतिगत समानता होते हुए भी स्पर्द्धा और द्वेष की प्रकृति में गहरा अंतर है। परंतु आकृति तो सहज ही दिखाई दे जाती है, प्रकृति का ही पता बड़ी कठिनाई से चलता है। स्पर्द्धा का भाव श्रेयस्कर है, द्वेष का भाव अमंगलजनक। फिर भी न जाने किस मजाल में पड़कर हिंदी-संसार के समक्ष आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और डा० श्यामसुंदर

---

1. 'यस्यं सदैव भुवनत्रय संस्तुतायां
विश्वेश्वरो वसति शैलसुता समेतः।
काशी च सैव विबुधाधिप भक्ति भूमि
'हंस'--श्रियं 'बहु विधां वितनोतु नित्यम् ॥'
—'हंस', वर्ष 4, संख्या 1,

2. 'उससे स्पष्ट है कि सभा के अधिकारी क्यों उनसे चिढ़े और उनके साथ स्वर्गवासी हो जाने पर भी वैसी प्रवृत्ति बनाए हुए हैं'—सभा और सरस्वती पृ० 2।

द्विवेदी जी ने निश्चय कर रखा था कि जिस नागरी प्रचारिणी सभा ने उनके संग इतना अन्याय किया है उसके अहाते में वे पाँव न धरेंगे।

—'हिमालय', पुस्तक—संख्या 12, पृ०—510

दास की वैयक्तिक स्पद्‌र्धा 'सभा' 'सरस्वती' का संघर्ष सिद्‌ध की गई। 'सभा' से द्‌विवेदी जी का झगड़ा करार दिया गया। इसे झगड़ा बताने वाले, इस झगड़े का प्रचार करने वाले कौन लोग थे, उन लोगों का इसमें क्या स्वार्थ था, इन सब बातों की छान बीन तो किसी शोधछात्र का काम है, यहाँ तो इतना ही कहा जा सकता है कि यदि वास्तव में कोई झगड़ा था तो उस झगड़े के मूल में न कोई साहित्यिक समस्या थी और न कोई सैद्‌धांतिक प्रश्न। केवल दो महापुरुषों के स्वाभिमान के प्राचीन पाषाण परस्पर टकरा गए थे। उससे कटु वचनों की कुछ चिनगारियाँ भी चिटक उठी थीं। पिशुनता के पंखे से कपट की हवा देकर उनकी लपट बढ़ाने का भी दुष्प्रयत्न किया गया था, परंतु परिणाम वही हुआ जैसा कि संस्कृत के किसी सूक्तिकार ने कहा है कि सज्जनों का क्रोध दुर्जनों के स्नेह के समान होता है अर्थात् पहले तो होता ही नहीं, होता भी है तो देर तक ठहरता नहीं, देर तक ठहर भी गया तो परिणाम में विपरीत फल देता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्‌विवेदी और डा० श्यामसुंदर का पारस्परिक क्षोभ भी सज्जनों का सात्विक आक्रोश था। इसीलिए उसका परिणाम अमंगलजनक न होकर हिंदी के लिए श्रेयस्कर ही हुआ।

आँखों देखा और कानों सुना सत्य है कि एक कमली पर दस साधु एक साथ लेट तक सकते हैं परंतु एक ही सिंहासन पर दो राजा एक साथ बैठ भी नहीं सकते। दल के अंतर्गत अनुयायियों की संख्या अनंत रह सकती है परंतु दलपति—दल का नेता—का स्थान तो एक समय में ही एक आदमी ग्रहण कर सकता है। कुछ ऐसी ही स्थिति आचार्य द्‌विवेदी जी और डा० श्यामसुंदर दास जी की भी थी।

आचार्य द्‌विवेदी और डा० दास दोनों ही हिंदी के तुल्यबल महारथी थे। दोनों का स्वाभिमान हिमालय के समानांतर सिर ऊँचा किए खड़ा रहता था। दोनों की जीवन-गति एक ही सिद्‌धांत सरणि पर चलती थी। साहित्य कानन के ये दोनों ही केसरी इस शेर के कायल थे कि—

'रहम पर ग़ैर के जीना कैसा ?
ज़िंदगी का यह क़रीना कैसा ?'

ऐसी स्थिति में उस समय दोनों एक साथ न 'सभा' में रह सकते थे और न एक साथ 'सरस्वती' में ही। यही स्वाभाविक भी था। यदि इसके विपरीत कुछ हुआ होता तो वह अस्वाभाविक तो होता, अमनोवैज्ञानिक भी हो जाता।

सन् 1900 ई० में प्रयाग के इंडियन प्रेस ने 'सरस्वती' का प्रकाशन आरंभ किया था। इसके लिए सभा ने ही इंडियन प्रेस के स्वामी को सहयोग और सहायता दी थी। उक्त प्रेस के स्वामी स्व० चिंतामणि घोष के 13 जनवरी सन् 1905 की तिथि वाले सभा को प्रेषित पत्र में एक वाक्य है—'सरस्वती' का जन्म सभा की सहायता से हुआ था। यही नहीं, 'सरस्वती' के प्रथम पृष्ठ पर यह भी छापा जाता था कि 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित' सभा ने ही 'सरस्वती' के लिए संपादक समिति संघटित की थी जिसके सदस्य थे सर्वश्री कार्तिक प्रसाद, किशोरीलाल गोस्वामी, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', रायकृष्ण दास और श्यामसुंदर दास।

यह स्वाभाविक था कि काशी में बैठकर प्रयाग से प्रकाशित होने वाली पत्रिका के संपादन में अनेक कठिनाइयाँ आएँ। यही हुआ भी और इसीलिए 'संपादक समिति' के स्थान पर सन् 1903 ई० में 'सरस्वती' के संपादन के लिए आचार्य द्‌विवेदी जी बुलाए गए। इस व्यवस्था से डा० श्यामसुंदरदास के अहं को धक्का लगना भी स्वाभाविक ही था। बहु प्रचारित 'द्‌विवेदी-दास' संघर्ष का मूल और सर्वप्रथम कारण यही घटना थी। आनुषङ्गिक कारण अन्य भी हो सकते हैं जैसे, अल्हड़ साहित्यकारों की विनोदी प्रकृति।

जहाँ तक अल्हड़ विनोदी प्रकृति का प्रश्न है वह दो कलाकारों, विद्‌वानों या कवियों को आपस में लड़ाकर उनकी प्रतिभा का चमत्कार देखना चाहती है। ऐसी विनोदी प्रकृति वालों का उद्‌देश्य साधु और निर्दोष हुआ करता है परंतु उनकी कार्यविधि कभी कभी अनर्थ की जननी भी बन जाती है। शमसुल उलमा मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने उर्दू के सुप्रसिद्‌ध मर्सियागो शायरों, अनीस और दबीर के प्रसंग में लिखा है कि उस समय लखनऊ में एक मंडली ऐसी भी थी जो दो गुणियों को लड़ाकर तमाशा देखा करती थी। यह मंडली फिर मैदान में आई और एक दल अनीस का समर्थक बन कर 'अनीसिया' कहा गया और दूसरा दबीर का पक्षपाती 'दबीरिया।'

सौभाग्यवश या दुर्भाग्यवश उस समय 'अनीसिया--दबीरिया' मंडली जैसा एक गुट काशी में भी मौजूद था। इस गुट के सदस्यगण प्रायः तरुण, धनी, 'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई' और यदि कहा जाए तो कुछ हद तक अल्हड़ अविवेकग्रस्त भी थे। नीति वागीशों का अभिमत यह है कि यौवन, धन, प्रभुत्व और अविवेक में प्रत्येक अकेले भी महा-अनर्थकारी हो सकता है, फिर वहाँ क्या होगा जहाँ वे चारों तत्त्व एक साथ वर्तमान हों? इस प्रश्न का कि वहाँ क्या होगा, उत्तर यही है कि वहाँ वही होगा जो आचार्य द्विवेदी और आचार्य श्यामसुंदर दास के पारस्परिक संबंध में हुआ।

डा० श्यामसुंदर दास का ध्यान 'सरस्वती' से हट चुका था। उनका उर्वर मस्तिष्क हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए कोई नया साधन ढूंढ़ने, कोई नई योजना बनाने में व्यस्त था। रायकृष्णदास के शब्दों में 'धीरे धीरे सन् 1910 की ग्रीष्म ऋतु आई। श्यामसुंदर दास ने हिंदी साहित्य संमेलन का अनुष्ठान आरंभ किया। इस योजना ने हिंदी जगत में एक अपूर्व उत्साह और उद्वेलन उत्पन्न कर दिया किंतु साथ ही, जैसा सभी सदनुष्टानों में होता है, एक ग्रौर विरोध भी खड़ा हो गया।'

राय साहब के ही शब्दों में उस विरोध की पद्धति यह रही कि लोगों ने सोचा कि संमेलन के अवसर पर द्विवेदी जी काशी बुलाए जाएँ सभा में वह आवेंगे ही नहीं और इस प्रकार संमेलन का मूर्तिमान विरोध हो जाएगा।

वस्तुतः यह संमेलन का नहीं श्यामसुन्दर दास जी के मूर्तिमान विरोध का आग्रह था जो इस प्रकार चरितार्थ किया गया कि द्विवेदी जी काशी आए परंतु संमेलन के स्थल-नागरी प्रचारिणी सभा नहीं गए। विरोधियों की मनोकामना पूरी हुई। उन्होंने यह सोच कर संतोष की साँस ली कि काशी में आकर भी द्विवेदी जी संमेलन में न जाएँ, इससे बढ़कर कलंक की बात संमेलन वालों के लिए दूसरी नहीं हो सकती। और संमेलन कोई दूसरे नहीं, स्वयं श्याम-सुंदर जी थे, और लोगों को द्विवेदी द्वारा संमेलन का बहिष्कार अभीष्ट नहीं था, श्यामसुंदर दास जी का अपमान इष्ट था। यह इष्ट-सिद्धि आगे चलकर भी कब कब और किस प्रकार से की गई यह किसी दूसरे लेख का विषय है। यहाँ तो इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि सभा और 'सरस्वती' को पाली बना कर आचार्य द्विवेदी और डा० दास को निरंतर लड़ाते रहने का सपना जिन लोगों ने देखा था अंततः हाहाकारी निराशा ही उनके हाथ लगी। सं० 1979 वि० में आचार्य द्विवेदी जी सभा के अध्यक्ष, और डा० श्यामसुंदर दास उसके प्रधान मंत्री रहे। इंडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित किसी पाठ्य पुस्तक की प्रतिद्वंदिता में कहीं अन्यत्र से निकलने वाली पाठ्य पुस्तकों की समालोचना आचार्य द्विवेदी और डा० दास--'सरस्वती' में एक ही स्वर से करते रहे। डा० दास की कृतियाँ इंडियन प्रेस से ही प्रकाशित होती रहीं।

इन तथ्यों के प्रकाश में स्पष्टतः देखा जा सकता है कि संभवतः हिंदी जगत् के नेतृत्व के प्रश्न पर आचार्य द्विवेदी और डा० दास में क्षणिक मतभेद हो गया था। फलतः थोड़ी देर के लिए दोनों ने परस्पर एक दूसरे की ओर से परम नरमी के साथ आँखें फेर ली थीं फिर भी बकौल शायर के--

'तू ने फेरी लाख नरमी से नज़र,
दिल के आईने में बाल आ ही गया।'

इसी क्षुद्र 'बाल' को लोगों ने विकट बवाल बना डाला और द्विवेदी जी की मृत्यु के बाद उस बवाल को जिलाए रखने का प्रयत्न किया। काश ऐसा करने वाले कैंची न होकर लेई हुए होते। इसीलिए तो श्री किशोरीदास वाजपेयी के शब्दों में कहना पड़ता है कि 'यह हिंदी--संसार है।' ●

द्विवेदी जी और बालकृष्ण भट्ट

--मधुकर भट्ट

साहित्यकारों का विनोद अपने ढंग का निराला होता है। जब दो साहित्यकार एक साथ मिल जाते हैं और मड में रहते हैं तो ऐसी ऐसी बातें होती हैं जो अविस्मरणीय होती हैं। यदि सौभाग्य से दोनों ही गंभीर प्रवृत्ति के हुए तो मनो-विनोद छेड़-छाड़ का रूप धारण कर लेता है। कुछ ऐसा ही विनोद पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और पं० बालकृष्ण भट्ट का होता था।

'सरस्वती' के वरिष्ठ संपादक आचार्य द्विवेदी जी 'सरस्वती' के संपादन काल में जब प्रयाग में रहते थे तब बहुधा प्रयाग-निवासी पं० बाल कृष्ण भट्ट से मिलने उनके निवास स्थान पर जाया करते थे। भट्ट जी बड़े प्रेम से उनसे मिलते और आदर के साथ बैठाते। तरह-तरह की बातें दोनों में होतीं। एक 'सरस्वती' के संपादक थे तो दूसरे 'हिंदी-प्रदीप' के। दो संपादक जन मिल जाते तो संस्कृत काव्य पर बात अधिक छिड़ती।

एक बार आचार्य द्विवेदी जी भट्ट जी के यहाँ गए। उस दिन भट्ट जी के पास पान सीमित ही थे। द्विवेदी जी उनके-पास जाते ही सबसे पहले पान पर ही धावा मारते। इसलिए उस दिन जब भट्ट जी ने यह सुना कि द्विवेदी जी आए हैं तो पहले से ही पान हटा दिए। बैठक में भट्ट जी पलथी मारे 'हिंदी-प्रदीप' का मसाला तैयार कर रहे थे। द्विवेदी जी को बड़े आदर से बैठाया। द्विवेदी जी की आँखें अपनी प्रिय वस्तु की खोज में ही थीं। भट्ट जी का गिलौड़ी दान न देख, पूछ ही बैठे 'पंडित जी आज पान-वान नहीं रक्खे हैं।" बस भट्ट जी बिगड़ पड़े। 'बस, आयो और पान-पान चिल्लाने लगौ, निगोड़ो पान भी का बला है?" इतना कह कर बात पलट कर दूसरी बात पर आ गई। साहित्य चर्चा छिड़ गई। थोड़ी देर बाद स्वयं उठे और गिलौड़ी-दान ले कर आए। द्विवेदी जी का भी ध्यान उधर गया। भट्ट जी ने कहा 'घूर-घूर के का देखत हो: एकै बीड़ा देब, आज पान चुर गवा है।" द्विवेदी जी हँसने लगे कहा कि 'पंडित जी पहले देव तो फिर कानून कियो।' भट्ट जी ने छाँट कर जो सबसे छोटा बीड़ा था वही दिया। द्विवेदी जी मचल पड़े। बूढ़े भट्ट जी ने भुनभुन करते हुए एक बीड़ा पान और दे दिया। स्मरण रहे कि भट्ट जी और द्विवेदी जी दोनों पान के बड़े शौकीन थे। स्वयं ही भिन्न-भिन्न मसाले डालकर पान लगाते और शौक से खाते-खिलाते, पर पान देने के पहले 'निवाहरिया', 'निगोड़ा' आदि गाली से सुसज्जित करके तभी पान देते। तब भी भट्ट जी से पान लेने के लिए सभी तैयार रहते। पान के विषय में भट्ट जी से द्विवेदी जी की खूब लड़ाई होती। पर वह लड़ाई प्रेम की होती इसमें जीत द्विवेदी जी की ही होती क्योंकि द्विवेदी जी उनसे कहते 'पंडित जी! दुधारू गाय की चार लात सहना पड़ता है।' सरल हृदय भट्ट जी--बड़े प्रेम से पान निकाल कर देते और कहते 'समझ लो-अब न देब' पर कुछ ही क्षण बाद फिर देते। कई बार तो द्विवेदी जी से भट्ट जी इसलिए नाराज़ हो जाते कि वह स्वयं ही गिलौरी-दान से पान निकाल कर खा जाते।

भट्ट जी से झिड़की खाने में और उन्हें खिझाने एवं चिढ़ाने में द्विवेदी जी को बड़ा आनंद मिलता था। कभी-कभी द्विवेदी जी केवल चिढ़ाने के लिए भट्ट जी से 'जयदेव' के 'गीत गोविंद' की आलोचना कर देते, भट्ट जी बिगड़ जाते और एक से एक सुंदर श्लोक जयदेव का सुना-सुना कर व्याख्या करने लग जाते और कहते 'देखो साहित्य में कितना

हीरा भरा है जितना डूबौ उतना रस मिले, भट्ट जी के बार-बार कहने पर जब कोई उनकी बात न मानता तो बहुत खीझते और कहते 'दिमाग में तो गोबर भरा है तू का समझवो।' द्विवेदी जी भट्ट जी को चिढ़ा कर और उनके मुख से निर्भत्सना-वाक्य सुन कर सुख का अनुभव करते थे। भट्ट जी 'निवहुरिया' गाली बहुत देते थे। 'निबहुरिया' का अर्थ द्विवेदी जी तथा श्रीधर पाठक 'मोक्ष' से लगाते थे अर्थात् 'जो बहुर कर न आवै सो निबौहरिया।' इस प्रकार भट्ट जी की गाली भी सारगर्भित होती थी। भट्ट जी जब खीझ जाते तो स्वयं अपना ही सिर पीटने लगते।

एक बार कई दिन बीत गए, द्विवेदी जी भट्ट जी के यहाँ नहीं गए। एक दिन भट्ट जी स्वयं गए और पूछा 'का भया? बहुत दिन से आए नहीं, हमसे बिगड़ तो नहीं गएव। भैया हमारी बात का बुरा मत माना करो, का करी, आदत है कुछ न कुछ बोल देइत है। कोई ग़लती भई होय तो माफ़ कर दियो।' द्विवेदी जी ने कहा, 'नहीं पंडित जी बिगड़ेंगे काहे। इधर समय नहीं मिला नहीं आ सके। 'सरस्वती' के पीछे समय नहीं मिलता।' भट्ट जी ने कहा, 'हाँ भैया! हमऊँ के पीछे 'हिंदी प्रदीप' निवहुरिया पड़ी है जान ले के छोड़िए। अच्छा भइया कभी-कभी आय जावा करो, हम कुछ कह दिया करो तो माफ कियो।' इसी प्रकार माफ़ी माँगते रहते और द्विवेदी जी बार-बार कहते 'नहीं भट्ट जी बुरा माने की का बात है।' अंत में भट्ट जी ने कहा 'अरे! बुरा मान लेबो हमरे ठेंगे से। अरे! जो कुछ देते हो न देवो। न अउबो हमरे ठेंगे से।'

इस प्रकार हम देखते हैं भट्ट जी और द्विवेदी जी दोनों बड़े सहृदय साहित्यकार थे। एक यदि हिंदी गद्य के निर्माता और प्रचारक थे तो दूसरे हिंदी गद्य के परिष्कारक और सुधारक थे। द्विवेदी जी जब भट्ट जी के यहाँ पहुँच जाते तो घंटों साहित्य चर्चा होती। दोनों बात करने में इस तरह लीन हो जाते कि समय का ख्याल भी न रह जाता।

भट्ट जी की मृत्यु से द्विवेदी को गहरा धक्का पहुँचा था। उन्होंने उनकी मृत्यु पर शोक संदेश देते हुए यह स्पष्ट किया था कि वह उनकी व्यक्तिगत क्षति हुई। भट्ट जी की मृत्यु पर शोक प्रकाश करते हुए अगस्त 1914 के 'सरस्वती' में द्विवेदी जी लिखते हैं :

'भट्ट जी तुम्हारे शरीर त्याग का समाचार सुन कर बड़ी व्यथा हुई। इस व्यथा की इयत्ता हम किस प्रकार बताएँ। हमारा कंठ रुँधा हुआ है, हमारे नेत्र साश्रु हैं, हमारा शरीर अवसन्न है। इलाहाबाद में तुम्हारे रहते वहाँ जाने पर, यह जन तुम्हारे दर्शनों से बहुधा वंचित नहीं हुआ। अपने आने की सूचना भी, वह प्रायः दो दिन पहले ही तुम्हें देता रहा है। इसलिए कि तुम मकान ही पर मिलो और तुम्हारा गिलौड़ी दान भी भरा हुआ मिले। तुम्हारी इच्छा न रहते हुए भी तुम्हारे पान हम तुम्हारे पानदान से निकाल निकाल कर खा गए। कितनी ही दफ़े निठमई और फल तुमसे बलवत मँगवा कर हमने खाया। और भी न मालूम कितनी तकलीफें तुम्हें दीं। तुम्हें चिढ़ाने में, तुम्हें खिझाने में तुम्हारे मुख से निकले हुए निर्भत्सना वाक्य सुनने में सुख था। इसी से तुमको हम दिक करते थे। 'बाला चिरं चुंविता' की याद दिला कर तुम्हारी कटूक्तियाँ सुनते थे, तरह-तरह की वक्रोक्तियाँ कह कर तुम्हारे क्षणिक नहीं कृतक कोप की वृद्धि करते थे। इससे अपूर्व मनोरंजन होता था। एक अनिर्वचनीय सुखानुभव होता था। तुममें हमारी भक्ति थी। इससे तुम हमारी यह सारी धृष्टता क्षमा करते थे, हम पर कृपा करते थे, हमसे स्नेह रखते थे। यही कारण है कि आज हम तुम्हारे 'त्वंकार' का प्रयोग कर रहे हैं। इस त्वंकार के रस से तुम खूब अभिज्ञ थे। इस-लिए तो आज हमने 'आप' का बहिष्कार कर दिया है। भट्ट जी अब वे सरस कथाएँ और पुराने कवियों की वे हृदय-रंजित उक्तियाँ कहाँ सुनने को मिलेंगी? तुम तो चल दिए—भट्ट जी तुम्हारी कौन कौन बात याद करें।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि भट्ट जी के प्रति द्विवेदी जी के हृदय में कितनी भक्ति थी। द्विवेदी जी और भट्ट जी हिंदी साहित्य के युग निर्माता थे। निबंध के क्षेत्र में दोनों ही साहित्यकारों ने एक युग का निर्माण किया। यदि भट्ट जी हिंदी गद्य में निबंध के जन्मदाता थे तो द्विवेदी जी निबंध शिशु के प्रतिपोषक थे। हिंदी गद्य के निबंध क्षेत्र में भट्ट जी अपने युग का प्रतिनिधित्व करते थे तो द्विवेदी जी ने 'द्विवेदी' युग को अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से प्रकाशित किया। यदि द्विवेदी जी को वयोवृद्ध भट्ट जी से प्रगाढ़ भक्ति थी तो भट्ट जी को द्विवेदी जी से अपार स्नेह था। ●

आचार्य और जैनाचार्य

—अगरचंद नाहटा

हिंदी भाषा और साहित्य के महान् उन्नायकों में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। उन्होंने स्वयं तो अनेकों ग्रंथ और लेख लिखे ही हैं पर साथ ही अनेकों लेखकों और कवियों को प्रेरणा व प्रोत्साहन देकर उन्होंने आगे बढ़ाया है। उनकी रचनाओं के परिमार्जन में द्विवेदी जी ने अपना बहुमूल्य समय और श्रम देकर जो विशिष्ट कार्य किया है वह सदा के लिए स्मरणीय रहेगा। अकेला यदि एक व्यक्ति चाहे तो किसी भाषा और साहित्य को कितना उन्नत और समृद्ध बना सकता है, इसका विरल और उज्वल दृष्टांत द्विवेदी जी हैं। उन्हीं के कारण बहुत से लोगों ने अपनी गलतियाँ सुधारीं और शुद्ध तथा सुंदर साहित्य के निर्माण में महत्त्व का योगदान दिया। इस अर्थ में हम अनेकों लेखकों और कवियों के निर्माता के रूप में द्विवेदी जी का नाम एक महान् प्रेरक एवं प्रोत्साहक व्यक्तित्व के रूप में ले सकते हैं। 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के द्वारा उन्होंने इस दिशा में बड़ा भारी काम किया। ऐसे साहित्य-तपस्वी व्यक्तियों के द्वारा ही किसी भाषा और साहित्य का गौरव बढ़ता है।

माननीय द्विवेदी जी से मेरा साक्षात् संपर्क तो नहीं हुआ पर उनके ग्रंथों एवं लेखों से मैं बहुत प्रभावित हूँ। अतः उनकी जन्म शती के उपलक्ष में श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए मुझे अत्यंत प्रसन्नता है।

आचार्य द्विवेदी जी के कई साथी और संपर्क में आने वाले अनेकों व्यक्ति आज भी विद्यमान हैं। उनके संस्मरण अवश्य ही रोचक एवं प्रेरक होंगे। द्विवेदी जी का जीवन बहुत ही कर्मठ था और वे स्वभाव के बड़े सच्चे, खरे तथा मिलनसार थे। गुण-ग्राहकता तो उनका एक विशिष्ट गुण था। इसलिए जिस किसी व्यक्ति में जो भी गुण या विशेषता उन्हें दिखाई दी उसकी उन्होंने जी-खोल कर प्रशंसा की। इसी तरह जिनकी रचनाओं में उन्हें दोष दिखाई दिए, उनको प्रकट करने में भी कभी नहीं हिचके। ऐसे व्यक्ति वास्तव में विरले होते हैं। देश और समाज को वे जो विशिष्ट देन दे जाते हैं, उससे पीढ़ियाँ अनुप्राणित होती रहती हैं।

गुणग्राही होने के कारण ही जैन समाज के लोगों के साथ भी उनका मधुर संबंध रहा। 'सरस्वती' पत्रिका में जैन तीर्थों, संस्थाओं आदि के संबंध में समय समय पर बहुत से महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए। अनेकों प्राकृत, संस्कृत, हिंदी और गुजराती भाषा के जैन ग्रंथों की समालोचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं। कई ग्रंथों के संबंध में तो द्विवेदी जी ने स्वतंत्र लेख, विस्तृत समालोचना प्रकाशित की हैं। इससे मालूम होता है कि उन्होंने उन ग्रंथों का बहुत ही सूक्ष्मता और रसपूर्वक अध्ययन किया था।

वैसे तो वे कई जैन विद्वानों के सम्पर्क में आए, पर सबसे अधिक जिनके संपर्क वे आए और जिनका उन पर प्रभाव पड़ा, वे हैं आचार्य विजयधर्म सूरि। सन् 1911 के जून में उन्होंने एक लेख भी उक्त आचार्य श्री के संबंध में प्रकाशित किया जो उनके 'सुकवि संकीर्तन' नामक ग्रंथ में भी छपा है। उक्त लेख का नाम है—"शास्त्र विशारद, जैनाचार्य श्री विजयधर्म सूरि!" उक्त लेख के अंत में आचार्य श्री के संबंध में लिखा है कि—"आप बड़े महात्मा हैं। आपके दर्शनों से हम कई बार कृतार्थ हो चुके हैं।" इतना ही नहीं, सूरि महाराज के दो विद्यार्थियों से मिलकर भी उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। उनके विद्यार्थियों के नाम हैं—पं० हरगोविंद दास (पाइप सद्दमहन्नवो नामक प्राकृत कोश के निर्माता) और पं० बेचरदास दोशी (जो आज भी अहमदाबाद में विद्यमान हैं और प्राकृत भाषा के महान् विद्वान हैं।) इन दोनों विद्वानों को सूरि जी ने पाली भाषा और बौद्ध दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए महामहोपाध्याय डा० सतीशचंद्र विद्याभूषण के साथ सिंहल भेजा था। उनके संबंध में द्विवेदी जी ने अपने उपरोक्त लेख में लिखा है कि—"इन विद्यार्थियों से नहीं, महा पंडितों से, एक बार काशी में मिल कर हमने बहुत आनंद प्राप्त किया है।"

आचार्य विजय धर्म सूरि ने संवत् 1959 में कतिपय जैन मुनियों और श्रावकों के उच्च अध्ययन के लिए बड़े कष्ट उठाकर काशी में 'श्री यशोविजय जैन पाठशाला' नामक विद्यालय खोला। उसकी व्यवस्था जमाकर वे पूर्व देश के जैन तीर्थों की यात्रा करते हुए कलकत्ता पधारे और वहाँ से संवत् 1994 में जब पुनः काशी में पधारे तभी आचार्य द्विवेदी जी आचार्य श्री और उनके शिष्यों के अधिक संपर्क में आए। आचार्य श्री के शिष्य मुनि विद्याविजय जी ने आचार्य श्री की जीवनी 'आदर्श साधु' के नाम से संवत् 1974 में लिखी थी। इस ग्रंथ के पृष्ठ 59 में लिखा है कि 'पाठशाला का पुनरुद्धार होने के अनंतर दूर दूर से कई विद्वानों ने आकर पाठशाला का निरीक्षण किया और आपके दर्शन कर कृतार्थ हुए। 'उन विद्वानों की लंबी सूची में श्रीमान् पंडित प्रवर महावीरप्रसाद द्विवेदी (सरस्वती-संपादक) का भी नाम है।

आचार्य विजय धर्म सूरि का स्वर्गवास संवत् 1978 के भादवा सुदी 14 (अनंत चतुर्दशी) के दिन शिवपुरी (ग्वालियर) में हो गया। उनके स्वर्गवास का संवाद मिलने पर द्विवेदी जी ने दौलतपुर से ता० 17-9-22 को पत्र लिखा, जिसमें "आचार्य श्री का शरीर त्याग संवाद सुन कर दुख हुआ" लिखा है। सरस्वती के अक्तूबर, 1922 के अंक में आचार्य श्री की प्रशंसा प्रकट की और 1979 के कार्तिक शुक्ला पूर्णमासी को संस्कृत में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके निधन के समाचार से निरतिशय संताप समूह से पीड़ित होने का उल्लेख किया है। उक्त तीनों पत्र एवं संवादों को नीचे उद्धृत किया जा रहा है:--

(1)

आचार्य श्री का शरीर त्याग संवाद सुनकर दुःख हुआ। उन्होंने आदर्श त्याग स्वीकार करके धर्माचरण और धर्म-प्रचार किया था।

महावीरप्रसाद द्विवेदी
भू० पू० संपादक 'सरस्वती'
दौलतपुर।

(2)

जैनाचार्य जी की विद्वता के विषय में कुछ लिखना व्यर्थ है। बड़े-बड़े विद्वानों ने आपकी प्रशंसा की है। जैन इतिहास और जैन धर्म के लिए आपने जो कुछ किया है वह चिरस्मरणीय रहेगा। जैन धर्म के संबंध में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने आपकी विद्वता से सदैव लाभ उठाया। आपने कितने ही स्थानों में पाठशालाओं और विद्यापीठों की स्थापना की। काशी की 'यशोविजय पाठशाला' और बंबई का वीरतत्व प्रकाशन मंडल आपके विद्या प्रेम के स्मारक हैं। आपने अपने एक शिष्य के द्वारा जैन वालन्टीयर कोर (जैन-स्वयं सेवक मंडल) की भी स्थापना कराई। आपकी जैसी अगाध विद्वता थी, वैसा ही सरल जीवन था। प्रसिद्ध विद्वान टैसीटौरी ने आपके विषय में यह लिखा है 'आचार्य का हृदय प्रेम से भरा हुआ था। संसार के प्रत्येक जीव के प्रति उनकी सहानुभूति थी। आप एक सुयोग्य विद्वान तो थे ही, साथ ही एक आदर्श साधु और सुवक्ता भी थे। इसमें संदेह नहीं कि धर्माचार्यों में आपके समान प्रतिभावान् और देश-सेवक साधु कम हुए हैं।

'सरस्वती'
--अक्टोबर 1922 का अंक।

(3)

शास्त्रविशारद-जैनाचार्य विजय धर्म सूरि निर्धनवृत्तमाकलय्य निरतिशयसंतापसमूहेन पीडितमभवन्मे मनः। आचार्य महोदया अतीवोन्नत हृदयाः अनेकशास्त्रज्ञानपारगामिनश्चासन्। तेषांविद्याव्यासंग; शिक्षा प्रचार समभियोगः संस्कृतप्राकृतभाषयोर्नेपुण्याधिकारश्च विशालतरः आसीत्। लोकहिताकांक्षया तैः कृतानि नानानुएठानानि तेषां हृदयौदार्य्यं प्रकटी कुर्वंति। नूनं तेषां श्रद्धास्पदानां तिरोभावेन भारत्या भरत भूमेश्च महती हानिः संजातेति विनिश्चिनोति।

द्विवेदी महावीरप्रसाद

कार्तिक शुक्ला
पौर्णमासी
वि० सं० 1979

पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिन विजय जी से द्विवेदी जी का साक्षात संबंध हुआ या नहीं, यह तो मुझे मालूम नहीं है पर उनके 'प्राचीन जैन लेख संग्रह' के संबंध में द्विवेदी जी ने एक स्वतंत्र लेख 'सरस्वती' के जून 1922 के अंक में प्रकाशित किया था और इस संबंध में उनके दूसरे ग्रंथ 'शत्रुज्जयतीर्थोधार प्रबंध' की विस्तृत समालोचना सरस्वती के अगस्त 1927 के अंक में छपी थी। इन समालोचनाओं से मुनि जिन विजय जी की विद्वता की द्विवेदी जी पर गहरी छाप पड़ी थी स्पष्ट है। जैनों के संबंध में उन्होंने अपने उदार और गुण-ग्राहकता सूचक विचार कई बार व्यक्त किये।

जैन साहित्य की द्विवेदी जी ने समय समय पर मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। उपरोक्त प्राचीन जैन लेख की समालोचना करते हुए उन्होंने लिखा है—

"जैन-धर्म्मावलंबियों में सैकड़ों साधु-महात्मा और सैकड़ों, नहीं, हजारों, विद्वानों ने ग्रंथ रचना की है। उनकी इस रचना का बहुत कुछ अंश इस समय अप्राप्त है कुछ तो अराजकता के कारण नष्ट हो गया, कुछ काल बली खा गया, कुछ कृमि-कीटकों के पेट में चला गया। तथापि जो कुछ बच रहा है उसे भी थोड़ा न समझना चाहिए। अब भी जैन-मंदिरों में प्राचीन पुस्तकों के अनेकानेक भांडार विद्यमान हैं। उनमें अनंत ग्रंथ-रत्न अपने उद्धार की राह देख रहे हैं। ये ग्रंथ केवल जैन धर्म से ही संबंध नहीं रखते। इनमें तत्व-चिंता, काव्य, नाटक, छंद, अलंकार, कथा-कहानी और इतिहास आदि से भी संबंध रखने वाले ग्रंथ हैं, जिनके उद्धार से जैनेतर जनों की भी ज्ञान-वृद्धि और मनोरंजन हो सकता है। भारतवर्ष में जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसके अनुयायी साधुओं (मुनियों) और आचार्यों में से अनेक जनों ने धर्मोपदेश के साथ ही साथ अपना समस्त जीवन ग्रंथ-रचना और ग्रंथ संग्रह में खर्च कर दिया है। इनमें से कितने ही विद्वान, बरसात के चार महीने तो बहुधा केवल ग्रंथ लेखन में ही बिताते रहे हैं। यह इनकी इसी सत्प्रकृति का फल है जो बीकानेर, जैसलमेर और पाटन आदि स्थानों में हस्त-लिखित पुस्तकों के गाड़ियों बस्ते अब भी सुरक्षित पाये जाते हैं।'

'मंदिर निर्माण और मूर्ति स्थापना भी जैन-धर्म का एक अंग समझा जाता है। इसी से इन लोगों ने इस देश में हजारों मंदिर बना डाले हैं और हजारों का जीर्णोद्धार कर दिया है। मूर्तियों की कितनी स्थापनाएं और प्रतिष्ठाएँ की है इसका तो हिसाब ही नहीं, उनकी गिनती तो शायद लाखों तक पहुँचे। पर वे इस काम में भी अपने साहित्य-प्रेम को नहीं भूले। मंदिरों में इन लोगों ने बड़े-बड़े लेख और प्रशास्तियाँ खुदवा दी हैं। उनमें से कोई कोई लेख तो इतने बड़े हैं कि उन्हें छोटे-मोटे खंड काव्य ही कहना चाहिए। यहाँ तक कि मूर्तियों तक में उनके प्रतिष्ठापकों और निर्माताओं के नाम निर्देश आदि के सूचक छोटे-छोटे लेख पाए जाते हैं। यदि इन सब का संग्रह प्रकाशित किया जाए तो शायद महाभारत के सदृश एक बहुत बड़ा ग्रंथ हो जाए।" द्विवेदी जी के ये शब्द उनकी सत्यनिष्ठा व गुण ग्राहकता के परिचायक हैं।

• • •

द्विवेदी और 'नवीन'

लक्ष्मीनारायण दुबे

स्वर्गीय पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' में राष्ट्रीयता, साहित्यिकता तथा पत्रकारिता के बीज बाल्यावस्था में ही बो दिए गए थे। वे दस वर्ष की अवस्था से ही 'सरस्वती', 'प्रभा' एवं 'प्रताप' का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करने लगे थे। 'सरस्वती' उस युग की प्रमुख एवं प्रभावपूर्ण पत्रिका थी जो कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के कुशल संपादन में उत्तरोत्तर प्रगति कर रही थी। 'नवीन' जी 'प्रभा' तथा 'प्रताप' के नियमित ग्राहक और पाठक थे। खंडवा की 'प्रभा' को श्री माखनलाल चतुर्वेदी के संपादन में, 'मध्यप्रदेश की सरस्वती' की गरिमा प्राप्त हो चुकी थी।

अपनी किशोरावस्था में नवीन जी अपनी कविताएँ 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ प्रेषित किया करते थे परंतु आचार्य द्विवेदी जी उन्हें संशोधित कर, प्रत्यावर्तित कर दिया करते थे। इन किशोर-कृतियों में द्विवेदी युगीन काव्य-प्रवृत्तियों का प्राचुर्य था। जब 'नवीन' जी उज्जैन के हाई स्कूल में पढ़ते थे; उनके अत्यंत प्रिय सखा और सहाध्यायी 'संतू' का प्लेग से देहांत हो गया। उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप उन्होंने एक कहानी लिखी जिसका शीर्षक था : 'संतू'। प्रस्तुत कहानी में नवीन जी की भाव-धारा उद्दाम वेग से मानो फूट पड़ी है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के पास 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ यह कहानी भेजी गई। कहानी पढ़कर द्विवेदी जी ने अपने सहकारी श्री हरिभाऊ उपाध्याय से कहा—"इन्हें पत्र लिखकर पूछो कि किस बँगला कहानी का यह अनुवाद किया गया है ?" उत्तर में नवीन जी ने लिखा "मैं तो बँगला जानता ही नहीं और यह कहानी मेरी अपनी लिखी हुई है, अनुवाद नहीं।" इसके उत्तर में द्विवेदी जी ने स्वयं एक पोस्टकार्ड लिखकर 'नवीन' के पास भेजा : "महोदय, कहानी मिली—छापूँगा।—म० प्र० द्विवेदी।" फिर यह कहानी 'सरस्वती' के जनवरी, 1918 ई० के अंक में प्रकाशित हुई। यह 'नवीन' की सर्वप्रथम प्रकाशित साहित्यिक रचना है ओर इसी में ही उनका कवि-नाम 'नवीन' सब से पहले आया है। कहानी में संस्कृत-निष्ठ भाषा और कारुणिकता का मार्मिक आच्छादन है।

इसके पश्चात् आचार्य द्विवेदी जी 'नवीन' जी की प्रतिभा तथा साहित्यिक उत्कर्ष से बड़े प्रभावित रहे। नवीन जी की 'तारा' नामक कविता को 'सरस्वती' के मुखपृष्ठ पर, अप्रैल, 1918 के अंक में छापा। उनकी 'विरहा-कुल' रचना को दिसंबर, 1918 में स्थान दिया। इस प्रकार एक ही वर्ष में 'सरस्वती' सदृश्य श्रेष्ठतम पत्रिका में तीन रचनाओं का प्रकाशित हो जाना और मुख-पृष्ठ का गौरव पा जाना, साधारण बात नहीं थी। इससे विद्यार्थी 'नवीन' की 'होनहार-बिरवान के होत चीकने पात' की सिद्धि होने लगी। तद्नंतर 'सरस्वती' में अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुईं। इनमें स्वच्छंदतावादी काव्य का क्रमिक उन्नयन आने लगा।

'नवीन' जी ने अपने संपादन काल में कानपुर की 'प्रभा' को छायावादी काव्य एवं स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों का प्रश्रय-स्थल बनाया। यह युग की नवीन चेतना, राष्ट्रीयता तथा सांस्कृतिक उन्मेषों से अधिक संबद्ध थी। 'प्रसाद' जी आदि 'सरस्वती' की अपेक्षा 'प्रभा' को अधिक पसंद करते थे। 'नवीन' की लेखनी 'प्रताप' में भी ओजस्विता का अजस्र स्रोत प्रवहमान कर रही थी।

प्रखरता तथा निर्भीकता 'नवीन' जी के जीवन-जगत के मूलतंत्र थे। उन दिनों नई कविताओं के विषय, रचना-विधान आदि पर व्यंग्य करते हुए आचार्य द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में 'सत्कविदास' के छद्म नाम से एक करारा लेख लिखा। इस निबंध में यद्यपि 'नवीन' जी की 'चलो वीर पटुआखाली' कविता की सराहना थी, तथापि नवीन जी का उक्त लेख की कई बातों से मतभेद था और उसका उत्तर उन्होंने 'प्रताप' में दिया। सादर उन्होंने लिखा था कि आप तो हमारी साहित्यिक कृति और रुचि के उन्नायक हैं। तो फिर——

"बिछाया अपना सिंहासन सुहावन दूर क्यों इतना ?
लपट से डरते हो इसकी, जो लौ सी यह उठी है कुछ ?"

उपरिलिखित निबंध के प्रकाशन के कुछ दिन बाद एक बार द्विवेदी जी 'प्रताप' कार्यालय में आए। बैठते ही 'नवीन' जी से पूछा : "काहे हो बालकृष्ण ! तिनु एक बात हमका बतावा, तुम्हार ई सजनी, रानी, प्रिये, ई को आंय ?" 'नवीन' जी ठहरे हाजिर जवाब : उनका तो स्वर था——खाए पिए लगाया टीका, वही बंभन रहे नीका। चट से उत्तर दिया, "अब तुम बूढ़े होइगे हौ, का करिहो इनका मरम जानिकै।" ठहाका लगाते हुए द्विवेदी जी ने एक घूँसा लगाया 'नवीन' जी को और बोले, "बड़े मुरहा हौ"।

अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी आचार्य द्विवेदी जी को अपना गुरू मानते थे और विद्यार्थी जी नवीन जी के गुरू थे। गणेश जी ने 'सरस्वती' में कार्य करते हुए, द्विवेदी जी के चरणों में संपादन कला की दीक्षा ली थी, परंतु 'नवीन' जी की निर्भीकता सदा सर्वदा अपने निर्दवंद्व रूप में अभिव्यक्त हुआ करती थी। वे अपने मत-भेद को स्पष्टता तथा निःसंकोच रूप में प्रकट कर दिया करते थे और किसी का भी अंधानुकरण नहीं करते थे। कहना नहीं होगा कि वैमत्य के अवसर पर, नवीन जी ने वीर सावरकर, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, पुरुषोत्तमदास टंडन का भी, अपने हृदय में इन महान पुरुषों के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए, विरोध किया था।

इन सब घात-प्रतिघातों के पश्चात् भी 'नवीन' जी के हृदय में किसी प्रकार का विकार या गाँठ नहीं बँध पाती थी। वे स्वच्छ तथा निष्कपट हृदय के महामानव थे। सन् 1922-23 में कानपुर में, हिंदी साहित्य संमेलन के अधिवेशन में, आचार्य द्विवेदी जी स्वागताध्यक्ष थे। उन्होंने अपने भाषण का प्रारंभिक अंश ही उसमें पढ़ा था और उत्तरार्द्ध का पाठ 'नवीन' जी ने ही किया था।

आचार्य द्विवेदी जी की शुभाशंसा तथा मंगलाशीष सदा 'प्रभा' एवं 'प्रताप' के साथ रही। द्विवेदी जी की शैली का प्रभावांकन गणेश जी और नवीन जी की गद्य-रचनाओं पर देखा जा सकता है। 'नवीन' जी के मानस में द्विवेदी जी के प्रति सदैव संमान एवं श्रद्धा का सद्भाव बना रहा। यद्यपि वे स्वच्छंदतावादी काव्य के पोषक तथा उन्नायक रहे, फिर भी द्विवेदी जी के प्रति उनके मन में कभी भी कोई अमर्यादा, अनैतिकता या निरादर-पूर्ण वृत्ति ने अपने नीड़ नहीं बनाए। नवीन जी में वैचारिक उदारता तथा मननशीलता का उदात्त रूप विराजमान था। द्विवेदी जी की मृत्यु के पश्चात् साप्ताहिक 'प्रताप' में 'आर्य महावीरप्रसाद द्विवेदी' शीर्षक अपने लेख में नवीन जी उनके साथ अपने संबंधों का निरूपण करते हुए, द्विवेदी जी के आचार्यत्व, युग-प्रवर्तक रूप, पांडित्य तथा साहित्य-परोपकार को पूर्ण मान्यता प्रदान करते हुए, अपनी अश्रुसिक्त श्रद्धांजलि अर्पित की थी।

आचार्य द्विवेदी जी और कविवर 'नवीन' का सौरभ अब इतिहास के पृष्ठों को सुरभित कर रहा है। अब वे साँचे टूट गए जिन्होंने ऐसे मनीषियों को गढ़ा था। त्याग, बलिदान, ईमानदारी और मर मिटकर राष्ट्र व साहित्य की सेवा करना, कल्पना-लोक की वस्तु हो गई है और उसके स्थान पर विलास, फैशन एवं औपचारिकताओं ने अपने वितान तान लिए हैं। ये ध्रुवतारे हमारे आज के घटाटोप एवं मनोवांछित साहित्य तथा अवसरवादी राष्ट्रीयता के कुज्झटिकाच्छन्न मार्ग में अभी भी स्थिर रूप से आभा बिखेर रहे हैं। ●

हिंदी साहित्य के डॉ० जान्सन

—शिवनारायण सक्सेना

साहित्य सेवी प्रसिद्ध निबंधकार पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, जिन्होंने खड़ी बोली के स्वरूप को विकसित करने में अपने जीवन की बाज़ी लगा दी थी, के नाम से सभी पढ़े-लिखे व्यक्ति परिचित हैं। इनका जन्म रायबरेली (उत्तर प्रदेश) ज़िले के दौलतपुर गाँव में पं० रामसहाय दुबे के घर बैशाख शुक्ल 4, संवत् 1921 में हुआ था। निर्धन परिवार में जन्म लेने के कारण उचित शिक्षा व्यवस्था न हो सकी। संस्कृत का अध्ययन घर पर करके तथा थोड़ा बहुत अँग्रेज़ी का ज्ञान प्राप्त कर 15 रुपये प्रति मास पर रेलवे विभाग में नौकरी कर ली। पर अल्प वेतन तथा कम सुविधाओं के कारण निराश नहीं हुए, उन्होंने विश्व के सामने एक उदाहरण उपस्थित कर दिया कि कठिनाइयों और प्रतिकूल वातावरण के बीच भी एक अल्प वेतन भोगी प्रसिद्ध साहित्यकार बन साहित्याकाश में सितारे की भाँति चमक सकता है। अपने परिश्रम से ही बँगला, उर्दू, गुजराती, मराठी, संस्कृत तथा अँग्रेज़ी भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। विशेष परिस्थितियों के कारण नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और साहित्य सेवा का कार्य पूरे ज़ोर शोर से प्रारंभ किया।

इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का बड़ी कुशलता से संपादन किया। द्विवेदी जी लेखक ही नहीं कवि भी थे। लेखक के रूप में मातृभाषा के प्रचार के लिए इनसे जो बन पड़ा वह किया, जीवनोपयोगी, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी विषयों पर अपनी लेखनी चलाई। इनके पूर्व आलोचना का कार्य अपने प्रारंभिक रूप में था, इन्होंने समालोचना के क्षेत्र में भी अच्छी ख्याति प्राप्त की। तब तक ग्रालोचनाएँ पुस्तक के रूप में हमारे सामने नहीं ग्रा पाईं थीं, द्विवेदी जी ने सबसे पहले पुस्तक के रूप मे 'हिंदी में कालीदास की समालोचना' निबंध प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त, अन्य गद्य ग्रंथों में 'हिंदी भाषा की उत्पत्ति', 'संपत्ति शास्त्र', 'रसज्ञ रंजन', 'साहित्य संदर्भ', 'कालिदास' और 'जल चिकित्सा' प्रमुख हैं। अनूदित ग्रंथों में 'बेकन विचार रत्नावली', 'रघुवंश', 'स्वतंत्रता', 'महाभारत', 'किरातार्जुनीय', और 'मेघदूत' हैं। काव्य ग्रंथों में 'काव्य मंजूषा', 'सुमन', 'विनय विनोद', 'कुमार संभव सार', 'स्नेह माला' और 'विहार वाटिका' प्रसिद्ध हैं। 21 दिसंबर, सन् 1938 तक हिंदी की सेवा में जलोदर रोग हो जाने पर भी लगे ही रहे।

हिंदी साहित्य के इतिहास में 'द्विवेदी युग' प्रमुख स्थान रखता है, वैसे इनके संमान में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने आचार्य की पदवी से विभूति कर अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया। हिंदी साहित्य संमेलन की ओर से 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि दी गई और 'द्विवेदी-मेले' का भी आयोजन किया गया। ऐसे साहित्य मनीषी के लिए जितनी भी श्रद्धा व्यक्त की जाए, संमान प्रदान किया जाए, कम ही है। क्योंकि सूर्य की उपासना एक दीपक से करके उसका संमान ठीक से किया भी नहीं जा सकता। इनकी भाषा में बोलचाल की विदेशी भाषा के प्रचलित शब्दों का तथा मुहावरों का प्रयोग भी बड़े सुंदर ढंग से मिलता है। जनता की रुचि की ओर ध्यान देते हुए सरल और प्रभावोत्पादक गद्य-प्रचलन करने का श्रेय इन्हीं को दिया जाता है। गद्य में आई हुई शिथिलता को दूर करके खड़ी बोली को परिमार्जित स्वरूप में प्रयोग किया। अपनी बात का प्रभाव डालने के लिए छोटे-छोटे वाक्यों के द्वारा एक ही बात कहने का ढंग निराला है। ग्रंथों के अतिरिक्त फुटकर रचनाएँ

भी बहुत लिखी थीं। इनका तो यह विश्वास था कि गूढ़ से गूढ़ और कठिन से कठिन विषय को पाठकों के संमुख सरलतम भाषा में रखा जा सकता है। इसीलिए वह यह चाहते थे कि लेखों में सरल भाषा का प्रयोग किया जाए, हिंदी भाषा का अधिकतम प्रचार तभी हो सकता था जब भाषा में सरलता से अपनी बात समझाई जाए, संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग तो नाम मात्र के लिए ही हुआ है। अनेक नवयुवकों को हिंदी साहित्य की ओर प्रोत्साहित कर लिखने की प्रेरणा दी। लेख पढ़ते समय ऐसा लगता है जैसे मानो अच्छी तरह समझा बुझाकर कोई अध्यापक अपने लड़कों को पढ़ा रहा हो, यदि यह कहा जाए कि सर्व साधारण के लिए इनके लेख उपयोगी थे तो भी बुरा नहीं है। बढ़ई लकड़ी के सामान को, लुहार हथियारों को, खराद कर चिकना करता है उसी तरह से द्विवेदी जी ने भाषा को खराद कर शुद्ध किया, जो भूलें और त्रुटियाँ अन्य लेखकों के द्वारा होती थीं उन्हें सुधारना अपना कर्तव्य समझा। प्रत्येक, नवोदित साहित्यकार को लिखने का ढंग और अपनी भाषा को सुधारने के उपाय बताए।

साहित्यक जीवन में कविता से श्रीगणेश हुआ। उस समय रीतिकालीन परंपरा के अनुसार श्रृङ्गार की भावना में कहने का बोल बाला था। यों भारतेंदु जी ने देश भक्ति, और राष्ट्र प्रेम में नाटक और कविताएँ लिखीं थीं, वास्तविकता निखर नहीं पाई थी। खड़ी-बोली में विचार व्यक्त करने, सरल भाषा में कविताएँ लिखने, भारतीय संस्कृति की ओर ध्यान देने पर विशेष ज़ोर दिया था। हिंदी भाषा की जितनी सेवा द्विवेदी जी ने भारतेंदु के बाद की उतनी शायद किसी के द्वारा नहीं हो पाई। जिनकी अँग्रेज़ी की तरफ विशेष रुचि थी उनको भी इस ओर खींच कर लाना इन्हीं का काम था। इन्होंने मुख्य रूप से तीन प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया था: (1) व्यंग्यात्मक, (2) आलोचनात्मक, (3) गवेषणात्मक।

(1) **व्यंग्यात्मक शैली**: व्यावहारिक भाषा में हास्य व्यंग प्रधान छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग इस शैली की अपनी विशेषता है।

(2) **आलोचनात्मक शैली**: हिंदी भाषा और साहित्य के साथ खिलवाड़ करने वाले लोगों के लिए इस शैली में प्रमुख रूप से लेख लिखे गए। भाषा, देश, धर्म और साहित्य के प्रति भावना जागृत करने के लिए इस शैली का प्रयोग किया गया है। गंभीरता तथा संयम इस का प्रमुख गुण है। ओजपूर्ण शैली का प्रसिद्ध उदाहरण, 'साहित्य की महत्ता' नामक निबंध को देखिए—'साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है, वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरप में हानिकारणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पादन साहित्य ने ही किया है; जातीय स्वातंत्र्य के बीज उसी ने बोए हैं; व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के भावों को भी उसी ने पाला-पोसा और बढ़ाया है, पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने!'

(3) **गवेषणात्मक शैली**: इस शैली में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ भाषा क्लिष्ट हो गई है। जहाँ पर साहित्यक विषयों की विवेचना की गई है, वहाँ मार्मिकता नहीं आई है। इसके दो प्रमुख रूप हैं—एक साधारण और दूसरा गंभीर। उदाहरण के लिए 'निक्षिप्तों की समझ असाधारण प्रकार की होती है। वैसे ही प्रतिभा वालों की समझ भी असाधारण होती है, वे प्राचीन मार्ग पर न चल कर नए-नए प्रकार के मार्ग निकाला करते हैं। पुरानी लकीर पीटना उन्हें अच्छा नहीं लगता?'

वास्तव में आज हिंदी साहित्य जितनी प्रगति कर सका है वह सब उन्हीं की कृपा के फलस्वरूप हुआ है। साहित्य को प्रेमचंद जैसे उपन्यास सम्राट, विशंभरनाथ शर्मा जैसे कहानीकार, गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे यशस्वी संपादक, आचार्य शुक्ल जैसे प्रसिद्ध समालोचक तथा मैथिलीशरण गुप्त जैसे राष्ट्रीय कवि द्विवेदी जी की अथक कोशिश के बाद, मिल सके हैं। ठीक एक शताब्दी पूर्व जन्म लेने वाले पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम जब तक विश्व में एक भी हिंदी भाषा-भाषी व्यक्ति रहेगा तब तक चंद्रमा के समान चमचमाता रहेगा। द्विवेदी जी का हिंदी साहित्य में वही स्थान है, जो अँग्रेज़ी साहित्य में डा० जान्सन का। ●

द्विवेदी जी की देन

असित चट्टोपाध्याय

अनु०——**रणजीतकुमार सेन**

विश्व साहित्य में साहित्यकारों की संख्या काफ़ी है पर जो भाषा की सुदृढ़ नींव पर पथ का निर्माण करते हैं, समर्थ यात्रियों को उस पथ पर परिचालित करते हैं और हृदय को कठोर बनाकर सुंदर परंतु हानिकारक झाड़-झँखाड़ों का उन्मूलन करके उस यात्रापथ को भावी यात्रियों के लिए सुगम बना देते हैं, ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है। परंतु साहित्य के इतिहास से पता चलता है कि संख्या में कम होने पर भी प्रत्येक साहित्य को ऐसे एक या एकाधिक साहित्यकारों का वरदहस्त प्राप्त हुआ है। ऐसे ही इने-गिने व्यक्तियों में हिंदी साहित्य के पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का एक विशिष्ट स्थान है, हिंदी साहित्य का आधुनिक युग उनके पदार्पण करते ही पावन हो गया, धन्य हो गया।

जिस समय द्विवेदी जी का आविभाव हुआ उस समय हिंदी का खड़ी बोली साहित्य अपना मार्ग खोज रहा था। कभी ब्रजभाषा की मधुरिमा उसे अपनी ओर आकर्षित करती थी तो कभी खड़ी बोली की पौरुष-पूर्ण गद्य-विधा उसे युगानुकूल परिवर्तन के लिए प्रेरित करतीं थी। दूसरी ओर उस पर हैदराबाद और लखनऊ की संमिलित परंपरावाली उर्दू का भी दबाव पड़ रहा था। एक ओर आज की राष्ट्रभाषा को उन दिनों 'भाखा' 'गँवारू बोली' आदि की संज्ञा देकर हीन और ग्रामीण सिद्ध करने के लिए प्रयत्न चल रहे थे तो दूसरी ओर उसमें असंबद्ध रूप से अरबी और फ़ारसी के शुद्ध शब्द भरे जा रहे थे। इसके अतिरिक्त शासकवर्ग के प्रभाव से अधिकांश उच्चवर्ग के लोग हिंदी को एक भाषा के रूप में मानने के लिए तैयार नहीं थे और इसलिए उसका अध्ययन नहीं करना चाहते थे। चारों ओर के इन दबावों के कारण भाषा की व्याकरण व्यवस्था में भी शिथिलता आ गई थी। इन परिस्थितियों में द्विवेदी जी का आगमन हुआ। उन्होंने अपनी निर्भीकता, विद्वत्ता और अपने समुन्नत दृष्टिकोण से खड़ी बोली हिंदी की सामर्थ और साहित्यक समद्धि को प्रगति पथ पर परिचालित करके

उसे शैशवावस्था से यौवनावस्था में पहुँचा दिया। यद्यपि उनसे पहले भी खड़ी बोली में साहित्य सृजन हुआ था और भारतेंदु जैसे साहित्यप्रेमी का आविर्भाव हो चुका था तथापि इसमें संदेह नहीं है कि हिंदी साहित्य के राजपथ का निर्माण द्विवेदी जी के करस्पर्श से ही हुआ है।

जो कार्य बँगला साहित्य में ईश्वर गुप्त द्वारा संपादित 'प्रभाकर' और बंकिमचंद्र द्वारा संपादित 'बँग दर्शन' पत्रिकाओं ने किया था कुछ उसी प्रकार का कार्य द्विवेदी जी के संपादन में 'सरस्वती' ने किया। सन 1903 में इसका संपादन प्रारंभ करते ही एक ओर तो उन्होंने हिंदी साहित्य की प्रत्येक विधा में साहित्य सर्जना को विशिष्ट शैली को प्रोत्साहन देना प्रारंभ किया और दूसरी ओर बड़ी निर्भीकता से हिंदी के विकास के मार्ग में आने वाली सभी वाह्य बाधाओं को दूर किया। यदि कोई साहित्य-रचना की दृष्टि से उनका मूल्यांकन करना चाहे तो शायद उसे निराशा होगी क्योंकि उनकी मौलिक रचनाएँ बहुत अधिक नहीं हैं। 'कवि और कविता', 'नैषध चरित चर्चा', 'साहित्य सीकर', 'कालिदास की निरंकुशता' आदि रचनाओं को छोड़कर विशेष रूप से उल्लेखनीय और कोई रचना नहीं है। खोजने पर शायद आपको 'सरस्वती' के पृष्ठों में बिखरे हुए उनके कुछ निबंध या कविताएँ आदि मिल जाएँ पर समय के प्रयोजनानुसार लिखी गईं उन रचनाओं का मूल्य आज के युग में अपेक्षाकृत कम हो गया है। फिर भी उनकी 'सरस्वती' ने हिंदी साहित्य को मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरण उपाध्याय और पं० लोचनप्रसाद शर्मा जैसे साहित्यकार दिए हैं। कवियों तथा इन्हीं जैसे अन्य रचनाकारों से मिल कर उस युग का 'द्विवेदी मंडल' बना था।

सन् 1831 में ईश्वर गुप्त ने बँगला साहित्य में पहले पहल 'प्रभाकर' का प्रकाशन किया। उसी 'प्रभाकर' के माध्यम से बंकिमचंद्र ने 'सव्यसाची की शक्ति', दीनबंधु ने 'दरदी मन' और रंगलाल ने 'वीर रसधारा' की देन बँगला को दी, जिससे तत्कालीन बँगला साहित्य में नवीनता की एक बाढ़ सी आ गई थी। सन् 1903 के बाद 'सरस्वती' के माध्यम से हिंदी साहित्य में भी नवीनता की वैसी ही बाढ़ आई। 'कवि और कविता' पढ़ने से द्विवेदी जी द्वारा नए लेखकों को दी गई चेतावनी याद आती है। इसमें द्विवेदी जी ने लिखा है :—

"जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी, वह निरर्थक नहीं हो सकती, उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है।"

इसी प्रकार बंकिमचंद्र कहते हैं :

"यदि आप समझते हैं कि लिखकर देश या मनुष्य जाति की कुछ भलाई कर सकते हैं या सौंदर्य की सृष्टि कर सकते हैं तो अवश्य लिखें।"

जो साहित्य स्रष्टाओं का भी स्रष्टा है उसका निर्देश इस प्रकार स्पष्ट और कठोर होना चाहिए और हिंदी तथा बँगला दोनों ही साहित्यों में ऐसा ही हुआ था जिसके फलस्वरूप साहित्य के उन्नति मार्ग में जो बाधा विघ्न आए वे ज़ोर न पकड़ पाए।

प्राचीनता की सीमा तोड़कर किसी नवीन सृष्टि के पथ पर जिसने भी कदम बढ़ाया है रूढ़िवादियों ने सदैव उनके मार्ग में रोड़े अटकाए हैं। द्विवेदी जी के मार्ग में भी अनेकों बाधाएँ आईं। उनके एक पत्र से ही इस बात का पता चल जाएगा जिसका उल्लेख उन्होंने स्वयं 'सरस्वती' में इस प्रकार किया है :—

"बी० सिंह नाम के एक महाशय ने आगरे से एक पोस्टकार्ड हमें उर्दू में भेजा है, उसमें अनेक दुर्वचनों और अभिशापों के अनंतर इस बात पर दुःख प्रकट किया गया है कि राज्य अँग्रेज़ी है अन्यथा हमारा सिर धड़ से अलग कर दिया जाता। भाई सिंह, दुःख मत करो। आर्य समाज की धर्मोन्नति होती हो तो— 'कर कुठार आगे यह सीसा......"

ईसाई धर्म प्रचार के परिणाम स्वरूप जब स्वधर्म भ्रष्ट होकर हिंदू युवक युवतियों ने अर्द्ध ईसाई जीवनादर्श ग्रहण कर लिया था तब ईश्वर गुप्त की निर्भीक लेखनी का प्रहार इससे भी भीषण रूप में हुआ था। वे कहते हैं :—

'देसी कृष्णा जानि, नेक ऋषि कृष्ण त्रय
मेरी दाता मेरी सुत वेरी गुड बॉय।'

राजरोष की उपेक्षा करके ही यह व्यंग्य किया गया था। पहले ही कहा गया है कि साहित्य क्षेत्र में प्रच्छन्न प्रतिभाओं की गरिमा पर पड़े आवरण को यत्नपूर्वक हटाने के लिए ऐसी ही प्रतिभा का उद्भव होता है। कवि ईश्वर गुप्त का नाम प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों में नहीं आता। द्विवेदी जी को भी कोई प्रथम श्रेणी का साहित्यकार नहीं मानेगा। किंतु वे प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों की श्रद्धा के पात्र हैं। यहीं उनकी अद्वितीय साहित्यिक क्षमता का आभास मिलता है।

द्विवेदी जी ने समालोचना, काव्य, निबंध आदि सभी क्षेत्रों में एक प्रशस्त पथ का निर्माण किया था। उन्होंने खड़ी बोली के माध्यम से भाषा को परिचालित करके और उसकी जड़ता दूर करके भारतीय वाङ्मय के दरबार में उसे उपयुक्त मर्यादा प्रदान की। व्याकरण की अशुद्धियाँ और भाषा की शिथिलता उन्हें असहय थी। हिंदी साहित्य के इतिहासकार रामचंद्र शुक्ल जी उनके विषय में लिखते हैं :--

'.........इसलिए हमारा हिंदी साहित्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा। व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्त्तक द्विवेदी जी ही थे। 'सरस्वती' के संपादक के रूप में उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धि दिखा-दिखा कर लेखकों को बहुत कुछ सावधान कर दिया।"

शुक्ल जी के उक्त कथन से बँगला साहित्य में 'बंगदर्शन' के संपादक की बात याद आती है। नए लेखक मंडल के उदयकाल में बँगला भाषा को साहित्यिक भाषा के रूप में गढ़ते समय इसी प्रकार उन्हें भी सूक्ष्म रूप से देखने का श्रेय स्वीकार करना पड़ा था।

जिस प्रकार बँगला साहित्य को साहित्यिक मर्यादा प्रदान करने में ईश्वर गुप्त और बंकिम चंद्र की देन को भुलाया नहीं जा सकता इसी प्रकार हिंदी को साहित्यिक भाषा के रूप में प्रस्तुत करने में द्विवेदी जी की देन भी अविस्मरणीय है। उनकी यह देन सार्थक है क्योंकि उन्हीं के सतत परिश्रम से हिंदी की संभावनाएँ आज बहुत बढ़ गई हैं। उनके द्वारा दीक्षित साहित्य स्रष्टाओं की प्रभा से हिंदी आज प्रभामय है और सर्वोपरि बात यह है कि हिंदी आज राष्ट्रभाषा पद पर आसीन है।

द्विवेदी जी में मौलिक साहित्य सृजन की विशेष प्रतिभा नहीं थी किंतु उनमें भाषा सृष्टि की दुर्लभ निपुणता थी। इसी निपुणता के कारण वे अमर और चिरस्मरणीय रहेंगे, जिस प्रकार बँगला साहित्य में ईश्वर गुप्त और संपादक बंकिमचंद्र अमर हैं।
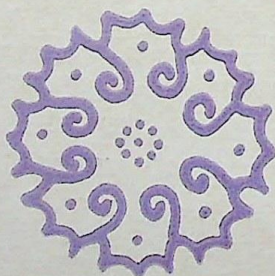
द्विवेदी जी द्वारा विभिन्न साहित्य मर्मज्ञों को लिखे गये पत्रों का भी अपना महत्व है । उनका भाषा परिष्कारक तथा संपादक का रूप इनमें भी परिलक्षित होता है । यहाँ पर डॉ० रघुवीर सिंह के नाम लिखे द्विवेदी जी के दो पत्र दिए जा रहे हैं ।

दौलतपुर (रायबरेली)
१२-११-३२

शुभाशिष सन्तु

१० नवम्बर की चिट्ठी मिली।

धन्यवादार्ह उत्तर।

बहुत उपयोगी काम है आप प्राचीन स्थानों पर लेख लिखकर, फिर उन्हें पुस्तकरूप में प्रकाशित करके, भूली हुई बातों का स्मरण करा दीजिए।

एक काम और कीजिए। किसी तरह थोड़ी सी संस्कृत सीख लीजिए। उससे आपको शब्द शुद्धि का ज्ञान हो जायगा। फिर आप अवतरणों की अशुद्धता और रघुवीर को रधुवीर न लिखेंगे।

चिन्ता न कीजिए।

शुभाकांक्षी
म० प्र० द्विवेदी

भाषा और व्याकरण

महावीरप्रसाद द्विवेदी

बहुत समय से हिंदी भाषा लिखी जाती है । पर उसका एक भी सर्वमान्य व्याकरण अभी तक नहीं बना । फल इसका यह हुआ है कि पचास वर्ष की पुरानी भाषा आज-कल की भाषा से नहीं मिलती । यहाँ तक कि वर्तमान समय में भी एक ही वाक्य को एक लेखक एक तरह लिखता है, दूसरा दूसरी तरह, तीसरा तीसरी तरह । एक अख़बार की भाषा दूसरे की भाषा से नहीं मिलती और दूसरे की तीसरे की भाषा से । इससे क्या हुआ है कि भाषा को अनस्थिरता प्राप्त हो गई है । और बहुत संभव है कि यदि यही दशा बनी रही तो आज से सौ वर्ष बाद के लोग आज-कल की भाषा के बहुत-से वाक्यों को न समझ सकें ।

लिखने और बोलने की भाषा में कुछ भेद होता ही है । लिखने की भाषा थोड़ी-बहुत अस्वाभाविक होती है और लेखक के प्रयत्न और परिश्रम से सिद्ध होती है । पर बोलने की भाषा स्वाभाविक होती है । उसके प्रकाशन में किसी तरह की चेष्टा नहीं दरकार होती । लिखने की भाषा अधिक दिनों तक एक रूप में रहती है । बोलने की भाषा में बहुत शीघ्र-शीघ्र फेर-फार होते रहते हैं । इसलिए कथित भाषा चिरकाल तक एक रूप में नहीं रहती । पर हैं दोनों प्रकार की भाषाएँ नश्वर---नाशवान । यह नहीं कि वे हमेशा एक ही सी बनी रहें !

मनुष्य और पशु-पक्षी आदि प्राणियों की तो कोई बात ही नहीं स्वयं यह संसार ही नश्वर है । उसमें दिन-रात परिवर्तन हुआ करता है । जो चीज़ आज है वह कल नहीं, जो कल है वह परसों नहीं । पर इस नश्वरता से क्या किसी को कोई तकलीफ़ होती है ? नहीं, समय के अनुसार मनुष्य की इच्छा और अपेक्षा में भी अंतर होता जाता है । इससे उसे सांसारिक परिवर्तन नहीं खलते । भाषा का भी यही हाल है । जो भाषा सौ वर्ष पहले थी वह अब नहीं है । जो अब है वह आगे न रहेगी । देश, काल और मनुष्य की स्थिति के अनुसार उसमें रद्दोबदल हुआ ही करता है बराबर हुआ करेगा । उसे कोई रोक नहीं सकता । परिवर्तन होना ईश्वरी नियम है । उसकी प्रतिबंधकता कौन कर सकेगा ? परंतु भाषा की नश्वरता और परिवर्तनशीलता से मनुष्य की कोई हानि नहीं । जो भाषा जिस समय होती है उसी में वह अपने मनोभाव प्रकट करता है । आज की और आज से दो सौ वर्ष आगे की भाषा में जितना भेद हो जाएगा उतना ही भेद मनुष्यों में भी हो जाएगा । अतएव सहज में, उनको भाषा का भेद ही न मालूम होगा । मालूम होगा तब जब वे अतीत और वर्तमान भाषाओं का परस्पर मुक़ाबला करेंगे । जैसे-जैसे मनुष्य की स्थिति में परिवर्तन होता है वैसे-ही-वैसे भाषा में भी परिवर्तन होता है । भाषा मनुष्य की सहचारिणी है । यदि मनुष्य अपनी स्थिति में परिवर्तन होना रोक दें तो भाषा में परिवर्तन होना आप ही रुक जाए । पर यह बात मनुष्य के वश की नहीं ।

ভাষা আৰু ব্যাকৰণ

শ্ৰীমহাবীৰ প্ৰসাদ দ্বিবেদী

শ্ৰীনৰাৰুণ বৰ্মা

হিন্দী ভাষা বহুদিনৰ পৰাই লিখিত ৰূপত চলি আহিছে যদিও, আজিলৈকে ইয়াৰ সৰ্ব্বজন-স্বীকৃত ব্যাকৰণ ৰচিত হোৱা নাই। ফলতঃ যোৱা পঞ্চাশ বছৰৰ পুৰণি ভাষাৰ লগত বৰ্ত্তমান প্ৰচলিত ভাষাৰ সামঞ্জস্য নাই কিয়া যেন হৈ পৰিছে। আনকি, বৰ্ত্তমান সময়তো এটা বাক্য এজনে যিদৰে লিখে, আনজনে সিটো বেলেগ ধৰণেৰে আৰু তৃতীয় জনে আকৌ অইন প্ৰকাৰে লিখে। এখন বাতৰি কাকতৰ ভাষাও আনখনৰ ভাষাৰ লগত নিমিলে। দ্বিতীয় খনৰ লগত তৃতীয় বাতৰি কাকতৰ ভাষাৰো তেনেই প্ৰভেদ দেখা যায়। ফলতে ভাষাৰ স্বৰূপ বৰ অনিশ্চিত হৈ পৰিছে। আৰু এনে অৱস্থা বেছিদিন ধৰি চলি থাকিলে আজিৰ পৰা এশ বছৰ পিছত মানুহে বৰ্ত্তমান প্ৰচলিত ভাষাৰ বহুতো বাক্যৰ অৰ্থও বুজিবলৈ টান যে পাব, ই নিশ্চিত।

লিখিত আৰু কথিত ভাষাৰ মাজত অলপ ওচৰপ প্ৰভেদ সদায় থাকে। লিখিত ভাষা কিছু পৰিমাণে কৃত্ৰিম হোৱা কাৰণে তাক আয়ত্ত কৰিবলৈ যত্ন কৰিব লগা হয়। কিন্তু কথিত ভাষা স্বাভাবিক; গতিকে তাক প্ৰকাশ কৰিবলৈ বিশেষ পৰিশ্ৰমৰ প্ৰয়োজন নহয়। লিখিত ভাষাৰ ৰূপ বহুকাল যাবৎ অপৰিবৰ্ত্তিত থাকে কিন্তু কথিত ভাষা সঘনে সলনি হয়। সেই হেতু কথিত ভাষাৰ স্বৰূপ চিৰকলীয়া নহয়। বস্তুতঃ এই দুয়োবিধ ভাষাই নশ্বৰ—নাশবান, কেতিয়াও সদায় একেদৰে থাকিব নোৱাৰে।

মানুহ আৰু পশুপক্ষী আদি প্ৰাণীবোৰৰ কথাই নহয় আনকি, এই সংসাৰখনো নশ্বৰ। দিনে ৰাতিয়ে ইয়াৰ পৰিবৰ্ত্তন হৈয়ে আছে। যিবস্তু আজি আছে সি কালি নাই, যি কালি হব সি পৰহি নে থাকিব। কিন্তু সংসাৰৰ এই নশ্বৰতাৰ বাবে কোনোবাই দুখ অনুভব কৰেনে? নকৰে। কিয়নো কাল অনুসাৰে মানুহৰ ইচ্ছা আৰ ভাৱধাৰাৰো ৰূপান্তৰ হয়। গতিকে জগতৰ পৰিবৰ্ত্তনত মানুহে অসুবিধা-বোধ নকৰে। ভাষাৰো প্ৰকৃতি ঠিক এনে ধৰণৰে। এ'শ বছৰ আগতে যি ভাষা প্ৰচলিত আছিল, আজিকালি সি লোপ পাইছে। আজি যি ভাষা প্ৰচলিত হৈ আছে, ভৱিষ্যতে সিও নাথাকিব। দেশ, কাল আৰু মানুহৰ স্থিতি অনুসাৰে তাৰ সাল-সলনি হৈয়ে থাকে আৰু হৈয়ে থাকিব। ইয়াক কোনেও বাধা দিব নোৱাৰে। পৰিবৰ্ত্তন ঐশ্বৰিক নিয়ম। তাক প্ৰতিৰোধ কৰিব পৰা শক্তি কোনোবাৰ আছে জানো?

কিন্তু ভাষাৰ এই নশ্বৰতা আৰু পৰিবৰ্ত্তনশীলতাই মানুহৰ একো অনিষ্ট নকৰে। যি সময়ত যি ভাষা প্ৰচলিত থাকে মানুহে সেই ভাষাৰ সাধ্যমতে নিজা মনোভাৱ প্ৰকাশ কৰে। আজিৰ আৰু আজিৰ পৰা অহা দু'শ বছৰ পিছৰ ভাষাৰ মাজত পাৰ্থক্য যিমান থাকিব, এই কালছোৱাৰ মানুহৰ ভাৱৰো সেই অনুপাতে পৰিবৰ্ত্তন আহিয়ে পৰিব। গতিকে তেওঁ লোকে ভাষাৰ পাৰ্থক্যটো ধৰিবই নোৱাৰিব। অতীতৰ আৰু বৰ্ত্তমানৰ ভাষাৰ লগত যেতিয়া তেওঁলোকে তুলনা কৰিব, তেতিয়াহে ভাষা ভেদ অনুভৱ কৰিব পাৰিব। মানুহৰ স্থিতি অনুসাৰে ভাষাৰ স্বৰূপৰো পৰিবৰ্ত্তন হয়। ভাষা মানুহ সহচৰী। মানুহে নিজা স্থিতিৰ পৰিবৰ্ত্তন কৰিব পাৰিলেহে ভাষা—পৰিবৰ্ত্তনৰ গতি নিজে নিজে বন্ধ হৈ পৰিব। কিন্তু এনে কৰিব পৰাটো মানুহৰ সাধ্যৰ অতীত।

ଭାଷା ଓ ବ୍ୟାକରଣ

ଶ୍ରୀ ମହାବୀର ପ୍ରସାଦ ଦ୍ୱିବେଦୀ
(ଅନୁବାଦ : ଶ୍ରୀ ରଜନୀକାନ୍ତ ଦାସ)

ହିନ୍ଦୀ ଏକ ପୁରାତନ ଭାଷା । କିନ୍ତୁ ଏ ପର୍ଯ୍ୟନ୍ତ ସେହି ଭାଷାରେ ଗୋଟିଏ ସୁଦ୍ଧା ପ୍ରାମାଣିକ ବ୍ୟାକରଣ ତିଆରି ହୋଇ ପାରିନାହିଁ । ଫଳତଃ ପଚାଶ ବର୍ଷ ତଳେ ଲେଖାଯାଇଥିବା ଭାଷାକୁ ଆଜିକାଲିର ଲେଖାଲେଖି ସଂଗେ ମିଳାଇ ଦେଖିଲେ ଫରକ ଜଣାପଡୁଛି । ଖାଲି ସେତିକି ନୁହେଁ, ଆଧୁନିକ ଯୁଗର ରଚନାବଳୀରେ ବି ଗୋଟିଏ ବାକ୍ୟକୁ ଜଣେ ଲେଖକ ଏକ ପ୍ରକାର ଲେଖୁଛି ତ ଆଉ ଜଣେ ଭିନ୍ନ ପ୍ରକାର ଲେଖିଦେଉଛି । ଗୋଟିଏ ଖବରକାଗଜର ଭାଷା ଆଉ ଗୋଟିକ ସହିତ ମେଳ ଖାଉନାହିଁ । ଫଳରେ ହିନ୍ଦୀ ଭାଷାରେ ଅସ୍ଥିରତା ଘୋଟିଯାଉଛି । ଅବସ୍ଥା ଯଦି ଏହିପରି ଲାଗିରହେ ତାହାହେଲେ ଶାହେ ବର୍ଷ ପରେ ଲୋକେ ହୁଏତ ଆଜିର ଲେଖାରୁ ବହୁତ ବାକ୍ୟାଂଶ ବୁଝି ସୁଦ୍ଧା ପାରିବେ ନାହିଁ ।

ଲିଖିତ ଭାଷା ଏବଂ କଥିତ ଭାଷା ମଧ୍ୟରେ ପ୍ରଭେଦ ଜରୁର ରହିବ । ଲିଖିତ ଭାଷାରେ ଉଣା ଅଧିକେ ଅସ୍ୱାଭାବିକତା ଦୋଷ ରହିଥାଏ । ଲେଖକର ସାଧନା ଏବଂ ପରିଶ୍ରମ ବଳରେ ଲିଖିତ ଭାଷା ପରିମାର୍ଜିତ ହୁଏ । କିନ୍ତୁ କଥିତ ଭାଷା ସ୍ୱତଃ ସ୍ୱାଭାବିକ ଅଟେ । ଏହାକୁ ପ୍ରକାଶ କରିବା ଲାଗି କୌଣସି ଚେଷ୍ଟା ଦରକାର ପଡେ ନାହିଁ । ଲିଖିତ ଭାଷା ବହୁ ଦିନ ପର୍ଯ୍ୟନ୍ତ ଅବିକୃତ ରହିପାରେ । କିନ୍ତୁ କଥିତ ଭାଷା ଶୀଘ୍ର ଶୀଘ୍ର ବଦଳି ଯାଉଥାଏ । ସେହି ହେତୁ କଥିତ ଭାଷା ସବୁଦିନେ ଏକାଭଳି ଦେଖିବାକୁ ମିଳି ପାରିବ ନାହିଁ । କିନ୍ତୁ ତଥାପି ଏ ଦୁଇପ୍ରକାର ଭାଷା ଭିତରୁ କେହି ହେଲେ ଚିରନ୍ତନ ନୁହନ୍ତି, କେହି ସବୁବେଳେ ଏକାଭଳି ରହିବେ ଏହା କଦାପି ସମ୍ଭବ ନୁହେଁ ।

ମନୁଷ୍ୟ ଓ ପଶୁପକ୍ଷୀ ଆଦି ପ୍ରାଣୀଙ୍କଠାରୁ କାହିଁକି, ଏ ସଂସାର ନିଜେ ବି ନଶ୍ୱର । ସଂସାରରେ [illegible]

ପରିବର୍ତ୍ତନ ଚାଲିଛି । ଯାହା ଆଜି ଅଛି ତା' କାଲିକି
ବଦଳି ଯିବ । ଯାହା କାଲି ଥିବ ତା' ପରଦିନକୁ ରହି ନପାରେ ।
କିନ୍ତୁ ଏହି ନଶ୍ୱରତା ଲାଗି କାହାର କିଛି ଦୁଃଖ ଅଛି କି ?
ନା କଦାପି ନୁହେଁ । ସମସ୍ତ ସାଥିରେ ମନୁଷ୍ୟର ଇଚ୍ଛା ଏବଂ
ଅଭିଳାଷ ମଧ୍ୟ ବଦଳି ଯାଉଛି । ସେହି ହେତୁ ସାଂସାରିକ
ପରିବର୍ତ୍ତନ କାହାରିକୁ ବାଧୁ ନାହିଁ । ଭାଷାର ମଧ୍ୟ ଅବସ୍ଥା
ସେଇଆ । ଯେଉଁ ଭାଷା ଶହେ ବର୍ଷ ତଳେ ଚଳୁଥିଲା, ତାହା
ଆଜି ନାହିଁ । ଯାହା ଆଜି ଚଳୁଛି ତାହା ଭବିଷ୍ୟତରେ ରହିବ
ନାହିଁ । ଦେଶ, କାଳ ଏବଂ ମାନବ ସ୍ଥିତି ଅନୁସାରେ
ଭାଷାରେ ପରିବର୍ତ୍ତନ ସାଧିତ ହେଉଛି ଏବଂ ତାହା ମଧ୍ୟ
ବରାବର ଚାଲିବ । କେହି ତାର ପ୍ରତିରୋଧ କରିପାରେ ନା
ପରିବର୍ତ୍ତନ ଈଶ୍ୱରଙ୍କ ନିୟମ । ତାକୁ କିଏ ପ୍ରତିରୋଧ
କରିବ ? ତଥାପି ଭାଷାର ନଶ୍ୱରତା ଏବଂ
ପରିବର୍ତ୍ତନଶୀଳତାରେ ମନୁଷ୍ୟ ସଭ୍ୟତାର କିଛି କ୍ଷତି
ହୁଏ ନାହିଁ । ସେତେବେଳେ ଯେଉଁ ଭାଷା ଚଳୁଥାଏ
ମନୁଷ୍ୟ ସେଥିରେ ଆପଣାର ମନୋଭାବ ବ୍ୟକ୍ତ
କରି ଚାଲେ । ଆଜିର ଭାଷା ସାଥିରେ ଆଜିଠାରୁ
ଦୁଇଶହ ବର୍ଷ ଆଗ ଭାଷାର ଯେତିକି ପ୍ରଭେଦ
ଦେଖାଦେବ ସେତିକି ପ୍ରଭେଦ ମଧ୍ୟ ମନୁଷ୍ୟ ସମାଜରେ
ସେତେବେଳକୁ ଆସି ଯାଇ ସାରିଥିବ ।

ସେଇ ହେତୁ କେହି ହେଲେ ଭାଷାଗତ ପ୍ରଭେଦଟା
ହୃଦୟଙ୍ଗମ କରିପାରିବେ ନାହିଁ । ସେମାନେ ପ୍ରଭେଦଟା
ପୁରାତନ ଭାଷା ସହିତ ସାଂପ୍ରତିକ ଭାଷାର ତୁଳନା
କଲେ ଯାଇ ବୁଝିପାରିବେ । ମନୁଷ୍ୟର ସ୍ଥିତିରେ
ପରିବର୍ତ୍ତନ ହେବା ସଂଗେ ସଂଗେ ଭାଷାରେ ମଧ୍ୟ
ପରିବର୍ତ୍ତନ ଆସିଯାଏ । ଭାଷା ମନୁଷ୍ୟର ସହଚାରିଣୀ ।
ଯଦି ମନୁଷ୍ୟ ନିଜ ଅବସ୍ଥାର ପରିବର୍ତ୍ତନକୁ ବାଧା
ଦେବାରେ ସକ୍ଷମ ହୁଏ ତାହାହେଲେ ଭାଷାଗତ
ପରିବର୍ତ୍ତନ ଆପେ ଆପେ ବନ୍ଦ ହୋଇଯିବ । କିନ୍ତୁ
ତାହା ମନୁଷ୍ୟ ଶକ୍ତିର ବାହାର କଥା ।

مہاویر پرشاد دویدی

ترجمہ:- سُریندر پرکاش

کافی عرصہ سے ہندی زبان لکھی جاتی ہے مگر اس کا ایک بھی مُستند گرائمر ابھی تک نہیں بنا جس کے نتیجے کے طور پر پچاس برس پہلے کی زبان آج کی زبان سے نہیں ملتی۔ یہاں تک کہ موجودہ دَور میں بھی ایک ہی جُملے کو ایک لکھنے والا ایک طرح لکھتا ہے دُوسرا دُوسری طرح اور تیسرا تیسری طرح۔ ایک اخبار کی زبان دُوسرے کی زبان سے نہیں ملتی اور دُوسرے کی تیسرے سے نہیں ملتی۔ اِس سے کیا ہوا ہے کہ زبان کی حیثیت ناپائیدار ہو گئی ہے اور بہت ممکن ہے کہ اگر یہی حالت رہی تو آج سے سَو سال بعد کے لوگ آجکل کی زبان کے بہت سے جُملوں کو نہ سمجھ سکیں گے۔

لکھنے اور بولنے کی زبان میں کچھ فرق تو ہوتا ہی ہے لکھنے کی زبان تھوڑی بہت غیر قدرتی ہوتی ہے اور لکھنے والے کی کوشش اور ریاض کا ماحصل ہوتا ہے مگر بولنے والے کی زبان قُدرتی ہے۔ اُس کی اشاعت میں کسی قسم کی مشکل درپیش نہیں لکھنے کی زبان کافی عرصہ تک ایک ہی صُورت میں رہتی ہے۔ بولنے کی زبان میں جلدی جلدی ردّوبدل ہوتے رہتے ہیں۔ اِس لئے بولنے کی زبان بہت مُدّت تک ایک ہی ہئیت میں نہیں رہتی، مگر زبان ہے دونوں صُورتوں میں . . . . فانی۔ یہ نہیں کہ وہ ہمیشہ ایک ہی صُورت میں رہے۔

اِنسان اور چرندوں، پرندوں وغیرہ جانداروں کی تو کوئی بات ہی نہیں ہے۔ یہ جہان بذاتِ خُود فانی ہے۔ اِس میں دن رات تبدیلیاں ہوتی رہتی ہیں۔ جو چیز آج ہے، وہ کل نہیں ہے۔ جو کل ہے، وہ پرسوں نہیں۔ مگر اِس مِٹنے کے عمل سے کیا کسی کو کوئی تکلیف ہوتی ہے؟ نہیں! وقت کے ساتھ ساتھ اِنسان کی خواہش اور ضرُورت میں بھی فرق آتا رہتا ہے۔ اِس لئے اُسے دُنیا کے ردّوبدل کھلتے نہیں ہیں۔ زبان کا بھی یہی حال ہے۔ جو زبان سَو سال پہلے تھی، وہ اب نہیں ہے۔ جو اب ہے، وہ مُستقبل میں نہیں ہو گی۔ مُلک، وقت اور آدمی کی حالت کے مطابق اُس میں ردّوبدل ہوا ہی کرتا ہے اور برابر ہوتا رہے گا۔ اُسے کوئی روک نہیں سکتا۔ بدلتے رہنا ایک قدرتی عمل ہے۔ اِس میں کون رُکاوٹ ڈال سکتا ہے؟

مگر زبان کی ناپائیدار حالت اور تبدیلی سے انسان کو نقصان نہیں پہنچتا۔ جو زبان جس دَور میں ہوتی ہے اُسی میں وہ اپنے احساسات کا اظہار کرتا ہے۔ آج کی اور آج سے دو سَو برس بعد کی زبان میں جتنا فاصلہ پیدا ہو جائے گا، اُتنا ہی فرق آدمی میں بھی پیدا ہو جائے گا۔ لہٰذا آسانی سے اُنہیں زبان کا فرق ہی محسُوس نہ ہو گا۔ محسُوس تو تب ہو گا نا جب وہ ماضی کی اور موجودہ زبان کا تقابل کرے گا۔ جیسے جیسے آدمی کے حالات میں تبدیلیاں رُونما ہوتی ہیں، ویسے ہی زبان میں بھی تبدیلی آجاتی ہے۔ زبان آدمی کی رفیقہ ہے۔ اگر آدمی اپنے ماحول کا بدلنا روک دے تو زبان میں تبدیلی واقع ہونا خود بخود ہی بند ہو جائے گی مگر یہ بات آدمی کے بس کی نہیں۔

- ಭಾಷೆ ಮತ್ತು ವ್ಯಾಕರಣ -

ಮೂಲ- ಆಚಾರ್ಯ ಮಹಾವೀರ ಪ್ರಸಾದ ದ್ವಿವೇದಿ   ಅನು- [illegible]

ಎಷ್ಟೋ ಕಾಲದಿಂದ ಹಿಂದೀ ಭಾಷೆಯನ್ನು ಬರೆಯುತ್ತಿದ್ದೇವೆ. ಆದರೆ ಇದರ ಸರ್ವಮಾನ್ಯವಾದ ಒಂದು ವ್ಯಾಕರಣ ಇನ್ನೂ ಆಗಿಲ್ಲ. ಇದರ ಪರಿಣಾಮದಿಂದ ಐವತ್ತು ವರ್ಷ ಪೂರ್ವದ ಭಾಷೆಯು ಇಂದಿನ ಭಾಷೆಗೆ ಹೋಲುವುದಿಲ್ಲ. ವರ್ತಮಾನದಲ್ಲಿಯೂ ಪ್ರತಿಯೊಬ್ಬನು ವ್ಯಾಕರಣವನ್ನು ತನ್ನ ರೀತಿಯಲ್ಲೇ ಬರೆಯುತ್ತಿದ್ದಾನೆ. ಇದರಿಂದ ಭಾಷೆಗೆ ಅಸ್ಥಿರತೆ ಬಂದಂತಾಗಿದೆ. ಇದೇ ಸ್ಥಿತಿ ಇದ್ದರೆ ಮುಂದೆ ಬರುವ ನೂರು ವರ್ಷಗಳಲ್ಲಿ ಜನರು ಇಂದಿನ ಭಾಷೆ ಮತ್ತು ವ್ಯಾಕರಣವನ್ನು ತಿಳಿಯಲಾರರು.

ಬರೆಯುವ ಮತ್ತು ಓದುವ ಭಾಷೆಯಲ್ಲಿ ಅಂತರವಿರುವುದು ಸಹಜ. ಬರೆಯುವ ಭಾಷೆಯಲ್ಲಿ ಸ್ವಲ್ಪ ಅಸ್ವಾಭಾವಿಕ ಇರುತ್ತದೆ. ಮಾತನಾಡುವ ಭಾಷೆ ಸ್ವಾಭಾವಿಕವಾಗಿ ಇರುತ್ತದೆ. ಬರೆಯುವ ಭಾಷೆ ಹೆಚ್ಚಿನ ದಿನಗಳವರೆಗೆ ಒಂದೇ ರೂಪದಲ್ಲಿ ಇರುತ್ತದೆ. ಮಾತನಾಡುವ ಭಾಷೆ ಬೇಗ ವ್ಯತ್ಯಾಸವಾಗುತ್ತದೆ. ಆದರೆ ಈ ಎರಡು ಪ್ರಕಾರದ ಭಾಷೆಗಳು ಸಭ್ಯರಾದಂಥ ನಾಗರಿಕರದ್ದು. ಇವು ಯಾವಾಗಲೂ ಒಂದೇ ರೂಪದಲ್ಲಿ ಇರಲಾರವು.

ಮನುಷ್ಯ ಹಾಗೂ ಪ್ರಕೃತಿಗಳ ನಿಯಮವೇ ಬೇರೆ. ಸ್ವತಃ ಈ ಜಗತ್ತೇ ನಶ್ವರವಾಗಿದೆ. ಇಂದಿನ ವಸ್ತು ನಾಳೆ ಇರುವುದಿಲ್ಲ. ಆದರೆ ಈ ನಶ್ವರತೆಯಿಂದ ಯಾರಿಗೂ ಹಾನಿಯಿಲ್ಲ. ಸಮಯಾನುಸಾರವಾಗಿ ಮಾನವನಲ್ಲಿ ಮತ್ತು ಆಲೋಚನೆಗಳಲ್ಲಿಯೂ ಅಂತರವಾಗುತ್ತಿರುತ್ತದೆ. ಇದರಿಂದ ಅವನಿಗೆ ಸಾಂಸಾರಿಕ ಪರಿವರ್ತನೆಗಳು ಅಪ್ರಿಯವಾಗುವುದಿಲ್ಲ. ಭಾಷೆಯ ಸ್ಥಿತಿಯೂ ಇದರಂತೆಯೇ. ನೂರು ವರ್ಷಗಳ ಪೂರ್ವದಲ್ಲಿ ಇದ್ದ ಭಾಷೆ ಇಂದಿಲ್ಲ; ಇಂದಿನ ಭಾಷೆ ನಾಳೆ ಇರಲಾರದು. ದೇಶ, ಕಾಲ ಮತ್ತು ಸಾಮಾಜಿಕ ಸ್ಥಿತಿಗೆ ಅನುಗುಣವಾಗಿ ಪರಿವರ್ತನೆಯಾಗುತ್ತದೆ. ಇದನ್ನು ಯಾರೂ ತಡೆಯಲಾರರು. ಪರಿವರ್ತನೆಯು ಪ್ರಕೃತಿಯ ನಿಯಮ.

ಭಾಷೆಯು ಸಭ್ಯತೆ ಮತ್ತು ಪರಿವರ್ತನೆಯ ಕಾರಣದಿಂದ ಮನುಷ್ಯನಿಗೆ ಯಾವ ಹಾನಿಯೂ ಆಗಲಾರದು. ಯಾವ ಭಾಷೆ ಯಾವ ಕಾಲದಲ್ಲಿರುವುದೋ, ಆಗಲೇ ಅದು ತನ್ನ ಮನೋಭಾವವನ್ನು ವ್ಯಕ್ತಪಡಿಸುವುದು. ಇಂದಿನ ಮತ್ತು ನೂರು ವರ್ಷಗಳ ಭಾಷೆಯಲ್ಲಿ ಆಗುವ ವ್ಯತ್ಯಾಸ ಮಾನವನಲ್ಲಿಯೂ ಆಗುತ್ತದೆ. ಆದ್ದರಿಂದ ಸಹಜವಾಗಿ ಅವರಿಗೆ ಭಾಷೆಗಳ ವ್ಯತ್ಯಾಸವೇ ಗೊತ್ತಾಗುವುದಿಲ್ಲ. ಧ್ಯಾನ ಕೊಟ್ಟು ನೋಡಿದಾಗ ಅದು ಗೊತ್ತಾಗುತ್ತದೆ. ಮನುಷ್ಯನ ಸ್ಥಿತಿಯಲ್ಲಿ ಪರಿವರ್ತನೆ. ಹಾಗೆಯೇ ಭಾಷೆಯಲ್ಲೂ ಪರಿವರ್ತನೆ ಬರುತ್ತದೆ. ಒಂದು ರೀತಿ ಮನುಷ್ಯನು ತನ್ನ ಸ್ಥಿತಿಯಲ್ಲಿ ಆಗುವ ಪರಿವರ್ತನೆಯನ್ನು ನಿಲ್ಲಿಸದ ಶಕ್ತಿಯಲ್ಲಿ ಭಾಷೆಯಲ್ಲಾಗುವ ಪರಿವರ್ತನೆ ನಿಲ್ಲಿಸಲು ಶಕ್ತನಾಗುವುದಿಲ್ಲ. ಆದರೆ ಈ ನಿತ್ಯ ಸಾಮಾನ್ಯವಲ್ಲ.

भाषा (जबान) ते ग्रामर

मूल लेखक : महावीरप्रसाद द्विवेदी

कोशुर रूप : मखनलाल बेकस

वारयाह् काले प्यठि छे हिंदी ज़बान लेखने इवान ! मगर वुन्युखताम छु न अम्युक अखे ते त्युथ व्याकरण (ग्रामर) बन्योमुत युस अवसर लूकन कबूल आसिहे । नतीजे अम्युक द्राव यि ज़ि अज़ ब्रुंह 50 वरीह् युसि ज़बान ओस सुं छेने अज़कले चि ज़बोन सेति रलान । हताकि अज़कल छु: अकोई जुमले अखे लिखारि अकि तरीकें, बयाख व्ययि तरीके ते त्रेयुम बदले तरीके लेखान । अकि अखबारेच् ज़बान छे ने दोयमिस अखबार सेत, ते दोयमिच् छेने त्रेयमिस सेत रलान । अमि सत्यं सपुद ये ज़ि ज़बान मंज़ सपुद इंस्तेह्काम ते पायदारी खत्म। स्यठाह मुमकिन छु: ज़ि अगर यछ़ी। हालत रूज़ अज़ पते लगभग हति शंति वेहेर मा समझनीय ने लूख अेज़चि ज़बोनि हेदि वारयाह जुमले ।

लेखनेचि ज़बोनि ते बोलनचि ज़बोनि मेज़ छे केंह फ़र्क आसानेय । युसे ज़बान लेखनस मंज़ इस्तेमाल छे इस्तेमाल छे सपदान तथ मंज़ छे कम कासे बनावट आसान, ते तथ मंज़ छै लिखारि सेंज़ मेहनत ते कूशिश शामिल आसान । मगर युसे ज़बान बोलनस मंज़ इस्तेमाल छे सपदान तथ मंज़ ने : बनावट आसान। तमिकिस इज़हारस मंज़ छेने कुनि के सम्'च मेहनत ते कूशिश बक़ार । लेखनेच् जबान छे वारयाहस कालस अकसीय सूरतस मंज़ रोज़ान, मगर, बोलनेचि ज़बाने मेज़ छु: स्यठाह ज़ल-जल हेर-फेर सपदान रोज़ान । लेहाज़ा छेने बोलनेच् ज़बान वारयाहसू कालेस अकसीय शाकलि मंज़ रोज़ान । मगर छे द्वश्वै ज़बाने मिठान--ते फानी। यह छेने हक़ीकत ज़ि तिमि क्याह छे तिछै रोज़ाना, यिछे आसे ।

इंसान ते ज़ानावारन् क्यहो हैवान्न हंज़े छेने कथीय, पाने यह दुनियहीय छु फानी । यति छे: प्रथ गरि प्रथ लहज़ तब्दीली सपदान रोज़ान । यि चीज़ अज़ वुछौ पगाह वुछौ ने सु, ते यि पगाह आसि कोलि-क्यथे ताम आसि ने सु रूदमुत । मगर दुनयाहचि अमि फनाई सेति छा: कांसि क़्हाँ तकलीफ सपदान ? ने, बल्कि बखतस मुतोबिक छे इन्साने सेंज़ पसन्द ने नापसंद ति बदलान रोज़ान, तथ मंज़ ति छे फर्क इवान । तवे किन छनि तमिस दुनियावी तब्दीलिये ग्वबान । युहै छु ज़बोन्य हुन्द ति हाल ! यसे ज़बान अज़ हथ वरीह ब्रोंह ओस स्व छने अज़, ते यसे ज़बान अज़ छे स्व रोज़ि ने ब्रोहं कुन । दीश, काल ते इन्साने सेन्ज़िं हालेच मुत्ताबिक छु अथे मंज़ रद्दोबदल सपदान ते ब्रुहं कुने ति रोज़ि तब्दीली सपदान । तब्दीली छे क्वदरतुक अख असूल । अथ कुस ह्यकि रुकाविथ ? मगर ज़बान हँन्दि फानी आसने सोत ते अथ मंज़ तब्दीली सपदने सोत छुने इनसानस काँह नुकसान । य्वसे ज़बान यमि विज़ि मरवज आसि, इनसान छु तेथि ज़बानि मंज़ पननि मनेकि जज़बात् ज़ाहिर करान । अज़ ते अेज़कि वुहंकुन ज़े(²) हथ वरीहचि ज़बोनि मेंज़ यीचाह फरख यियि, तीचीय यियि इनसानन् मंज़ ति फरख । लेहज़ा सपदिनि आसानी-सान तिमन ज़वानि हज़ फरवरी मोलूमे । मोलूम सपदच्रव त्यलि यलि तिम् पचकालिचि ते मूजूदह ज़बोनि हुन्द पानिवेन मुकाबले करन् । यूत यूत इन्साने सेंज़ि हालेच मंज़ तब्दीली मंज़ यिवान छे, त्युयी छें: ज़बनोनि मंज़ ति तब्दीली सपदान । ज़बान छै इन्सानस संति संति रोज़ान । अगर इन्सान बननि हांलच मंज़ तब्दीली सपदनं रुकावि, तय सूरतस मंज़ सपदि ज़बान मंज़ तब्दीली गच्छन पानै वन्द । मगर ये कथ छने इन्सानस पानस ताम ।

ભાષા અને વ્યાકરણ

મૂળ લેખક : મહાવીરપ્રસાદ દ્વિવેદી
ગુજરાતી અનુવાદ : મનહર ચૌહાણ

હિંદી ભાષા ઘણા લાંબા સમયથી લખાઇ રહી છે, છતાં એનું સર્વમાન્ય વ્યાકરણ હજુ બની શક્યું નથી. પરિણામ એ આવ્યું છે કે પચાસ વરસ જુની ભાષા અને આજની ભાષામાં મોટું અંતર છે. બલ્કે એટલે સુધી જોવા મળે છે કે વર્તમાન કાળમાંજ એક વાકય એક લેખક એક રીતે લખે, બીજો લેખક બીજી રીતે અને ત્રીજો ત્રીજી રીતે લખે. એક છાપાંની ભાષા બીજાં છાપાંની ભાષા કરતાં જુદી લાગે અને બીજાંની ભાષા ત્રીજાંથી જુદી તરી આવે. પરિણામ એ આવ્યું છે કે ભાષાને અસ્થિરતા મળી છે. આગળ એમ પણ બની શકે કે સો વરસ બાદના લોક આજની ભાષાના ઘણા વાકયો સમજી જ ન શકે.

લખવા અને બોલવાની ભાષામાં થોડો ફેર તો હોયજ. લખવાની ભાષામાં જરા અસ્વાભાવિકતા ચોક્કસ દેખાય, કેમ કે લેખક એને પોતાના પ્રયત્ન અને પરિશ્રમ વડે સિદ્ધ કરે છે. પણ બોલચાલની ભાષામાં સ્વાભાવિકતા હોય. એના પ્રકાશનમાં કોઇ આયાસ જરૂરી નથી હોતો. લખવાની ભાષા લાંબા ગાળા સુધી એકજ સ્વરૂપમાં રહે છે, જયારે બોલચાલની ભાષામાં અવારનવાર ફેરફાર થાય છે. એથી એ ભાષા લાંબા ગાળા સુધી એક સ્વરૂપમાં ન રહી શકે. પણ એટલું ચોક્કસ કે બન્ને ભાષાઓ નાશવાન છે. તેઓ હમેશા એક જેવી ન રહી શકે.

મનુષ્ય અને પશુ-પક્ષી વગેરે પ્રાણીઓની વાત જવા દઇએ, આ સંસાર પોતેજ નાશવાન છે. એમાં ચોવીસે કલાક અહર્નિશ પરિવર્તન ચાલ્યા કરે છે. જે વસ્તુ આજ છે એ કાલ નહિ હોય અને જે કાલ હશે એ કાલ બાદ નહિ હોય. પણ આ નશ્વરતાના કારણે કદીય કોઈ પીડાતું હોય, એમ નથી લાગતું. સમય મુજબ મનુષ્યની ઇચ્છાઓ અને અપેક્ષાઓમાં પણ ફેર પડે છે, જેથી સાંસારિક પરિવર્તનો પ્રત્યે મનુષ્ય કોઈ વાંધો ઉઠાવતો નથી. એજ સ્થિતિ ભાષાની છે. જે ભાષા સો વરસ પહેલાં હતી એ આજ નથી અને જે આજ છે એ કાલ નહિ હોય. દેશ, સમય અને મનુષ્યની સ્થિતિ મુજબ એમાં ફેરફાર થયા કરે છે અને થતા રહેશે. એને કોઇ ન રોકી શકે. પરિવર્તન એ એક ઇશ્વરીય નિયમ છે. એના પર ભલા કોણ અંકુશ રાખી શકે? પણ, ભાષાની નશ્વરતા અને પરિવર્તનશીલતાના કારણે મનુષ્યને કંઇ નુકસાન નથી થતું. મનુષ્ય પોતાના સમયની જે પણ ભાષા હોય, એમાં પોતાના મનોભાવ પ્રકટ કરી લે છે. આજની તથા બસો વરસ બાદની ભાષામાં જે ભેદ હશે, ત્યારના મનુષ્યોમાં પણ એટલો ભેદ આવી ગયો હશે. એથીજ તેમને એ ભેદનો અનુભવ એકાએક નહિ થાય. તેઓ અતીત અને વર્તમાનની ભાષાઓની પારસ્પરિક તુલના કરશે, ત્યારેજ એ ભેદની સમજણ પડશે. મનુષ્યની સ્થિતિમાં પરિવર્તન થતું જાય, તેમ-તેમ એની ભાષામાં પણ પરિવર્તન થાય. ભાષા એ તો મનુષ્યની સહચારિણી. જો સ્વયં મનુષ્યની સ્થિતિનાં પરિવર્તન અટકાવી શકાય તો ભાષાનાં પરિવર્તન તો આપોઆપ અટકી પડે; પણ એ વાત મનુષ્યના વશની નથી.

மொழியும் இலக்கணமும

மஹாவீர் பிரஸாத் த்விவேதி

மொழிபெயர்ப்பு—லலிதா ராமகிருஷ்ணன்

பல்வேறு காலமாக ஹிந்தி மொழி எழுதப்பட்டு வருகிறது. ஆனால் எல்லோரும் ஒப்புக் கொள்ளும் இலக்கணம் இதுவரையில் இம்மொழியில் உண்டாகவில்லை. இதன் விளைவென்ன வென்றால் ஐம்பது ஆண்டுகளுக்கு முன் இருந்த மொழியும் தற்கால மொழியும் மாறுபட்டு காணப்படுகின்றன. ஏன், தற்பொழுதுகூட ஒரே வாக்கியத்தை வெவ்வேறு எழுத்தாளர் வெவ்வேறு விதமாக எழுதுகின்றனர். ஒரு பத்திரிகையின் மொழி மற்றொரு பத்திரிகையின் மொழியைப் போல் இருப்பதில்லை. இதன் பயனாக இம்மொழி நிலைகுலைந்ததாக ஆகிவிட்டது. இந்நிலையே தொடர்ந்து கொண்டிருந்தால் இன்றையிலிருந்து நூறு ஆண்டுகளுக்குப் பின்னர் மக்கள் தற்காலத்திலுள்ள மொழியின் அநேக வாக்கியங்களை புரிந்து கொள்ள முடியாத நிலைமை நேரிடலாம்.

பேச்சு மொழியிலும், எழுத்து மொழியிலும் சிறிது வேற்றுமை ஏற்படத்தான் செய்கிறது. எழுதும் மொழி இயற்கையாக அமைவதில்லை. எழுத்தாளரின் முயற்சியினாலும், உழைப்பினாலும் அமைகிறது. ஆனால் பேசும் மொழியோ இயற்கையாகவே அமைந்துள்ளது. இதை வெளியிடுவதில் ஒரு விதமான முயற்சியும் தேவைப்படுவதில்லை. எழுதும் மொழி வெகுகாலம்வரை ஒரே அமைப்பைப் பெற்றுள்ளது பேசும் மொழி விரைவில் மாறுதல் அடைகின்றது. ஆகையால் அது அதிக காலம் வரை ஒரே விதமாக வேற்றுமையின்றி இருப்பதில்லை. ஆனால் இரண்டு விதமான மொழிகளும் நிரந்தரமாக இருப்பவையல்ல. அவை அழிவனவே. எப்பொழுதும் ஒரே மாதிரியாக அமைந்திருப்பவையல்ல.

விலங்குகள், பறவைகள் மனிதர்கள் மட்டுமல்ல, இந்த உலகமும் அழிவுள்ளது; அதில் இரவும் பகலும் மாறுதல் ஏற்பட்டுக் கொண்டேயிருக்கிறது. இன்று இருக்கும் பொருள் நாளை இருப்பதில்லை, நாளை இருப்பது அடுத்த நாள் நிலைப்பதில்லை. ஆனால் இம்மாறுதலினால் பிறருக்கு ஏதாவது நஷ்டம் உண்டாகிறதா? அதுதான் இல்லை காலத்திற்கு ஏற்றவாறு மனிதன் விருப்பங்களும் தேவைகளும் மாறுகின்றன. அதனால் வாழ்க்கையில் ஏற்படும் மாறுதல்கள் மனிதனுக்கு பிடிக்காமலிருப்பதில்லை. மொழியின் நிலைமையும் இதுவேதான. நூறு ஆண்டுகளுக்கு முன் எந்த மொழி இருந்ததோ, அது இப்பொழுது இல்லை. இப்பொழுது இருக்கும் மொழி வருங்காலத்தில் இராது. நாடு, காலம், மனிதன் நிலை இவைகளுக்குத் தக்கவாறு மொழியிலும் மாறுதல் உண்டாகத்தான் செய்கிறது. இம்மாறுதல் தொடர்ந்து கொண்டேயிருக்கும். அதை ஒருவராலும் தடுக்க முடியாது மாறுதல் என்பது கடவுளால் ஏற்படுத்தப்பட்டது. அதைத் தடுக்க யாரால் முடியும்? ஆனால் மொழியின் அழிவுத் தன்மையினாலும் மாறுதலடையக்கூடிய குணத்தினாலும், மனிதனுக்கு ஒரு விதமான கெடுதலும் உண்டாவதில்லை. எந்தக் காலத்தில் எந்த மொழி இருக்கின்றதோ அதன் மூலமாகவே மனிதன் தன் கருத்துக்களை வெளியிடுகின்றான். இன்றைய மொழியிலும், இன்றையிலிருந்து இருநூறு வருடங்களுக்குப் பின்னர் உள்ள மொழியிலும் எவ்விதமான வேற்றுமைகள் ஏற்படுமோ அவ்விதம் வேற்றுமைகள் மனிதரிலும் ஏற்படும் ஆகையால் மொழியில் ஏற்படும் மாறுதல் எளிதில் தெரியவே தெரியாது. முற்கால மொழியையும் தற்கால மொழியையும் ஒன்றோடொன்று ஒப்பிட்டுப் பார்த்தால்தான் இவ்வித வேற்றுமைகள் தெரியும். மனிதனின் நிலைமையில் மாறுதல் உண்டாவது போல மொழியிலும் மாறுதல் ஏற்படக் கொண்டேயிருக்கும். மொழி மனிதனை பின்பற்றுகிறது. தன் நிலைமையில் மாறுதல் உண்டாவதை மனிதன் தடுப்பானேயானால் மொழியில் ஏற்படும் மாறுதலும் தானாகவே நின்று விடும். ஆனால் இந்த விஷயம் மனிதனின் கட்டுப்பாட்டுக்குள் அடங்கியது அல்ல.

భాష-వ్యాకరణము

మూలం: మహావీర ప్రసాదుద్వివేది

భాషాంతరీకరణము: అయాచితుల హనుమచ్ఛాస్త్రి

చాల దినములుగా హిందీ భాష వ్రాయబడుచున్నది. కాని దానికింతవరకు, సర్వసమ్మతమైన వ్యాకరణము పుట్టి యుండలేదు. దాని ఫలితముగా, ఏబది సంవత్సరముల నాటి ప్రాచీన భాషకు, నేటి భాషకు పొత్తు కుదురుటలేదు. అంతేకాదు. ఈ కాలములో కూడా ఒక వాక్యమును, ఒక రచయిత ఒక విధముగా వ్రాయుచో, రెండవవాడు, రెండవ ప్రకారముగా, మూడవవాడు మూడవ ప్రకారముగా వ్రాయుచున్నాడు. ఒక పత్రిక భాషకు, రెండవ పత్రిక భాషతో, రెండవ పత్రిక భాషకు మూడవ పత్రిక భాషతో పొత్తు కుదురుటలేదు. దీనిచే భాషలో అస్థిరత ఏర్పడిపోయినది. ఇదే ప్రకారమున్నచో, నేటినుండి ఎంత సంవత్సరముల పిమ్మట వచ్చు జనమునకు, ఈ భాష అర్థము కాకపోవుట సంభవింపగలదు.

వ్రాయు భాషకు మాట్లాడు భాషకు కొంత భేదము ఉండనే యుండును. వ్రాయు భాష కొంచెము అస్వాభావికముగనుండును. అది లేఖకుని ప్రయత్న పరిశ్రమలచే సిద్ధించునదై యుండును. కాని మాట్లాడు భాష స్వాభావికమైనదిగా నుండును. దానిని ప్రకటించుటలో విశేషమైన ప్రయత్నము, అవసరము లేదు. లిఖిత భాష అనేక దినములు, ఒకే రూపములో నుండును. మాట్లాడు భాషలో చాల తొందరగా మార్పులు చేర్పులు వచ్చుచుండును. అందుచే వ్యావహారిక భాష చిరకాలము దనుక, ఒకే రూపములో నిలువదు. కాని రెండు విధములైన భాషలు నశ్వరములైనవే. ఎల్ల కాలము ఒకే విధముగా నుండునవి ఎంత మాత్రము కావు.

మనుష్యులు, పశు పక్ష్యాదికములైన ప్రాణుల సంగతి చెప్పనేల? ఈ ప్రపంచమంతయు నశ్వరమే. దానిలో రాత్రింబగల్లు పరివర్తనము జరుగుచునేయుండును. నేటి వస్తువు రేపు లేదు; రేపటి వస్తువు ఎల్లుండియుండదు. కాని ఈ నశ్వరత్వముచే, ఎవరికైననేమో కష్టము చేకూరుచున్నదా? లేదు: సమయానుసారముగా మనుష్యుని వాంఛయందు, అభిరుచియందు కూడ మార్పు ఉండనే యుండును. ఇంతేకాక ప్రపంచమున జరుగు మార్పులు కష్టదాయకములైనవి కావు. భాష యొక్క స్థితికూడ ఇట్టిదే; మూడు సంవత్సరముల వెనుకనున్న భాష ఇప్పుడు లేదు. ఇప్పుడున్నది ముందుండబోదు. దేశ కాలముల ననుసరించి, మనుష్యుని స్థితి ననుసరించి మార్పు జరుగుచునే యుండును. మరి జరుగుచునే యుండగలదు. దానిని, ఎవరును, ఆపలేరు. పరివర్తనము చెందుట ఈశ్వరుని నియమమై యున్నది. దానిని అడ్డగించగలవాడెవడు?

నశ్వరము, పరివర్తనశీలముమైన భాషవలన మనుష్యునకు ఎట్టి హానియు లేదు. ఏ సమయమున, ఎట్టి భాష భాషింపబడుచుండునో, ఆ సమయమున అట్టి భాషయందే మనుష్యుడు తన మనోభావములను ప్రకటించుచుండును. నేటి భాషకు, మరి నేటినుండి రెండు వందల యేండ్ల పిమ్మటి భాషకు, ఎంత-భేదము కలుగునో, అంతటి భేదము మనుష్యులయందు కూడ కలుగును: అందుచే భాషలో జరిగిన మార్పు నతడంతగా గుర్తింపలేడు. వెనుకటి భాషలను, నేటి భాషల [illegible] త్రాసులో వేసినచో అంతగా భేద... [illegible]. మనుష్యుని స్థితియందు మార్పు జరుగుచు పోయినకొలది, భాషలో కూడ మార్పు జరుగుచుండును. భాష మనుష్యుని సహచారిణి. మనుష్యుడు తన పరిస్థితియందు పరివర్తనము కలుగుట ఆపివేయుచో భాషలో పరివర్తనము కూడ ఏమంతయు ఆగిపోవును. కాని ఇది మనుష్యుని వశమైన విషయము కాదు.

ਭਾਸ਼ਾ ਅਤੇ ਵਿਆਕਰਣ

ਮਹਾਵੀਰ ਪ੍ਰਸ਼ਾਦ ਦਿਵੇਦੀ

ਪੰਜਾਬੀ ਅਨੁਵਾਦ : ਹਰਨਾਮ

ਬਹੁਤ ਸਮੇਂ ਤੋਂ ਹਿੰਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਲਿਖੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ । ਪਰ ਉਸਦਾ ਇਕ ਅੱਧ ਵੀ ਪਰਮਾਣੀਕ ਵਿਆਕਰਣ ਹਾਲੇ ਤੀਕ ਨਹੀਂ ਬਣਿਆ । ਇਸ ਦਾ ਫਲ ਇਹ ਹੋਇਆ ਕਿ ਪੰਜਾਹ ਸਾਲ ਦੀ ਪੁਰਾਣੀ ਭਾਸ਼ਾ ਅਜ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਨਾਲ ਨਹੀਂ ਮਿਲਦੀ । ਇਥੋਂ ਤਕ ਕਿ ਵਰਤਮਾਨ ਸਮੇਂ ਵਿਚ ਇਕ ਵਾਕ ਨੂੰ ਜੇ ਇਕ ਲੇਖਕ ਇਕ ਤਰ੍ਹਾਂ ਲਿਖਦਾ ਹੈ ਤਾਂ ਦੂਸਰਾ ਦੂਜੀ ਤਰ੍ਹਾਂ ਤੇ ਤੀਜਾ ਤੀਜੀ ਤਰ੍ਹਾਂ । ਇਕ ਪਤ੍ਰਕਾ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਦੂਜੇ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਨਾਲ ਨਹੀਂ ਮਿਲਦੀ ਤੇ ਇਵੇਂ ਹੀ ਦੂਜੇ ਦੀ ਤੀਜੇ ਨਾਲ ਵੀ । ਇਸ ਦਾ ਫਲ ਇਹ ਨਿਕਲਿਆ ਕਿ ਭਾਸ਼ਾ ਦੀ ਇਕਸਾਰਤਾ ਗੁੰਮ-ਗਵਾਚ ਗਈ । ਸੰਭਵ ਹੈ ਕਿ ਜੇਕਰ ਇਹੋ ਹੀ ਹਾਲਤ ਰਹੀ ਤਾਂ ਅਜ ਤੋਂ ਸੌ ਸਾਲ ਬਾਦ ਦੇ ਲੋਗ ਅਜ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਦੇ ਬਹੁਤ ਸਾਰੇ ਵਾਕ ਨਹੀਂ ਸਮਝ ਸਕਣਗੇ ।

ਲਿਖਣ ਤੇ ਬੋਲਣ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਵਿਚ ਕੁਝ ਫਰਕ ਹੁੰਦਾ ਹੀ ਹੈ । ਲਿਖਣ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਥੋੜੀ ਬਹੁਤੀ ਅਸੁਭਾਵਕ ਹੁੰਦੀ ਹੈ ਤੇ ਲੇਖਕ ਦੀ ਕੋਸ਼ਸ਼ ਅਤੇ ਮਿਹਨਤ ਨਾਲ ਸਿੱਧ ਹੁੰਦੀ ਹੈ. । ਤੇ ਬੋਲਣ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਸੁਭਾਵਕ । ਉਸਦੇ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਨ ਵਿਚ ਕਿਸੇ ਕਿਸਮ ਦੀ ਮਿਹਨਤ ਨਹੀਂ ਕਰਨੀ ਪੈਂਦੀ । ਲਿਖਣ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਬਹੁਤ ਦਿਨਾਂ ਤੱਕ ਇਕ ਰੂਪ ਵਿਚ ਰਹਿੰਦੀ ਹੈ । ਬੋਲਣ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਵਿਚ ਬਹੁਤ ਜਲਦੀ ਅਦਲਾ-ਬਦਲੀ ਹੁੰਦੀ ਤੁਰੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ । ਇਸੇ ਲਈ ਬੋਲਣ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਬਹੁਤ ਦੇਰ ਤਕ ਇਕੋ ਰੂਪ ਵਿਚ ਨਹੀਂ ਰਹਿ ਸਕਦੀ । ਪਰ ਦੋਹਾਂ ਪ੍ਰਕਾਰ ਦੀਆਂ ਭਾਸ਼ਾਵਾਂ ਨਾਸ਼ਵਾਨ ਹਨ । ਇਹ ਸਦਾ ਇਕੋ ਜੇਹੀਆਂ ਨਹੀਂ ਰਹਿੰਦੀਆਂ ।

ਮਨੁਖ, ਪਸ਼ੂ ਤੇ ਪੰਛੀ ਆਦਿ ਜੀਵ ਜੰਤੂਆਂ ਦੀ ਤਾਂ ਗਲ ਹੀ ਵਖਰੀ ਹੈ, ਇਹ ਸੰਸਾਰ ਹੀ ਨਾਸ਼ਵਾਨ ਹੈ । ਇਸ ਵਿਚ ਦਿਨ ਰਾਤ ਪਰੀਵ੍ਰਤਨ ਹੋਇਆ ਕਰਦਾ ਹੈ । ਜੋ ਵਸਤ ਅਜ ਹੈ ਉਹ ਕਲ੍ਹ ਨਹੀਂ, ਜੋ ਕਲ੍ਹ ਹੈ ਉਹ ਪਰਸੋਂ ਨਹੀਂ । ਪਰ ਕੀ ਇਸ ਨਾਸ਼ਵਰਤਾ ਨਾਲ ਕਿਸੇ ਨੂੰ ਕੋਈ ਤਕਲੀਫ ਹੁੰਦੀ ਹੈ ? ਨਹੀਂ, ਸਮੇਂ ਦੇ ਅਨੁਸਾਰ ਮਨੁਖ ਦੀ ਇਛਾ ਤੇ ਰੁਚੀ ਵਿਚ ਅੰਤਰ ਆਂਦਾ ਜਾਂਦਾ ਹੈ । ਇਸ ਨਾਲ ਉਸਨੂੰ ਸੰਸਾਰਿਕ ਤਬਦੀਲੀ ਨਹੀਂ ਅਖਰਦੀ । ਭਾਸ਼ਾ ਦਾ ਵੀ ਇਹੋ ਹੀ ਹਾਲ ਹੈ । ਜਿਹੜੀ ਭਾਸ਼ਾ ਸੌ ਸਾਲ ਪਹਿਲੇ ਸੀ ਉਹ ਹੁਣ ਨਹੀਂ, ਜਿਹੜੀ ਅਜ ਹੈ ਉਹ ਕਲ੍ਹ ਨਹੀਂ ਰਹੇਗੀ । ਦੇਸ਼ ਕਾਲ ਅਤੇ ਮਨੁਖ ਦੀ ਹਾਲਤ ਅਨੁਸਾਰ ਅਦਲਾ-ਬਦਲੀ ਹੁੰਦੀ ਹੀ ਰਹਿੰਦੀ ਹੈ । ਤੇ ਹੁੰਦੀ ਵੀ ਰਵ੍ਹੇਗੀ । ਉਸਨੂੰ ਕੋਈ ਰੋਕ ਨਹੀਂ ਸਕੇਗਾ । ਤਬਦੀਲੀ ਕੁਦਰਤੀ ਨਿਯਮ ਹੈ । ਇਸਨੂੰ ਕੌਣ ਰੋਕ ਸਕਦਾ ਹੈ ? ਪਰ ਭਾਸ਼ਾ ਦੀ ਨਾਸ਼ਵਰਤਾ ਅਤੇ ਤ੍ਰਬਦੀਲੀ ਤੋਂ ਮਨੁਖ ਨੂੰ ਕੋਈ ਨੁਕਸਾਨ ਨਹੀਂ । ਜਿਹੜੀ ਭਾਸ਼ਾ ਜਿਸ ਸਮੇਂ ਹੁੰਦੀ ਹੈ । ਉਸ ਵਿਚ ਹੀ ਉਹ ਆਪਣੇ ਮਨੁਭਾਵ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਦਾ ਹੈ । ਅਜ ਦੀ ਤੇ ਅਜ ਤੋਂ ਦੋ ਸੌ ਸਾਲ ਅਗੇ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਵਿਚ ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਭੇਦ ਹੋ ਜਾਵੇਗਾ, ਉਤਨਾ ਹੀ ਭੇਦ ਮਨੁਖ ਵਿਚ ਵੀ ਆ ਜਾਵੇਗਾ । ਆਮ ਤੌਰ ਤੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ ਭਾਸ਼ਾ ਦਾ ਫਰਕ ਮਲੂਮ ਨਹੀਂ ਹੋਵੇਗਾ, ਜੇਕਰ ਹੋਵੇਗਾ ਵੀ ਤਾਂ ਉਦੋਂ ਜਦੋਂ ਉਹ ਪਿਛਲੀ ਅਤੇ ਵਰਤਮਾਨ ਭਾਸ਼ਾ ਦਾ ਮੁਕਾਬਲਾ ਕਰਨਗੇ । ਜਿਉਂ ਜਿਉਂ ਮਨੁਖ ਦੀ ਹਾਲਤ ਵਿਚ ਤਬਦੀਲੀ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਤਿਉਂ ਤਿਉਂ ਭਾਸ਼ਾ ਵਿਚ ਵੀ ਤਬਦੀਲੀ ਹੁੰਦੀ ਤੁਰੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ । ਭਾਸ਼ਾ ਮਨੁਖ ਦੀ ਸਾਥਣ ਹੈ । ਜੇਕਰ ਮਨੁਖ ਆਪਣੀ ਹਾਲਤ ਵਿਚ ਤਬਦੀਲੀ ਹੋਣੀ ਰੋਕ ਦੇਵੇ, ਤਾਂ ਭਾਸ਼ਾ ਵਿਚ ਤਬਦੀਲੀ ਹੋਣੀ ਆਪੇ ਹੀ ਰੁਕ ਜਾਵੇਗੀ । ਪਰ ਇਹ ਗਲ ਮਨੁਖ ਦੇ ਵਸ ਵਿਚ ਨਹੀਂ ।

ভাষা ও ব্যাকরণ

মহাবীর প্রসাদ দ্বিবেদী

অনুবাদঃ কাঞ্চণ মুখোপাধ্যায়

বহুকাল থেকে হিন্দী ভাষা লেখা হচ্ছে, কিন্তু আজ পর্য্যন্ত তার একটিও সর্ব্বমান্য ব্যাকরণ প্রণীত হ'লনা। তার ফলে পঞ্চাশ বছরের পুরাণো ভাষা আজকালকার ভাষার সঙ্গে মেলে না। এমন কি বর্ত্তমান কালেই একই বাক্যকে এক লেখক এক ভাবে লেখে, দ্বিতীয় জন আর এক ভাবে, তৃতীয় জন সম্পূর্ণ আলাদা ভাবে লেখে। এক খবরের কাগজের ভাষা অন্য কাগজের ভাষার সঙ্গে মেলে না, আর দ্বিতীয়'র ভাষা মেলে না তৃতীয়'র ভাষার সঙ্গে। এতে হয়েছে এই যে ভাষা স্থিরতা হারিয়েছে। আর যদি এই অবস্থা চলতে থাকে তাহলে আজ থেকে এক'শ বছর পর লোকে আজকালকার ভাষার অনেক বাক্য সম্ভবত: বুঝতে পারবে না।

লেখা ও মুখের ভাষা কিছু আলাদা হয়ই। লেখার ভাষা কম-বেশী অস্বাভাবিক এবং তা হ'ল লেখকের চেষ্টা এবং পরিশ্রমের ফল। কিন্তু মুখের ভাষা স্বাভাবিক, তা প্রকাশ করতে কোন রকমের চেষ্টার দরকার হয় না। লেখার ভাষা বহুদিন এক ভাবে থাকে, মুখের ভাষার খুব তাড়াতাড়ি অদল-বদল হয়। তাই কথিত ভাষা চিরকাল এক ভাবে থাকে না, কিন্তু এ দু'রকম ভাষাই নশ্বর-নাশবান। এ নয় যে তারা চিরকাল এক ভাবে থাকবে।

মানুষ আর পশু পাখী ইত্যাদি প্রাণীর তো কোন কথাই নাই, স্বয়ং পৃথিবীই নশ্বর। দিন রাত তার মধ্যে পরিবর্ত্তন হতে থাকে। যা আজ আছে তা কাল নেই, যা কাল আছে তা পরশু নেই। কিন্তু এ নশ্বরতায় কি কারো কষ্ট হয়? হয় না, সময়ের সঙ্গে সঙ্গে মানুষের আশা-আকাঙ্খার মধ্যেও পরিবর্ত্তন হয়। সে জন্য সাংসারিক পরিবর্ত্তন তার খারাপ লাগে না। ভাষার বেলাতেও তাই, যে ভাষা এক'শ বছর আগে ছিল আজ তা নেই, যা আজ আছে ভবিষ্যতে থাকবে না। দেশ, কাল, পাত্র অনুযায়ী তাতে অদল-বদল হয়—চিরকাল হবে। কেউ তাকে আটকাতে পারবে না। পরিবর্ত্তন ঈশ্বরীয় নিয়ম, তাতে বাধ সাধতে পারবে কে?

কিন্তু ভাষার নশ্বরতা ও পরিবর্ত্তনশীলতায় মানুষের কোন রকম ক্ষতি হয় না। যখন যে ভাষা চলে, তাতেই সে তার মনোভাব ব্যক্ত করে। আজকের ও আজ থেকে দু'শো বছর আগের ভাষার মধ্যে যতটা দূরত্ব আসবে, ততটাই দূরত্ব মানুষের মধ্যেও আসবে। অতএব ভাষার দূরত্বটুকু সহজে তাদের বোধগম্য হবে না। যখন তারা অতীত ও বর্ত্তমান ভাষার তুলনা করবে, তখন বুঝতে পারবে। মানুষের অবস্থার যেমন-যেমন পরিবর্ত্তন হয়, তেমনি ভাষাতেও পরিবর্ত্তন হয়। ভাষা মানুষের সহচারিণী, মানুষ যদি নিজের অবস্থায় পরিবর্ত্তন হওয়া বন্ধ করে দেয়, তাহলে ভাষার পরিবর্ত্তন হওয়া নিজে থেকেই বন্ধ হয়ে যায়। কিন্তু এ কাজ মানুষের বশের নয়।

भाषा आणि व्याकरण

मूल हिंदी : महावीरप्रसाद द्विवेदी

अनुवाद : प्रभाकर माचवे

ब-याच कालापासून हिंदी भाषा लिहिली जात आहे. पण तिचे एक ही सर्वमान्य व्याकरण अजून तयार झालेले नाहीं. याचा परिणाम असा की पचास वर्ष जुनी भाषा आजच्या भाषे सारखी नाहीं. इतकी स्थिति आहे की आज देखील एकच वाक्य एक लेखक एका त-हेने लिहितो, दुसरा दुस-या त-हेने, तिसरा तिस-या. एका वर्तमानपत्राची भाषा दुस-याशी जुलत नाही, आणि दुस-याची तिस-यासारखी नाही. यामुळे असे घडल आहे की भाषेत अस्थिरपणा उत्पन्न झाला आहे. आणि असेही शक्य आहे की असाच प्रकार चालत राहिला तर आजपासून शंभर वर्षानंतरच्या लोकांना आजकालच्या भाषेची बरीचशी वाक्यं समजणारच नाहीं.

लिहिण्याच्या व बोलण्याच्या भाषेंत थोडे अंतर असतेच. लिहिण्याची भाषा थोडी बहुत अस्वाभाविक असते आणि लेखकाच्या प्रयत्न व परिश्रमाने सिद्ध होत असते. पण बोलण्याची भाषा स्वाभाविक असते. त्याच्या प्रकाशनात कोणत्याहि प्रकारची प्रयत्नशीलता आवश्यक नसते. लिहिण्याची भाषा बरेच दिवसांपावेतो एक रूप राहाते. बोलण्याच्या भाषेंत फार लौकर फेरफार होतात. या सार्णी बोललेली भाषा नेहमी एकरूप राहात नाही. पण असतात या दोन्ही प्रकाराच्या भाषा—नश्वर, नाशवान । असे नाही की त्या दोन्ही नेहेमी एक सारख्याच राहू शकतात.

मनुष्य आणि पशुपक्षी इत्यादि प्राणी तर सोडाच, हा सर्व संसारच नश्वर आहे. त्यांत रात्रंदिवस परिवर्तन होत असतात. जी वस्तु आज आहे ती उद्या नाहीं, जी उद्या आहे ती परवा नाही. पण या नश्वरते मुळे कुणाला काय त्रास होतो ? नाही, समयानुकूल मनुष्याच्या इच्छा व अपेक्षा यांत अंतर होत जाते. यामुळे त्याला सांसारिक परिवर्तन बोचत नाही. भाषेची ही हीच गोष्ट असते—जी भाषा शंभर वर्षां पूर्वी होती, ती आता नाही. जी आज आहे ती पुढे राहणार नाही. देश, काल मनुष्याची स्थिति या अनुरूप बदल घडत असतो व नेहेमी घडत राहणार. त्याला कोण रोकणार ? परिवर्तन हा ईश्वरीय नियम आहे. त्याला प्रतिबंध कोण घालणार ?

परंतु भाषेची नश्वरता व परिवर्तनशीलता यामुळे मनुष्याचे काहीच नुकसान होत नाहीं. जी भाषा ज्या वेळी असते, त्यातच तो आपले मनोभाव कवत करतो. आजची व आजपासून दोनशे वर्षानंतरची भाषा जितकी बदलेल तितकेच अंतर माणसांत ही होईल. यामुळे सहज, त्यांना भाषा भेद उसजू शकणार नाही. उपजेस तेव्हा, जेव्हा ते पूर्वीच्या व आजच्या भाषांची परस्पर तुलना करतील. जसजशी माणसाची स्थिति बदलेल तसतशी भाषाही बदलेल. भाषा माणसाची सहचारिणी आहे. जर माणूस आपले स्थिति परिवर्तन थांबवू शकेल, तर भाषेतली बदल थांबेल. पण ही गोष्ट माणसाच्या हातची नाही.

ഭാഷയും വ്യാകരണവും

[മഹാവീരപ്രസാദ് ദ്വിവേദി]

തർജ്ജമ: രവിവർമ്മ

ഹിന്ദീഭാഷ എഴുതുവാൻ തുടങ്ങിയിട്ട് എത്രയോ കാലമായി എന്നാൽ അതിന്ന് സർവ്വസമ്മതമായ ഒരു വ്യാകരണം ഇനിയും ഉണ്ടായിട്ടില്ല. അതിൻെറ ഫലമോ? അമ്പതുകൊല്ലം മുമ്പുള്ള ഭാഷയ്ക്കു് ഇന്നുള്ള ഭാഷയുമായി ഒരു പൊരുത്തവുമില്ല. അതു കൊണ്ടും തീർന്നില്ല. ഇക്കാലത്തുപോലും ഒരേ വാക്യം ഒരു എഴുത്തുകാരൻ ഒരു തരത്തിലെഴുതുമ്പോൾ മററൊരാൾ മററൊരു തരത്തിൽ എഴുതുന്നു, മൂന്നാമൻ മൂന്നാമതൊരു തരത്തിൽ. ഒരു പത്രത്തിലെ ഭാഷ മററൊന്നിൻേറതിനോടു യോജിക്കുന്നില്ല. ഭാഷയ്ക്കു് സ്ഥിരതയില്ലാതെപോയി എന്നതാണ് ഫലം. ഇതേ നില തുടർന്നാൽ നൂറുകൊല്ലം കഴിഞ്ഞു പഠിക്കുന്ന ആളുകൾ ഇന്നത്തെ ഭാഷയുടെ പല വാക്യങ്ങളും മനസ്സിലാക്കാനായില്ലെന്നു വരും.

വാമൊഴിയിലും വരമൊഴിയിലും കുറച്ചു ഭേദം ഉണ്ടായിരിക്കുതന്നെ ചെയ്യും. വരമൊഴി കുറയൊക്കെ അസ്വാഭാവികമായിത്തോന്നും. അതു് എഴുത്തുകാരൻെറ പ്രയത്നവും പരിശ്രമവുംകൊണ്ടു് ഉണ്ടാകുന്നതാണു്. എന്നാൽ വാമൊഴി സ്വാഭാവികമായിരിക്കും. അതു് പ്രകാശിപ്പിക്കുന്നതിന്നു് ഒരു തരത്തിലുള്ള പ്രയത്നത്തിൻേറയും ആവശ്യമില്ല. വരമൊഴി വളരെക്കാലം ഒരേ രൂപത്തിൽ നില്ക്കും. വാമൊഴിയിൽ വളരെ വേഗം മാററങ്ങൾ സംഭവിക്കും. അതിനാൽ അതു് വളരെനാൾ ഒരേ രൂപത്തിൽ ഇരിക്കുന്നില്ല. എങ്കിലും രണ്ടു മൊഴികളും നശ്വരങ്ങളാകുന്നു. എന്നും ഒരേ രൂപത്തിൽ നിലനില്ക്കുന്നവയല്ല.

മനുഷ്യൻ, പശു, പക്ഷികൾ മുതലായവയോ പോകട്ടെ, ഈ പ്രപഞ്ചംതന്നെ നശ്വരമാണു് അതിൽ രാപ്പകൽ പരിവർത്തനങ്ങൾ സംഭവിച്ചുകൊണ്ടിരിക്കുന്നു. ഇന്നുള്ളതിനെ നാളെക്കാണുകയില്ല. നാളത്തേതിനെ മററന്നാൾ. എന്നാൽ ഈ നശ്വരതകൊണ്ടു് ആർക്കെങ്കിലും നല്ല ബുദ്ധിമുട്ടും തോന്നുന്നുണ്ടോ? ഇല്ല. കാലത്തോടൊപ്പം മനുഷ്യൻെറ ആഗ്രഹത്തിന്നും പ്രതീക്ഷകൾക്കും അന്തരം വരുന്നുണ്ടു്. അതിനാൽ അവനെ പ്രാപഞ്ചിക പരിവർത്തനങ്ങൾ അലട്ടുന്നില്ല. ഭാഷയുടെ സ്ഥിതിയും ഇതുതന്നെ. നൂറുകൊല്ലം മുമ്പുണ്ടായിരുന്ന ഭാഷയല്ല ഇന്നുള്ളതു്. ഇന്നുള്ളതു് ഇനി ഉണ്ടായിരിക്കുകയുമില്ല. ദേശം, കാലം, മനുഷ്യരുടെ നില എന്നിവയനുസരിച്ചു് അതിൽ പരിവർത്തനങ്ങൾ ഉണ്ടായിക്കൊണ്ടിരിക്കുന്നു. ഉണ്ടാവുകയും ചെയ്യും ആർക്കും അതിനെ തടയാനാവില്ല. പരാവർത്തനം ഉണ്ടാവുക എന്നതു് ദൈവനിയമം ആകുന്നു. ആർക്കു് അതിനെ തടയാനാവും? പക്ഷേ നശ്വരതയും പരിവർത്തന സ്വഭാവവുംകൊണ്ടു് മനുഷ്യന്നു് ഒരു തരക്കേടും വരാനില്ല. അതാതു കാലത്തെ ഭാഷയിൽ അവൻ മനോഗതികളെ വ്യക്തമാക്കുന്നു. ഇന്നത്തേയും നൂറുകൊല്ലത്തിനപ്പുറത്തേയും ഭാഷകളിൽ കാണുന്ന വ്യത്യാസം മനുഷ്യരിലും കാണാം. അതിനാൽ അത്ര എളുപ്പത്തിൽ അവർക്കു് ഭാഷയിൽ വന്ന വ്യത്യാസം അനുഭവപ്പെടുകയില്ല. കഴിഞ്ഞകാലത്തെ ഭാഷയെ നിലവിലുള്ള ഭാഷയുമായി തട്ടിച്ചുനോക്കിയാൽ മാത്രമേ അതു് അനുഭവപ്പെടുകയുള്ളു. മനുഷ്യൻെറ നിലയിൽ വരുന്ന മാററത്തിന്നനുരൂപമായിട്ടത്രെ ഭാഷയിൽ മാററം വരുന്നതു്. ഭാഷ മനുഷ്യൻെറ സഹചാരിണിയാകുന്നു. മനുഷ്യന്നു് സ്വന്തം നിലയ്ക്കു് മാററം വരുത്താതിരിക്കാൻ കഴിയുകയാണെങ്കിൽ ഭാഷക്കും മാററം വന്നില്ലെന്നു വരാം. പക്ഷെ മനുഷ്യന്നു് അതിനുള്ള കഴിവില്ല

भाषा च व्याकरणं च

महावीरप्रसाद द्विवेदी

अनुवाद---हनुमत्प्रसाद शास्त्री

हिंदी-भाषा सुदीर्घात् समयाद् विलिख्यते, परंतु तस्याः सर्वमान्यं व्याकरणमेकमप्यधुनावधि न निर्मितमभूत् । तत्फलमेतदभूद् यद्-इतः पञ्चाशद्वर्षेभ्यः पूर्वमुच्चार्यमाणा भाषा आधुनिक्या भाषया सह न मिलति । स्थितिरीदृशी विद्यतेयद् वर्तमान काले एकमेव वाक्यं कश्चिल्लेखको येन प्रकारेण लिखति, अपरस्ततो भिन्नेनैव प्रकारेण लिखति, इतरश्च ततोऽपि भिन्नेन प्रकारेण । एकस्य समाचार-पत्रस्य भाषाऽपरस्य भाषया सह न संमिलति । एतेन भाषाया-मस्थिरत्वं समापन्नम् । यदीदृश्येव दशा स्थास्यति, तदा वर्षशतकादनन्तरं लोका अद्यतन्या भाषाया बहूनि वाक्यानि न परिज्ञास्यन्तीति महती संभावना ।

लिख्यमानायामुच्चार्यमाणायां च भाषायां महान् भेदो भवत्येव । लिख्यमाना भाषा किञ्चिदस्वाभाविकी भवति, सा च लेखकस्य श्रमेण यत्नेन च सिध्यति । किन्तु वाग्व्यवहारे प्रयुज्यमाना स्वाभाविक्येव भवति । तस्याः प्रकाशने न कश्चिच्चेष्टा विशेषोऽपेक्ष्यते । लिख्यमाना भाषा सुदीर्घं समयं यावदेकस्मिन्नेव रूपे प्रतितिष्ठति । किंतु, उच्चार्यमाणायां भाषायां शीघ्रं शीघ्रं परिवर्तनानि भवंति । अतएव सान चिरमेकस्मिन्नेव रूपे व्यवतिष्ठते । परन्तु द्विविधे अपीमे लेखोच्चारणभाषे वस्तुतो विनश्वर्यांवेव स्तः । शश्वदेव ते एकरूपिण्यावेव तिष्ठेतामिति नास्ति ।

मनुष्याणां, पशूनां, पक्षिणामेतदादिप्राणिनां तु वार्तैव का ? स्वयमयं संसार एव विनश्वरः । अस्मिन्नहर्निशं परिवर्तनामि भवंति । यद्द्य विद्यते वस्तु, न तत् श्वः स्थाता, श्वस्तनंच न परश्व : । परमनया नश्वरतया किं कश्चित् खिद्यते, न हि न हि । समयानुसारं मनुष्यस्येच्छासु अपेक्षासु चान्तरं भवति । ततएव सांसारिकाणि परिवर्तनानि न तं बाधंते । भाषायाः स्थिति रपीदृश्येव । वर्षशतकात्पूर्वं याऽऽसीद् भाषा, सा नास्त्यद्धुना । या चेदानीमस्ति, सा चाग्रे न स्थास्यति । देश-काल-मनुष्य-स्थित्यनुसारं तत्र परिवर्त्तनानि भवन्त्येव, भविष्यन्ति च । इदं परिवर्त्तनमवरोद्धुं न कश्चिदप्यलम् । परिवर्त्तनं नामेश्वरीयो नियमः । तं कः प्रतिबध्नीयात् ?

परन्तु भाषाया नश्वरतया परिवर्त्तनशीलतया च मनुष्यस्य न कापि हानिः स्यात् । या भाषा यस्य समये प्रचलति, तस्यामेवासौ स्वमनोभावान् प्रकटयति । अद्यतन्यामितो वर्षशतकद्वयपरभाविन्यां च भाषायां यावान् भेदो भावी, तावानेव भेदो मनुष्येष्वपि भविष्यत्येव । अतएव सारल्येन ते भाषाया भेदमेव न परिज्ञास्यन्ति । परन्तु, यदा तेऽतीत-वर्तमानयोर्भाषासु परस्परं तुलनां करिष्यन्ति, तदैव ते भेदमिमं परिचेष्यन्ति । यथा यथा विपरिवर्त्तते मनुष्यस्य स्थितिः, तथा तथैव भवति भाषायामपि परिवर्त्तनम् । सेयं भाषा मनुष्यस्य सहचारिण्येव । यदि मनुष्याः स्वस्थितेः परिवर्त्तनम-वरुन्ध्युस्तर्हि भाषायाः परिवर्त्तनं स्वत एवावरुद्धं स्यात् । परन्तु नेदं मनुष्यस्य वशे ।

श्रद्धांजलि

भारतेंदु कर गए भारती की वीणा निर्माण,
किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहु विधि स्वर संधान,
निश्चय, उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण झंकार
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार।

पंख हीन था अहा, कल्पना मूक कंठगत गान।
शब्द शून्य थे, भाव रुद्ध, प्राणों से वंचित प्राण।
सुख-दुख की प्रिय कथा स्वप्न! बंदी थे हृदयोद्‌गार,
एक देश था सही, एक था क्या वाणी व्यापार?
वाग्मि! आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल,

रूप रंग से पूर्ण कर दिया जीर्ण राष्ट्र कंकाल।
शत कंठों से फूट आपके शतमुख गौरव गान
शत शत युग स्तंभों में तानें स्वर्णिम कीर्ति वितान।
चिर स्मारक-सा, उठ युग युग में, भारत का साहित्य
आर्य, आपके यशः कार्य को करे सुरक्षित नित्य।

प्रेरणामूर्ति

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

आचार्य श्री महावीरप्रसाद जी द्विवेदी हिंदी के उन गण्यमान्य नेताओं में से थे जिनके पुरुषार्थ से हिंदी को आज राष्ट्रभाषा-पद का गौरव प्राप्त हुआ है। उन्होंने यावज्जीवन 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन किया और उसे व उसके प्रताप से इलाहाबाद के 'इंडियन प्रेस' को भी सुविख्यात किया। आज तो बहुत-सी पत्रिकाएँ हिंदी-भाषा में गौरवान्वित हैं किंतु 'सरस्वती' सब से प्राचीन होते हुए भी अपने उस प्राचीन गौरव को सँभाले हुए है, इसे भी श्री द्विवेदी जी का ही पुरुषार्थ कहना चाहिए।

हिंदी में अनेक आंदोलनों का आरंभ भी श्रीयुत द्विवेदी जी ने किया था। यद्यपि मैं उस समय अपने संस्कृताध्ययन की पूर्णता ही कर पाया था तथापि उनके 'अनस्थिरता-आंदोलन' और 'कालिदास की निरंकुशता' आदि आंदोलनों में मैंने उनके विपरीत पक्ष में भाग लिया था। ऐसा होते हुए भी उनके गुण-गणों पर दृष्टिपात करते हुए यह मानना पड़ता है कि वे हिंदी के उन्नायकों में एक गणनीय विद्वान थे। लेखों द्वारा बहुत-काल से संबंध रहने पर भी मुझे उनके दर्शन का सौभाग्य कानपुर के हिंदी-साहित्य-संमेलन के अवसर पर हुआ था। साक्षात्-परिचय प्राप्त करने पर यह भी विदित हुआ कि वे कितने नम्र थे। नम्र होते हुए भी अपनी बात पर सदा दृढ़ रहते थे। तब हिंदी-साहित्य-संमेलन के सभापति-पद पर उनका नाम प्रथम बार प्रस्तुत हुआ था और बहुमत के झमेले से उस बार उनको यह पद प्राप्त न हो सका—इस कारण फिर यावज्जीवन उन्होंने हिंदी-साहित्य-संमेलन का सभापति पद स्वीकार नहीं किया। यद्यपि कई बार कई सज्जनों ने डेपुटेशन ले जाकर उनसे बहुत कुछ अनुरोध किया किंतु वे अपने हठ पर दृढ़ रहे। यह दृढ़ता भी ऐसे प्रतिष्ठित-पुरुषों के लिए एक गुण ही मानी जाती है।

यद्यपि उस समय श्री बालमुकुंद जी गुप्त, श्री जगन्नाथप्रसाद जी चतुर्वेदी आदि अनेक हिंदी के कर्णधार थे तथापि आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी अपने ढंग के एक ही थे। आज भी सौभाग्य से 'सरस्वती' के संपादक एक सुयोग्य विद्वान हैं और वे भी 'सरस्वती' का गौरव प्रतिष्ठित रखने की पूर्ण चेष्टा कर रहे हैं। ●

राष्ट्रोत्थान के समर्थ पुजारी

जेठालाल जोषी

मई माह में हिंदी के युग-प्रवर्तक आचार्य श्री महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की जन्म-शताब्दी महापर्व पड़ता है। आचार्य महावीरप्रसाद जी केवल हिंदी के युग-प्रवर्तक, उन्नायक-आचार्य नहीं थे, बल्कि भारतीय गण्यमान्य राष्ट्रोत्थान के समर्थ पुजारियों में से एक थे। आचार्य जी केवल हिंदी के सुलेखक तथा समर्थ संपादक नहीं थे, बल्कि हिंदी साहित्यकारों के सर्जक थे। भारतेंदु बाबू के बाद इन महापुरुष ने हिंदी के रूप को निखारा, परिपुष्ट किया तथा समादरणीय बनाया। आचार्य महावीरप्रसाद जी ने हिंदी की विख्यात पत्रिका 'सरस्वती' का संपादन ही नहीं किया, इस पत्रिका द्वारा हिंदी के साहित्योद्यान को हराभरा और तरोताज़ा रखा। उस युग में 'सरस्वती' और आचार्य द्विवेदी पर्यायवाची से बन गए थे। सरस्वती पत्रिका का ग्राहक बनना तथा उसे नियमितः पढ़ना हिंदी प्रेम का प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता था। 'सरस्वती' आज भी चाव से पढ़ी जाती है।

अभी तारीख 3-4-1964 का लिखा आदरणीय श्री डा० विश्वनाथ प्रसाद जी का पत्र मिला कि आचार्य द्विवेदी जी के बारे में कुछ लिख भेजूँ और कुछ संस्मरण भी प्राप्त करके भेजूँ। मैंने अपनी पहली पच्चीसी में आचार्य प्रवर महावीरप्रसाद जी के बारे में खूब सुना था। हमारे देश के बड़े कहते थे कि पूज्य बापू के बाद मानवता में, सादगी में, अपनत्व में महावीरप्रसाद जी का नाम आता है। वे संस्मरण भी याद आते हैं कि श्री महावीरप्रसाद जी ने आत्म-संमान के खातिर रेलवे विभाग की नौकरी छोड़ी थी। और एक साधारण नौकरी के बल पर गृहस्थी सँभालने का निश्चय किया था। वे संस्मरण भी याद आते हैं कि इंडियन प्रेस, इलाहाबाद के संस्थापक, हिंदी के प्रबल समर्थक श्री चिंतामणि बाबू ने महावीरप्रसाद जी को अपने यहाँ सस्नेह और सादर बुलाकर सरस्वती के संपादक का कार्यभार सौंपा था। आचार्य श्री महावीर प्रसाद जी सच्चे अर्थों में आचार्य थे, एक अद्भुत विद्वान थे तथा समर्थ संपादक थे। आपके संपादकत्व में 'सरस्वती' में लेख का प्रकाशित होना, एक लेखक के लिए बहुत बड़ा गौरवपूर्ण संमान माना जाता था।

मैं ता० 19-4-1964 रविवार को भारतीय विद्वानों में समादरणीय प्रथम कोटि के विद्वान, इतिहासज्ञ, पुरातत्ववेता, भारतीय भाषाओं के माने हुए विद्वान मुनि श्री जिन विजय जी से मिला। आप अभी कोई आठ-दस दिन हुए अहमदाबाद आए हुए हैं। आपने अपने अमूल्य समय से मुझे पूरे दो घंटे का समय दिया। मुनि श्री जिन विजय जी ज्ञान के सागर हैं। आपके 75-76 वर्ष के जीवन का हर क्षण साहित्योपासना में गुजरा है। आप पिछले साठ वर्षों से अनवरत सरस्वती की उपासना में मग्न हैं। आप जितने बड़े विद्वान, जितने ऊँचे लेखक तथा समर्थ अनुशीलनकर्ता हैं, उतने ही शील और सौजन्य की मूर्ति भी हैं। आपसे मिल कर आदमी जीवन में धन्यता अनुभव कर सकता है।

मेरे प्रति आपका सदा स्नेह रहा है। आपकी शुभाशीष का मैं सदा अधिकारी रहा हूँ। आपसे मुझे प्रेरणा मिलती रही है। हमारे बीच कई महत्त्वपूर्ण बातें हुईं, उसी के साथ-साथ मैंने आपसे यह भी जानना चाहा कि क्या आप आचार्य प्रवर महावीरप्रसाद जी से कभी प्रत्यक्ष मिले थे? इतने प्रश्न पर तो आप गद्गद् हो गए और अपने मधुर, सुंदर संस्मरण सुनाने लगे। आपने बताया कि मुझे आचार्य महावीरप्रसाद जी के दर्शनों का सुअवसर तो नहीं मिला, परंतु मुझे उनका स्नेह अवश्य प्राप्त हुआ था। आपने अपने संस्मरण सुनाए। महावीरप्रसाद जी के संस्मरण को ताजा करने का सुअवसर यह प्राप्त हुआ है कि आपके पास खड़ी बोली हिंदी के समर्थ कवि श्री श्रीधर पाठक के पौत्र श्री पद्मधर पाठक कोई पाँच-छह वर्षों से खोज कर रहे हैं। श्री पद्मधर जी पाठक ने पत्रों का एक बहुत बड़ा पुलिंदा मुनिश्री के सामने रखा जिसमें आचार्य श्री महावीरप्रसाद जी तथा श्रीधर पाठक के पत्र हैं। इनमें से कई पत्र फट गए हैं। फिर भी ये सारे पत्र दो महान साहित्यकारों के पत्र-व्यवहार का एक अजोड़ संग्रह हैं। मुनिजी ने बताया कि इन पत्रों में हिंदी प्रेमी अँग्रेज़ी विद्वान पींकोट का पत्र भी है। श्री पींकोट ने कोई [50—60 वर्ष पहले हिंदी को राष्ट्रभाषा बनवाने का बहुत बड़ा प्रयत्न किया था। इन हिंदी प्रेमी अँग्रेज ने ब्रिटिश

पार्लियामेंट में आंदोलन जगाया था कि हिंदी राष्ट्रभाषा के गौरवपूर्ण पद के लिए सर्वथा योग्य है। श्री पींकोट का यह आंदोलन हिंदी प्रचारकों तथा हिंदी प्रेमियों के लिए बहुत बड़ा प्रेरणादायी मार्गदर्शक है।

मुनि जी ने बताया कि वे (मुनि जी) विद्यालय-महाविद्यालय में विधिवत् प्रवेश पाकर पढ़े-लिखे नहीं हैं, मुनिजी ने किसी गुरु के चरणों में बैठकर शिक्षा नहीं पाई। मुनिजी स्वयंस्फूर्त प्रेरणा से आगे बढ़े हैं। आपका जीवन भर का विद्या-व्यासंग तथा अनवरत साहित्योपासना ने आपको बहुश्रुत विद्वान बनाया है। आप सदा चिंतन-मनन करने वाले योगी पुरुष हैं। इसी साधना से आप सुलेखक बने हैं।

आगे आपने संस्मरण सुनाए कि सन् 1907-8 की बात है उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका पढ़ना शुरू किया। एक अध्ययन कर्ता की तरह सरस्वती पढ़ते थे और अपना हिंदी ज्ञान बढ़ाते थे। धीरे-धीरे आपके मन में अभिलाषा हुई कि मैं 'सरस्वती' में लेख लिखूँ। परंतु मन में झिझक थी कि उनमें इतनी योग्यता कहाँ कि लेख 'सरस्वती' में छप जाए। यह अभिलाषा मन में ही रह जाने वाली थी। मुनि जी ने बताया कि मैं कोई कवि नहीं हूँ, कहानीकार नहीं हूँ, उपन्यासकार नहीं हूँ, नाटककार नहीं हूँ। हिंदी में शुद्ध लिखना भी तो आता नहीं, और सरस्वती में लेख प्रकाशित होने की आशा रखूँ। फिर भी आपके मन में यह अभिलाषा बलवती होती गई क्योंकि उन दिनों 'सरस्वती' में लेख का छपना किसी विश्वविद्यालय से डिगरी पाने से कम नहीं था। निष्ठा के पक्के मुनि जी ने अपने को 'सरस्वती' में लेख लिखने योग्य बनाने का प्रबल प्रयत्न किया। एक दिन निश्चय किया और उन दिनों वर्षों पुराने विवादग्रस्त विषय पर खोज़बीन के साथ लेख तैयार किया और डरते-डरते वह लेख आचार्य महावीरप्रसाद जी को भेज दिया। लेख मिलते ही पंडित महावीरप्रसाद जी ने उत्तर दिया :--"आपका लेख मिला। बहुत अच्छा है। मैं उसे सरस्वती में छापूँगा। कृपा बनी रहे।" पत्र पढ़कर मुनिजी प्रसन्न हो गए। यह लेख व्याकरणकार जैन शाकटाचार्य (यह लेख सरस्वती के हीरक महोत्सव पर प्रकाशित विशेषांक में छपा है।) के बारे में 'सरस्वती' में छपा। यह 1913-14 की बात है। लेख छपा और अंक मुनिजी को मिला। मुनिजी ने उस दिन एक अपूर्व आनंद का अनुभव किया और माना कि अब मैं भी लिख सकता हूँ। 'सरस्वती' में लेख छपना यह एक अपूर्व छाप थी कि यह लेख सरस्वती में लिखने का अधिकारी माना गया है। आचार्य जी के साथ का यह संबंध वर्ष प्रतिवर्ष घना होता गया। मुनि जी फिर तो अपने लेख 'सरस्वती' के लिए भेजते रहे।

मुनि जी ने एक और संस्मरण सुनाया। मुनि जी उन दिनों कोई दो वर्ष तक पाटण जैन ग्रंथ भंडार के लिए लिख रहे थे। इस बात का आचार्य श्री द्विवेदी जी को पता चला। आपका पत्र मिला कि पाटण के जैन ग्रंथ भंडार पर एक लेख भेजें। मुनिजी ने लेख भेजा और वह बहुत पसंद आया। उसके उत्तर में श्री द्विवेदी जी ने लिखा कि "लेख मिला। बढ़िया है। यथाशक्य शीघ्र प्रकाशित करूँगा। लेख का नाम था 'पाटण का जैन भंडार'।"

मुनिजी अपने ग्रंथ समीक्षा के लिए आचार्य जी को बराबर भेजते थे। आचार्य श्री इन ग्रंथों की बराबर समीक्षा करते थे, और समीक्षा को 'सरस्वती' में छापते थे। मुनिजी ने गुजराती विद्यापीठ के पुरातत्व मंदिर के उद्घाटन के अवसर पर "पुरातन संशोधन नों इतिहास" नामक लेख लिखा और पढ़ा। उस लेख को मूल गुजराती में आचार्य जी को भी भेजा था। इस लेख का भाषांतर श्री द्विवेदी जी ने स्वयं किया और 'सरस्वती' में प्रकाशित किया था। इस प्रकार के अनेक मधुर और महत्त्वपूर्ण संस्मरण मुनि जी की स्मृति में संग्रहीत हैं।

हमें पूरा विश्वास है कि इन सारे संस्मरणों को हमारे विद्वान् मित्र श्री पद्मधर जी पाठक संकलित करेंगे और क्रमशः पत्रिकाओं में प्रकाशित करवाने का प्रयत्न करेंगे। विद्वानों के संस्मरण देश के साहित्य की अमूल्य निधि हैं। उसे लिपिबद्ध कर लेना या करवा लेना हमारा परम राष्ट्रीय कर्तव्य है

मैं आदरणीय श्री विश्वनाथ प्रसाद जी का हृदय से आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे पत्र लिखा और मैं मुनिजी के समीप पहुँच गया जिससे मुझे भी दो-तीन संस्मरण जानने का सुअवसर प्राप्त हुआ तथा प्रकारांतर में आचार्य जी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करने का मौका मिला। ●

नमन

सूर्यनारायण व्यास

आचार्य द्विवेदी जी सफल-संपादक, साहित्यकार और विद्वान थे, यह सर्वसंमत बात है। जिस भाषा को सजाया, सँवारा और संमार्जित किया, आज वही भाषा राष्ट्र-भाषा के पद पर जा पहुँची है। इसलिए वे राष्ट्र-भाषा-प्रणेता थे, और वे साहित्येतिहास में अमर बन गए हैं। यद्यपि वे उत्तर-प्रदेश के एक छोटे से ग्राम दौलतपुर में उत्पन्न हुए थे, और अध्ययन भी उनका सीमित ही हुआ था, किंतु स्वयं के अध्यवसाय से उन्होंने प्रचुर-पांडित्य प्राप्त किया था, और कई भाषाओं में प्रवीण बन गए थे। रेलवे की नौकरी में भी वे अपने आफिस के बाबुओं को कालिदास की सुकुमार-सूक्तियों का रसास्वादन करवाया करते थे। उस समय उनके निकट रघुवंश की पुस्तक प्रायः रहा करती थी, भामिनी-विलास जैसे मनोहारी काव्य का उन्होंने तभी अनुवाद किया था, तथा महीम्नस्तोत्र का पद्यानुवाद भी। जब उनके हाथों में सरस्वती का सूत्र आया, तब उन्होंने जो पराक्रम प्रदर्शित किया, वह सर्वज्ञात ही है। स्वयं ने साहित्य-सृजन तो किया ही, पर सृष्टाओं की एक परंपरा भी पैदा की है कि मात्र 'सरस्वती' के माध्यम से साहित्य और भाषा-जगत् में जो क्रांति की है वह अविस्मरणीय बनी हुई है। अवश्य ही वे भाषा की भ्रष्टता को अक्षम्य समझते थे। ताप-तप्त हो जाते थे, परंतु द्विवेदी जी का अंतर उतना ही कुसुम-कोमल एवं कमनीय रहा है, उनकी सारजात विनम्रता भी अत्यधिक मार्दव रखती थी। कानपुर के हिंदी साहित्य संमेलन के समय स्वागताध्यक्ष पद से दिया हुआ भाषण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उनकी उग्रता से तत्का-लीन कई लेखक असंतुष्ट हो जाते थे, बालमुकुंद गुप्त, श्यामसुंदर दास इसके उदाहरण थे। इनके उत्तर-प्रत्युत्तरों की लेखमालाएँ साक्षी बनी हुई हैं। उनकी विद्वत्ता की धाक मानी हुई थी, आधी-शती के उनके कार्य-काल में खड़ी बोली में जो संमार्जन हुआ वह आज भी आदर्श-रूप बनी हुई है। वे गद्य शैली के उत्कृष्ट-आचार्य और प्रवर्तक थे, साथ तीव्र आलोचक भी थे। व्याकरण-संमत, शुद्ध भाषा-शैली के प्रवर्तन में जो काम द्विवेदी जी ने किया वह एक लक्ष्मण रेखा-सी बन गई थी। भाषा में व्यंग के प्रयोग द्विवेदी जी की विशेषता रही है। उनका 'म्युनसिपैलिटी का चेअरमेन' लेख जिन्होंने पढ़ा है वे उसकी चुटकी और चुहल को जान सकते हैं कि वे कितने सफल व्यंग लेखक भी थे। गुप्त जी का 'भारत मित्र' और द्विवेदी जी की 'सरस्वती' में प्रायः नोंक-झोंक चला ही करती थी, इसके विपरीत आलोचनात्मक-शैली बड़ी संयत और गंभीर रहती थी। वे अपने लेखों द्वारा पाठकों पर नैतिक-प्रभाव डालने का सतर्कता से यत्न करते थे, कालिदास, विक्रम, भोज, भर्तृहरि तथा संस्कृत-कवियों के प्रति उनकी विशेष अनुरक्ति थी। इनके इतिहास और काव्य-रस का हिंदी भाषियों को अपने पत्र द्वारा सदैव रसा-स्वादन करवाते रहे। आरंभ में द्विवेदी जी संस्कृत-पंडित हैं, बाद में हिंदी-लेखक, यही कारण है कि हिंदी भाषा पर उनके संस्कृतज्ञ का सदैव प्रभाव रहा है। उन्होंने सरस्वती में पहुँचने वाली पुस्तकों की भावनावश होकर, या पक्ष प्रेरित हो कभी स्तुति निंदा नहीं की—स्पष्ट सत्य ही कहा है। नैतिकता की कसौटी पर जो खरी नहीं उतरीं उसे उन्होंने क्षमा नहीं किया है ।

द्विवेदी जी हिंदी में प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने 'महाकवि कालिदास की निरंकुशता' पर अपना स्पष्ट अभिमत व्यक्त किया था। उसमें उनका प्रौढ़ पांडित्य, और मर्मदर्शिता प्रकट हुई है। वे 'पुराण मित्येव न साधु सर्वं' के अनु-याई थे, इसके विपरीत सभी 'नवीन' के समर्थक भी नहीं थे, पंत और निराला की कविता को भी महत्त्व नहीं देते थे, 'अलीकली' की कविताओं में विलासिता का आभास मानते थे। एक बार कविवर नवीन जी से उन्होंने यह पूछ ही लिया था कि ये सजनी-अली-कली आखिर क्या है ? प्रताप में नवीन जी ने इस पर लंबा लेख भी लिखा था। द्विवेदी जी सफल लेखक के साथ सफल कवि भी थे, 'कुमार संभव' का पद्यानवाद भी किया था, वे कवि को "धर्म संस्थापनार्थाय" मानते थे। (कवि और कविता)

ऐसी स्थिति में उन्हें और कविताएँ जो वादों से ग्रस्त होती थीं, कैसे पसंद आतीं ? अवश्य ही गद्य के क्षेत्र में उन्होंने एक मान-दंड स्थापित किया था, और 'सरस्वती' को अपने युग की अभिनव और सर्वश्रेष्ठ पत्रिका के आदर्श रूप में प्रस्तुत किया था। 'सरस्वती' हिंदी की एकमात्र पत्रिका है, जो साठ वर्ष से ऊपर के समय से सतत गति से चलती जा रही है और द्विवेदी जी की चिर-स्मृति बनी हुई है। द्विवेदी जी के साहित्य में और व्यवहार में उनका स्वाभिमानी-ब्राह्मण सर्वत्र लक्षित होता है। उसमें तेजस्विता और त्याग की ओजोमयी आभा है। जो लोग द्विवेदी जी को आशुक्रोधी और नीरस समझते हैं, शायद उन्होंने द्विवेदी की केवल परिचितों में वितरित 'सुहागरात' जैसी रोमांचक रचनाओं को नहीं देखा-पढ़ा होगा। यद्यपि वह मधु-मिलन का एक प्रत्यक्ष चित्र ही है, परंतु आरंभ से अंत तक कहीं भी अश्लीलता का समावेश नहीं हुआ है। यह 'सुहागरात' उनकी सरलता की साक्षी है। द्विवेदी जी ने अपने युग की अनेक प्रतिभाओं को पहचान कर प्रकाश में लाया है। उनका परिमार्जन कर प्रौढ़ बनाया है। इस प्रकार अपने समय का साहित्यिक-युग उनका ही हो गया था। अपने किशोर काल में मुझ जैसा अकिंचन भी यही कल्पना करता था कि 'सरस्वती' में कैसे स्थान मिले ? 'सरस्वती' में कुछ निकल जाना सौभाग्य समझा जाता था। यह सौभाग्य मुझे भी मिला है। द्विवेदी जी की इस समय शतसंवतसरी मनाई जा रही है। मेरा विश्वास है आने वाले वर्षों में अनेक शतियों तक द्विवेदी जी का यशोदेह हमारी श्रद्धांजलि प्राप्त करता रहेगा, राष्ट्रभाषा के प्रणेता को हमारा प्रणाम !
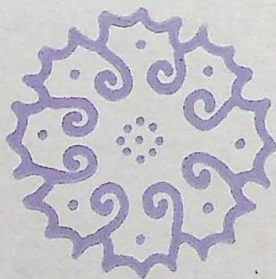
कालिदास कपूर

बहुत पुरानी बात है। पिताजी कानपुर ज़िले के भीतर उत्तरीपुरा स्टेशन के स्टेशनमास्टर थे। कर्मकांडी और धर्मनिष्ठ थे। लखनऊ हमारी पारिवारिक जन्मभूमि है। उन दिनों यह नगर उर्दू-फ़ारसी के पठन-पाठन का केंद्र था। ब्राह्मण परिवारों में भी बालकों की शिक्षा 'करीमा' से प्रारंभ की जाती थी। परंतु पिताजी हिंदी तथा अँग्रेज़ी ही पढ़े थे। अतएव उन्होंने मुझे घर पर हिंदी ही पढ़ाई। स्वयं रामचरितमानस का पाठ करते थे, जिस कारण मुझे बाल्यकाल ही में इस काव्यग्रंथ के बहुत-से छंद याद हो गए। पाठशाला में भेजे जाने योग्य हुआ तो पड़ौस के प्रारंभिक विद्यालय में भर्ती हुआ। अवस्था आठ, नौ वर्ष से अधिक न थी जब सरस्वती मुझे पढ़ने को मिलने लगी। उन दिनों हिंदी पत्र-पत्रिकाओं की देश में भरमार न थी। पाठशाला में हिंदी की पाठ्य-पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं और घर पर 'सरस्वती' से मैं हिंदी सीखता रहता था।

दो-तीन वर्ष पश्चात् मैं लखनऊ आ गया जहाँ हिंदी के साथ अँग्रेज़ी की शिक्षा मुझे मिलने लगी। पिताजी की योजना मुझे चिकित्सक बनाने की थी। परंतु दुर्भाग्यवश मेडिकल कालेज में भरती नहीं हो पाया था कि परिवार का पूरा भार मेरे सिर पर आगया। यों मैं चिकित्सक न होकर शिक्षक हुआ और सन् 1917 तक बी०ए०, एल०टी० होकर उन्नाव ज़िले के एक हाई स्कूल की सेवा में पहुँचा। 'सरस्वती' से सीखना मेरा नहीं छूटा था। उसके संपादक आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी का शुभनाम तो 'सरस्वती' के मुख-पृष्ठ पर देखता रहता था, परंतु मैंने कभी उनके दर्शन न किए थे।

इंटरमीजिएट कक्षा तक मैं विज्ञान और गणित का विद्यार्थी रहा था, यद्यपि विद्यालय में अँग्रेज़ी और घर पर हिंदी पढ़ने के व्यसन में कमी नहीं आई थी। शिक्षक होकर बी०ए० परीक्षा के लिए तैयारी प्रारंभ की तो अँग्रेज़ी साहित्य के साथ इतिहास और अर्थशास्त्र मेरे अध्ययन के विषय हुए। यों मस्तिष्क में आलोचना की सूझ का विकास होने लगा। देहाती विद्यालय में पहुँचने पर मुझे यथेष्ठ अवकाश मिला, तो पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखना प्रारंभ किया। अँग्रेज़ी में लीडर के संपादक स्व० चिंतामणि मेरे आदर्श थे, तो हिंदी में मेरे आराध्य थे द्विवेदी जी। चिंतामणि जी से तो मुझे विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला। परंतु मेरा पहला पत्र और लेख पाते ही द्विवेदी जी का वरदहस्त मुझे प्राप्त हुआ।

लेख का शीर्षक था 'समालोचना'। आजकल की मासिक पत्रिकाओं के संपादक अत्यधिक व्यस्त रहते हैं, उनके पास बहुत-से लेख आया करते हैं। उन्हें किसी नए लेखक को लिखना सिखाने, उसे प्रोत्साहित करने का अवकाश नहीं मिलता। तब यह बात न थी। हिंदी में पत्र-पत्रिकाओं की संख्या कम थी, उनके लिए लिखने वाले और भी कम थे। संस्कृत और अँग्रेज़ी के विद्वानों की संख्या कम न थी। परंतु सुबोध और सरस हिंदी लिखने का अभ्यास बहुत कम विद्वानों को था। द्विवेदी जी ने स्वयं किसी विद्यालय में पत्रकारिता का प्रशिक्षण प्राप्त नहीं किया था। किसी संपादक की शिष्यता भी नहीं की थी। अँग्रेज़ी, हिंदी, संस्कृत और थोड़ी बहुत उर्दू में ही उनकी गति रही थी। दफ़्तर के काम से अलग होकर श्यामसुंदरदास जी के सरस्वती-संपादन के भार से मुक्त होने पर स्वेच्छा से कम वेतन पर 'सरस्वती' संपादन का भार उन्होंने उठा लिया था। पत्रकारिता पढ़ने किसी शिक्षालय में नहीं गए, परंतु उनकी सेवा में मेरा पहला पत्र और लेख पहुँचने के पहले वह बहुत से अँग्रेज़ी और संस्कृत के विद्वानों को हिंदी लिखनी सिखा चुके थे। उनका ढंग था होनहारों को लिखने के लिए प्रेरित करना, उनके लेखों को संशोधित करके प्रकाशित करना, आगे लिखने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करते रहना। मुझे याद आ रही है, जब द्विवेदी जी 'सरस्वती' की वैतनिक सेवा से मुक्त हो चुके तो प्रयाग में उनका अभिनंदन करने के लिए एक सार्वजनिक समारोह हुआ जिसमें प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्कालीन उपकुलपति डा० गंगानाथ झा ने अध्यक्ष का आसन ग्रहण किया। गंगानाथ जी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। हज़ारों अँग्रेज़ीदां भारतीय उनके चरण स्पर्श करके कृत-कृत्य होते थे। भरी सभा में उन्होंने द्विवेदी जी के चरण स्पर्श किए, कहा कि वह संस्कृत के पंडित रहे हों, परंतु उन्हें हिंदी लिखना द्विवेदी जी ही ने सिखाया

था। अपने गुरु-भाइयों में मुझे कई शुभनाम याद आ रहे हैं। परंतु तीन ही का उल्लेख करना है। मैथिली-शरण जी गुप्त राष्ट्र-कवि हैं, श्री प्रकाश जी ने कई राज्यों के राज्यपाल रह कर हाल ही में हिंदी साहित्य संमेलन की अध्यक्षता से मुक्ति प्राप्त की है, और हरिभाऊ जी उपाध्याय स्वातंत्र्य संघर्ष में भली-भाँति तपकर अब राज-स्थान के शिक्षा-मंत्री हैं। द्विवेदी-युग के पहले हिंदी की ब्रज अथवा अवधी बोलियों में ही काव्य रचना का चलन था। द्विवेदी जी स्वयं ऊँचे दरजे के कवि न थे। परंतु 'सरस्वती' के माध्यम से उन्होंने खड़ी बोली में काव्य-रचना प्रोत्साहित की और स्वतंत्र भारत में राष्ट्रकवि का आसन उन गुरुभाई ही को मिला है जो द्विवेदी जी की प्रेरणा से खड़ी बोली ही में काव्य-रचना करते रहे हैं।

श्री प्रकाश जी उन भारतीय विद्वानों के प्रतीक हैं जिन्होंने पाश्चात्य और प्राच्य साहित्यों की समन्वित निधि हिंदी को प्रदान की है। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदी जी इस समन्वय के प्रेरक थे। नाटक, कविता, आलो-चना और कहानी जैसे ललित साहित्य के विभिन्न अंगों पर पाश्चात्य विचार और शैली की जो छाया हमें आज हिंदी साहित्य में दीख पड़ती है उसके प्रथम प्रेरक द्विवेदी जी ही थे।

द्विवेदी जी ने स्वयं किसी राजनीतिक आंदोलन में सक्रिय भाग नहीं लिया। परंतु तत्कालीन ब्राह्मण-वृत्ति के अनुकूल वह सादी जीवनचर्या, संतोष और श्रम के अभ्यस्त थे। यही गुण उन्होंने उन साहित्यिक भक्तों को प्रदान किए जो उनके संपर्क में आए। द्विवेदी जी रायबरेली ज़िले के गंगातटवर्ती दौलतपुर के निवासी थे। यह ग्राम आज भी रेल और सड़क से यथेष्ट दूर है। अपने बाल्यकाल में द्विवेदी जी पढ़ने के लिए रायबरेली के किसी विद्यालय में भरती हुए। छह दिन रायबरेली रहते थे। शनिवार को पैदल चलकर छह दिन का आटा दाल लेने के लिए दौलतपुर पहुँचते थे और दूसरे दिन सिर पर रसद रखकर उसी प्रकार पैदल रायबरेली पहुँच जाते थे। उन्हें रोटी बनानी नहीं आती थी, तो उबलती दाल में गुँधे आटे की लोई डाल देते थे। इस कठोर जीवन-चर्या के मध्य उन्होंने ज्ञानार्जन किया और कालांतर में उनके पास साहित्यिक सेवा के पैसे भी आए तो उन्हें जोड़ना उन्होंने नहीं जाना। अंतिम यात्रा के पहले अपनी सब निधि नागरी प्रचारिणी सभा तथा काशी विश्व-विद्यालय को दे गए।

'सरस्वती' में मेरे प्रथम लेख के प्रकाशित होने पर द्विवेदी जी पत्रों द्वारा मुझे आलोचनात्मक लेख भेजने के लिए प्रोत्साहित करते थे और मैं लेख भेजता जाता था। मैंने सोचा मेरा एकलव्य बने रहना ठीक नहीं, अपने आचार्य के दर्शन भी करूँ। उन दिनों द्विवेदी जी कानपुर रहते थे। मैं दर्शनार्थ पहुँचा। आचार्य का चित्र ही देखा था। साक्षात् होने पर मुझे वह ऋषि तुल्य लगे—घनी मूँछें, सुगठित काया और स्नेह सिक्त आँखें। चरण स्पर्श करने पर बोले, "हम तो समझत रहे कि बुजुरुग हुइ हौ, तुम तो लरिकै हौ"। तब से वह मेरे हृदय में पितृदेव के आसन पर प्रतिष्ठित हुए। तत्पश्चात् लखनऊ के कालीचरण विद्यालय में मेरे प्रधानाध्यापक होने पर वह एक बार मेरे निवासस्थान पर पधारे। फिर कई वर्ष पश्चात् जब उत्तरप्रदेशीय हाई स्कूल तथा इंटरमीजिएट बोर्ड की हिंदी समिति का प्रधान हुआ तो द्विवेदी जी का आशीर्वाद लेने दौलतपुर पहुँचा। मैं तो उनकी चरण सेवा एक दिन से अधिक नहीं कर सका। परंतु गुरुभाई हरिभाऊ जी को यथेष्ठ काल तक उनके सत्संग का लाभ प्राप्त हुआ। यों ही तो वह स्वातंत्र्य-संघर्ष की तपश्चर्या के लिए प्रशिक्षित हुए और आज राजस्थान की शिक्षानीति का नेतृत्व कर रहे हैं।

द्विवेदी जी की जन्म तिथि के आज सौ वर्ष होते हैं। इस अवधि के भीतर हिंदी परतंत्र भारत की एक उपेक्षित बोली से उठकर स्वतंत्र भारत की राष्ट्र भाषा के पद पर मान्य हुई है। उसे इस पद तक पहुँचाने में आचार्य द्विवेदी जैसे हिंदी सेवियों का भारी योग रहा है। अतएव इन स्वर्गीय आचार्य के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना तो हमारा कर्तव्य है ही, इसके आगे हम पर उस कठिन और लंबी सेवा का दायित्व भी आता है जिसके परिणामस्वरूप हिंदी का वैधानिक पद वास्तविक हो जाए। मेरे जैसे द्विवेदी जी के अधिकांश शिष्य अपनी जीवन यात्रा की अंतिम मंजिल पर हैं। परंतु गुरु-ऋण से उऋण होने का हमारे सामने अब भी वही कर्तव्य मार्ग है जो आचार्य द्विवेदी जी अपनी कथनी और करनी से हमें दिखा गए हैं।●

'एक हृदय हो भारत-जननी'

के० पिच्युमणि

रात ग्यारह बज चुके थे। घर के अंदर क़दम रखते ही देखा था कि एक महापुरुष—सचमुच सार्थक शब्द में महापुरुष आराम-कुर्सी पर बैठे मेरे भतीजे के साथ बात कर रहे थे। मैंने उन्हें दंडवत् प्रणाम किया। हिंदी-संसार में कौन ऐसा व्यक्ति है कि उन्हें न जाने, अनादर करे? हिंदी-साहित्य को खड़ी बोली में जो आदर-सम्मान मिल रहे हैं, उन सब को जन्म देने वाले महापुरुष वे ही थे? हाँ, मैं साक्षात् हम सबके आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के समक्ष खड़ा था।

'कब तक आप लोग अँग्रेज़ी में ही काम करते रहेंगे?"—सहसा उनके मुख से यह सवाल उठा।

'मैं क्या करूँ बाबू जी? यथा राजा तथा प्रजा'। मुझ से अँग्रेज़ी में काम करने को कहा गया है, जनता के साथ उस बोली का संपर्क रहे या न रहे, मुझे तो इस पापी पेट के वास्ते अँग्रेज़ी में ही सब काम निभाना पड़ता है। अगर मुझ से यह कहा जाए कि आज से सब काम हिंदी में ही हो जाएँ, मैं खुशी-खुशी और भी दक्षता के साथ अपने काम संभालूँगा; स्वतंत्र भारत का सचमुच स्वतंत्र सपूत होने का गर्व कर सकूँगा।

"यह बात है? परंतु मैंने सुना है कि आप लोग सरकारी कार्यालयों में अँग्रेज़ी को ही जारी रखना चाहते हैं"—आचार्य जी का पुनः प्रश्न निकला।

"यह बात ग़लत है बाबू जी, हम यही चाहते हैं कि अपनी राष्ट्र-भाषा में काम करने का मौका जल्दी से जल्दी आ जाए, ताकि हम लोग भारत की जनता के साथ सच्चा-सीधा संपर्क कर लें और इस अँग्रेज़ी के बातावरण से विमुक्त हो जाएँ"—मैंने हाथ जोड़कर निवेदन किया।

"तुम्हारी बात सही है, लेकिन दक्षिण-भारत के बहुतेरे लोग तो शायद तुम्हारी बात को नहीं मानेंगे"—आचार्य जी ने अपनी शंका प्रकट की।

"बाबू जी, यह बात भी ग़लत है, वैसा एक कृत्रिम वातावरण कुछ स्वार्थी लोगों ने बना रखा है; जो मैं, छोटा व्यक्ति इस बात का निवेदन कर रहा हूँ, उसी दक्षिण से ही आया हूँ। मेरी यह प्रार्थना है कि अगर हमारा संपूर्ण-प्रभुत्व संपन्न गणराज्य आज से, अभी से हिंदी को राज-भाषा के सिंहासन पर पदाभिषित करे, यह सारा गंदा वातावरण अपने आप दूर हो जाएगा।" मैंने विनती की।

"तो मैं आज अपने प्रधान-मंत्री से मिल कर कुछ न कुछ अवश्य करूँगा—" खड़ी बोली के प्रकाण्ड पंडित के मुख मंडल से यह वाणी निकल पड़ी। 'धन्योऽस्मि', 'धन्योऽस्मि' बोलते हुए मैं नाचने लगा।

"क्या हुआ आपको? क्यों इस तरह सोते-सोते हँस रहे हैं? आज दफ़्तर जाने का विचार है कि नहीं"—अपनी सहधर्मिणी की मधुर ध्वनि सुनकर बिस्तर से उठ बैठा। हाँ, मेरे हाथ में टाइम्स आफ़ इण्डिया वैसा ही पड़ा था, जिसमें केंद्रीय हिंदी निदेशालय की तरफ से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के स्मारक-ग्रंथ के बारे में एक विज्ञापन छपा हुआ था।

हाँ, सुप्रभात का सुंदर स्वप्न था। अतः आशा है कि जल्दी ही हिंदी राजभाषा के सिंहासन पर पदाभिषित की जाएगी।●

"एकः शब्द : सम्यग्-ज्ञातः सुष्टु प्रयुक्तः........"

(अग्नि पुराण)

विश्वनाथ प्रसाद

प्रतिभा के शीशमहल में द्विवेदी जी का वह कौन सा एक अद्वितीय मूल रूप था, जो उनके कृतित्व के नाना रूपों, नाना रंगों के प्रतिबिंबों में झलक रहा था? निश्चय ही वह उनका शैलीकार-रूप था। चाहे गद्य हो चाहे पद्य, चाहे निबंध हो चाहे समालोचना, चाहे शास्त्रीय विवेचना हो चाहे संपादकीय टिप्पणी, सब में उनका वही व्यापक रूप प्रतिफलित था। यदि "सूर सूर तुलसी ससी" वाली उक्ति की आलंकारिक शैली का अनुसरण किया जाय तो कहा जा सकता है कि आधुनिक हिंदी साहित्य के आकाश में शैली के शशि दो हुए—एक तो भारतेंदु और दूसरे प्रेमचंद, जिनमें से एक को चाहें तो दुर्जनहास्य से अछूता बालचंद्र कह लें और दूसरे को पूर्णचंद्र। परंतु शैली का सहस्रांशु सूर्य यदि कोई हुआ तो केवल महावीरप्रसाद द्विवेदी, और कोई नहीं।

आज हिंदी भाषा का जो रूप प्रचलित है, उसे परिमार्जित करने में द्विवेदी जी का योगदान सर्वोपरि माना जाता है। द्विवेदी जी निबंधकार, आलोचक, संपादक और कवि के रूपों में किस रूप में अपेक्षाकृत अधिक पटु थे और किसमें कम, यह कहना कठिन है। वास्तव में स्वयम् लेखक, आलोचक, संपादक और कवि होने के साथ-साथ द्विवेदी जी इन सभी विधाओं के प्रेरणास्रोत थे। हिंदी गद्य और पद्य के रूप को सँवारने में जैसा अनवरत श्रम द्विवेदी जी ने किया, वैसा किसी अन्य साहित्यकार ने नहीं।

भारतेंदु-युग में पद्य की भाषा ब्रज और गद्य की खड़ी बोली थी। कविता के लिए खड़ी बोली के प्रयोग की परंपरा द्विवेदी युग में ही आरंभ हुई। द्विवेदी जी ने अनेक कवियों को खड़ी बोली में कविता करने के लिए प्रोत्साहित किया।

इसके अतिरिक्त हिंदी में आलोचनात्मक निबंधों का सूत्रपात द्विवेदी जी की ही देन है। उनकी "कालिदास की आलोचना" नामक पुस्तक हिंदी में काव्यालोचना-विषयक संभवतः सर्वप्रथम पुस्तक है। इस पुस्तक के मूल्यांकन से यह बात समझ में आ जाती है कि द्विवेदी जी की आलोचक-दृष्टि कितनी पैनी थी।

पाश्चात्य विद्वानों ने आलोचना के प्रथम दो प्रकार माने हैं:— निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक। निर्णयात्मक आलोचना में आलोच्य विषय के गुण-दोषों का विवेचन करके उसका मूल्य निर्धारित किया जाता है। व्याख्यात्मक आलोचना मूल्य निर्धारण नहीं करती, बल्कि आलोच्य विषय में प्रस्तुत विचारों, भावों और तथ्यों को व्यवस्थित क्रम में रखकर उनका स्पष्टीकरण करती है। इसीलिए व्याख्यात्मक आलोचना का क्षेत्र विस्तृत है। सामाजिक तथा राजनीतिक पृष्ठभूमि का ध्यान रखते हुए तथा प्रचलित मान्यताओं से आलोच्य विषय की संगति बैठाते हुए और स्वीकृत मान्यताओं के आधार पर उसके औचित्य को परखते हुए जो विश्लेषण किया जाता है वही व्याख्यात्मक आलोचना है। ऐसी आलोचना को 'ऐतिहासिक समीक्षा' भी कहा जा सकता है।

द्विवेदी जी की आलोचना-शैली को प्रधानतया निर्णयात्मक कहना ही उपयुक्त होगा। वे किसी भी रचना के भाषा-संबंधी दोषों को चुन-चुन कर दिखाना खूब जानते थे। यदि निरपेक्ष भाव से देखा जाए तो इस दोष-दर्शन की प्रवृत्ति में हिंदी भाषा का हित ही निहित था।

किसी भी रचना के दोषों की संयत पर चुभती हुई आलोचना द्विवेदी जी के प्रखर व्यक्तित्व की परिचायक थी।

दुनिया में काम किए बिना तो किसी का काम नहीं चलता; लेकिन यह सामान्य अनुभव की बात है कि अधिकतर लोग काम को बेगार समझकर करते हैं। द्विवेदी जी ऐसे नहीं थे। उनके लिए छोटे से छोटा काम एक साधना होता था। हिंदी के लिए उन्होंने जो कुछ किया, वह उनके मनोयोगपूर्ण अध्ययन और चिंतन का फल था।

'सरस्वती' में प्रकाशन के लिए प्राप्त प्रत्यक रचना को जब तक द्विवेदी जी तबीयत भरकर मांज न

डालते थ तबतक चैन नहीं लेते थे। किसी रचना का स्तर उनके मान से जब तक 'सरस्वती' के अनुकूल न हो जाता तब तक वह रचना 'सरस्वती' में छप नहीं पाती थी। द्विवेदी जी को इन रचनाओं के लिए जी-तोड़ परिश्रम करना पड़ता था। उनके लिए शब्दों और मुहावरों का ही नहीं, अक्षर-अक्षर का महत्व था। कौन सा शब्द कहाँ उपयुक्त होगा ? कौन सा वाक्य भाव को उलझाता है ? किस मुहावरे में दम-खम है, किस में नहीं है ? इन बारीकियों में वे तबतक खोए रहते थे, जबतक उनका समाधान न हो जाता। हिंदी के संबंध में अग्नि-पुराण की इस सूक्ति का जैसा महत्त्व द्विवेदी जी ने जाना, वैसा अन्य किसी ने नहीं—

"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठुप्रयुक्तः
स्वर्गेलोके कामधुग् भवति ।।"

यही उनका शाश्वत आदर्श रहा।

द्विवेदी जी को यद्यपि संस्कृत का अच्छा ज्ञान था फिर भी वे दुर्बोध संस्कृत-गर्भित खड़ी-बोली के अनुयायियों में से न थे। वे मानते थे कि हिंदी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ नहीं हैं। अरबी-लिपि में लिखी जाने के कारण जो लोग उर्दू को हिंदी से भिन्न मानते हैं, वे भूल करते हैं। अपने ज़माने में प्रचलित भाषा-रूपों को देखकर द्विवेदीजी ने खड़ी-बोली की पांच शैलियाँ स्थिर की थीं:—

(1) मुंशी-शैली . . मुंशी, पंडित और मौलवियों के बीच की हिंदी;
(2) मौलवी-शैली . . अरबी-फारसी शब्दों से युक्त हिंदी;
(3) पंडित-शैली . . संस्कृत-गर्भित कठिन हिंदी;
(4) यूरेशियन-शैली . . विभिन्न भारतीय भाषाओं अथवा विदेशी भाषाओं के शब्दों की प्रचुरता वाली हिंदी;
(5) यूरोपियन-शैली . . अँग्रेज़ी के आगत-अनागत शब्दों से भरी हिंदी।

इनमें से द्विवेदी जी स्वयं किस शैली के हिमायती थे, यह उनके द्वारा प्रणीत या संपादित कृतियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है ।

चाहे किसी भाषा का शब्द क्यों न हो, यदि वह भाव-वहन में समर्थ है तो उसे अपनाने में द्विवेदी जी तनिक भी नहीं हिचकते थे। भाषा के संबंध में उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी थी।

सामान्यतः द्विवेदी जी ऐसी भाषा के पक्षपाती थे, जो जनसाधारण के लिए उपयुक्त हो। इस आदर्श की प्राप्ति के लिए वे बड़े से बड़ा त्याग करने को तत्पर थे। उनकी रचनाओं में पुनरुक्ति दोष बताया जाता है। ठीक भी है। लेकिन यदि अपनी बात समझा-समझा कर कहनी हो, अपने पक्ष के समर्थन के लिए मत-संग्रह करना हो, जो अभिप्राय को समझने में असमर्थ हैं, उनके मन में अपनी बात बैठानी हो तो इसके लिए दूसरा तरीका नहीं हो सकता। देखना यह है कि द्विवेदी जी की पुनरुक्ति में—बात को दुहरा-दुहरा कर कहने की प्रवृत्ति के पीछे कौन सी विचारधारा काम करती थी ? भाषा को सहज और सुबोध बनाने का उद्देश्य ही तो। वह चाहते थे कि भाषा विषय और प्रसंग के अनुरूप हो। साथ ही यह कि वह श्रोता या बोद्धा या पाठक रूप में विद्यमान साधारण जनता के भी अनुकूल हो।

द्विवेदी जी द्वारा प्रणीत विविध साहित्य का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शैली के व्यक्ति-परक और विषय-परक भेदों में से वे निर्वैयक्तिक शैली के सिद्धांत के ही समर्थक थे।

'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ प्राप्त रचनाओं का संपादन करते समय बहुधा यह होता था कि मूल-लेखक का व्यक्तित्व उसकी रचना से बिल्कुल अलग हो जाता था और द्विवेदी जी के संशोधनों के आलोक में वे रचनाएँ निर्विकार चमक उठती थीं। श्री प्रकाश जी ने ठीक ही बताया है कि द्विवेदी जी इस बात से सहमत न थे कि लेखक का व्यक्तित्व उसकी रचनाओं में झलकता हो। वस्तुतः शैली का यही मूलतत्व है, जिसे विरले ही समझ पाए हैं।

दुर्भाग्यवश शैली के विषय में यह भ्रांत धारणा फैल गई है कि व्यक्ति ही शैली है अथवा शैली ही व्यक्ति है। अँग्रेज़ी में 'द स्टाइल इज़ द मैन' यह एक प्रसिद्ध उक्ति है जो बहुधा उद्धृत की जाती है और जो फ्रेंच की इस

उक्ति का अनुवाद है—"ल स्तील ल आम"। ब्यूफों (Buffon) नामक आलोचक ने एक पुस्तक की शैली का विश्लेषण करते हुए लिखा था कि उस पुस्तक के लेखक ने उसे आद्योपांत अपने व्यक्तित्व के रंग में रंग डाला था। व्यक्ति स्वयं शैली बन गया था। उन्होंने इस प्रवृत्ति की सराहना नहीं, निंदा ही की थी। परंतु ब्यूफों के उस वाक्य को इस प्रकरण से विच्छिन्न करके लोग उसे दूसरे ही अर्थ में उद्धृत करने लगे, यहाँ तक कि उसी को शैली का लक्षण बना डाला। ब्यूफों के इस प्रकरण-विच्छिन्न वाक्य के अनर्थ की चर्चा करते हुए एक शैली तत्वज्ञ ने इसकी तुलना सर्प के बिष-दंत से की है। सचमुच ही शैली के विषय में इस भ्रामक मत ने अभिव्यक्ति-कला के समस्त सैद्धांतिक वातावरण को विषाक्त बना डाला। यह कैसी विडंबना है कि व्यक्तित्व का पक्ष जो शैली के विकास का साधक नहीं बाधक है, वही उसका मुख्य अंश बन गया और जो तन्मनस्कता का गुण शैली का प्रधान तत्व है वह बन गया उसका उपेक्षणीय पक्ष। वस्तुतः शैली के पूर्ण विकास के लिए यह आवश्यक है कि लेखक या कवि अपने विषय में अपने को बिल्कुल डुबो कर, अपने आप को बिल्कुल भुला कर, रम जाए। विषय के वर्णन में आत्मविभोर हुए बिना शैली का निखार कहाँ! शैली तो सदा विषय, प्रकरण और प्रसंग के अनुरूप रूप ग्रहण करती है। शैलीकार तो अपने व्यक्तित्व का होम करके ही, अपने को बिल्कुल खपा करके ही वातावरण के स्वरूप अथवा स्वानुभूति का यथावत् अंकन कर पाता है। कलाकार की साधना का लक्ष्य व्यक्तित्व का प्रदर्शन नहीं, बल्कि उसका गोपन है। यह ठीक है कि लाख छिपाने का प्रयास करने पर भी दुर्दमनीय व्यक्तित्व किसी-न-किसी रूप में उभर आता है। फिर भी उसे शैली का लक्ष्य तो नहीं माना जा सकता। उसे तो बराबर कला के काबू में ही रखना पड़ता है अन्यथा वह संतुलन का विघ्न ही बनता है। जहाँ व्यक्तित्व का पक्ष ही प्रधान बन जाता है वहाँ शैली नहीं, 'बस तर्ज़े अदा', बस कहने का ढंग-मात्र या शब्दों की कोरी कवायद भर देखने को मिलती है, जिसे अँग्रेज़ी में 'मैनरिज़म' कहते हैं। हिंदी के बहुतेरे लेखक जो भ्रमवश शैलीकार माने जाते हैं या स्वयं शैलीकार होने का दम भरते हैं, वस्तुतः ऐसे ही 'मैनरिज़म'-ढंग-मात्र के उस्ताद हैं। विषय चाहे कुछ भी हो, प्रसंग चाहे कुछ भी हो, हम तो अपने मन का ही अलापते जाएँगे, मनमाने शब्दों का मायाजाल बिछाते जाएँगे। व्यक्तित्व के बोझ से लदी हुई यह बेढंगी ढंगबाजी शैली नहीं, शैली का निषेध ही है।

द्विवेदी जी की शैली में यह दोष आप कहीं नहीं पाएँगे। उनकी शैली सर्वत्र व्यक्तित्व—निरपेक्ष और वस्तु-निष्ठ है। वे शैली के मर्मज्ञ थे, उसका मूल रहस्य जानते थे और इस विषय में सदा जागरूक रहते थे। इसीलिए उनकी शब्द-योजना के द्वार सभी तरह के शब्दों के लिए खुले रहते थे। विषय, प्रसंग, परिस्थिति और प्रकरण के अनुसार जब जिस प्रकार की शब्दावली उचित जँची उसी का व्यवहार किया। इसी कारण उनकी भाषा-शैली के अनेक रूप मिलते हैं। कहीं म्युनिसिपैलिटी आदि जैसे सामयिक विषयों पर टीका-टिप्पणी का प्रसंग आया तो अरबी, फारसी, अँग्रेज़ी आदि के आमफहम चलते आगत शब्दों की भरमार है। कहीं तात्त्विक विवेचना है तो संस्कृतप्राय गुरु गंभीर शब्दावली का प्रयोग है; कहीं कुछ नए विवरण देने हैं तो तदनुरूप सरल सुबोध शब्दों तथा छोटे-छोटे सरल वाक्यों की योजना है। द्विवेदी जी की शैली का यह लचीलापन, यह तरल अनुरूपण-क्षमता अनुकरणीय है।

शैली के इसी गुण के कारण वे आधुनिक युग के अधिष्ठाता बने और इस विशेष युग का नामकरण हुआ 'द्विवेदी-युग'। इतने लंबे समय के बीच, इतिहास-पृष्ठ पर खचित द्विवेदी जी की दिगंत-छाया में उनकी यह दूर-दर्शिता प्रतिभासित है कि हिंदी का रूप वही होना चाहिए, जो सबके लिए ग्राह्य हो और जो देशवासियों के बीच भाव की समता और एकता स्थापित कर सके। द्विवेदी जी ने सौ साल पहले इसे समझ लिया था और उसपर अमल करने का सफल प्रयास किया।

संविधान के अनुच्छेद 351 में हिंदी को जिस रूप में ढालने का उल्लेख किया गया है, उसकी नींव द्विवेदी जी ने रखी थी।

द्विवेदी जी के इस पुनीत अनुष्ठान में निरंतर योगदान देकर ही हम उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं।

आचार्य की स्मृति

जगदीश चतुर्वेदी

[वाराणसी के नागरी प्रचारिणी पुस्तकालय में
द्विवेदी जी की मूल पांडुलिपियाँ देखकर]

●

पुस्तकों के अंबार, असंख्य पांडुलिपियाँ
सधे बँधे से अक्षरों के चंद पुलिंदे
और 'सरस्वती' के साठ वर्ष पुराने अंक,
नागरी-प्रचारिणी के पुस्तकालय कक्ष में
आचार्य की स्मृति
यकायक कौंध गई है
और घनी श्वेत मूछों वाला एक दिव्य पुरुष
बैठ गया है सामने की लंबी, जर्जरित कुर्सी पर आकर—
निर्निमेष, चिंतातुर !
युग को सांस्कृतिक चेतना का संदेश देने !

वे स्वयं चेतना-पुंज थे—
एक युग थे
और उनसे उत्प्राणित होता था
तत्कालीन साहित्य का भविष्य
वे भविष्य द्रष्टा थे : स्वयंभू थे—
अतः सही अर्थों में आचार्य थे।

आचार्य—
एक सौम्य व्यक्तित्व,
एक बौद्धिक चेता कर्मठ पुरुष,
एक दार्शनिक, चिंतक और मनीषी का संपुंजित रूप !

और यह संपुंजित रूप
एक आदर्श बन गया था
द्विवेदी जी में !
—और उस आदर्श की रक्षा करते थे
उनके विचारों से प्रसूत लेखनियों के आगार !

आज सरस्वती का यह वरद पुत्र
हमारे बीच नहीं है
पर हमें दे गया है उपहार :
मैथिली, प्रसाद और प्रेमचंद से कृतिकारों का !

आज नागरी प्रचारिणी सभा का यह मौन
कहीं अवतरित हो रहा है
दिव्य मूर्ति में—
और वह मूर्ति आचार्य द्विवेदी की है।

द्विवेदी जी :
जो अपने में एक काल थे
एक युग—एक कालजयी :

उनकी स्मृतियों को, भाषा—दिग्दर्शन एवं
परिष्कारों को
प्रणाम—
माँ भारती के उस वरद पुत्र को अभिनंदन !

●

पुष्पांजलि

भक्त दर्शन

आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के जीवन, उनकी साहित्य-सेवाओं और उनके हिंदी प्रेम के संबंध में विस्तार के साथ प्रकाश डाला जा चुका है। द्विवेदी जी वास्तविक अर्थों में आचार्य थे। हिंदी विश्वविद्यालय यदि उन्हें आनरेरी 'डाक्टर आफ़ लेटर्स' की उपाधि देता तो उन्हें संमानित नहीं करता, बल्कि स्वयं संमानित होता। द्विवेदी जी ने आचार्य का पद किसी के देने से प्राप्त नहीं किया था, बल्कि स्वयं अपनी योग्यता, परिश्रम और अध्यवसाय से अर्जित किया था। वे सच्चे अर्थों में हिंदी-साहित्य के भीष्म पितामह थे। उन्होंने अनेक लेखकों और कवियों को बनाया और प्रोत्साहित किया। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उनके प्रेरक प्रभाव के ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। मैं 'प्रताप' के संपादक गणेशशंकर विद्यार्थी का उल्लेख इस प्रसंग में पर्याप्त समझता हूँ। विद्यार्थी जी ने अपने संस्मरणों और लेखों में स्वीकार किया है कि उन्होंने पत्रकारिता का ज्ञान आचार्य द्विवेदी जी के चरणों में बैठकर प्राप्त किया।

यदि हम यह संकल्प करें कि हिंदी को समृद्ध बनाने और उसे उसका अधिकारपूर्ण स्थान दिलाने में कोई कमी न रखेंगे तो यही हमारी द्विवेदी जी के प्रति सबसे बड़ी श्रद्धांजलि होगी।

इस बात में कोई संदेह नहीं कि उचित समय के भीतर हिंदी अपना स्थान प्राप्त कर लेगी। यद्यपि उसके मार्ग में अनेक अड़चनें हैं, तो भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है।

हिंदी के उत्थान में हिंदी भाषियों की अपेक्षा अहिंदी भाषी क्षेत्रों ने कहीं अधिक काम किया है। दक्षिण के कुछ भागों में यद्यपि खुले प्लेटफार्म पर हिंदी का विरोध किया जाता है और यह कोशिश की जाती है कि हिंदी के
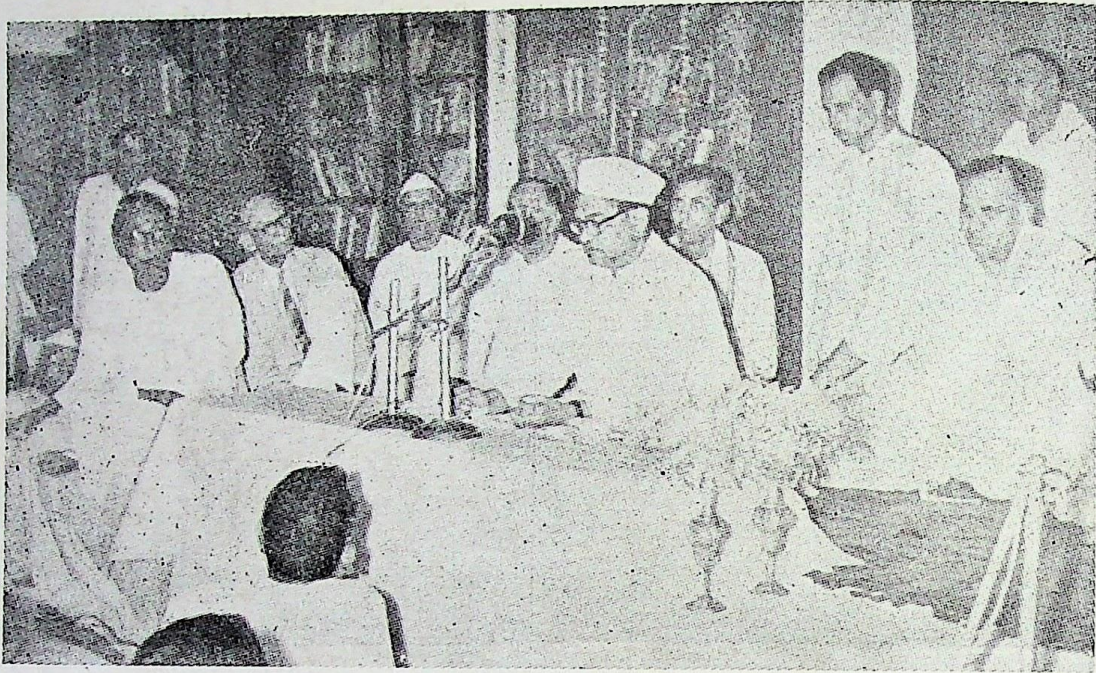
द्विवेदी जन्मशती समारोह के अंतर्गत काशी नागरी प्रचारिणी सभा में आयोजित श्रद्धांजलि सभा में उप-शिक्षा मंत्री माननीय भक्तदर्शनजी अध्यक्षीय भाषण देते हुए।

उपयोग की अवधि कुछ और आगे बढ़ा दी जाए तथापि वास्तविक स्थिति यह है कि वहाँ जो हिंदी का विरोध और अंग्रेज़ी का समर्थन करते हैं, वे ही अपने बच्चों को घर में हिंदी बोलना और पढ़ना सिखाते हैं। इतना ही नहीं, वे सब स्वयं भी गंभीरता के साथ हिंदी का अध्ययन करते हैं। इसके विपरीत हिंदी-भाषी क्षेत्रों की स्थिति यह है कि घरों और कार्यालयों में हिंदी के स्थान पर अंग्रेज़ी का मनमाना प्रयोग किया जाता है। मंच से और समाचार पत्रों के जरिए लोग हिंदी का नारा बुलंद करते हैं, फिर भी हिंदी को पूरी तरह राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सका, क्योंकि हिंदी के नेता स्वयं अपना काम हिंदी में नहीं करते। वास्तव में हिंदी की जितनी क्षति ऐसे लोगों के द्वारा की जा रही है, उतनी अन्य लोगों के द्वारा नहीं। दूर जाने की आवश्यकता नहीं। दिल्ली में, जो देश की राजधानी है और जहाँ चौबीसों घंटे हिंदी का व्यवहार होता है, व्यवसाइयों के साइन-बोर्ड अंग्रेज़ी में हैं। काशी में जो हिंदी का गढ़ मानी जाती है, एक साइन बोर्ड पढ़ने में आया—उसमें लिखा था :—"एक्षिक रक्तदाता केंद्र"। इस 'एक्षिक' केंद्र से हिंदी का क्रन्दन 'अनिवार्य' ही सुनाई पड़ा ऐच्छिक नहीं। यह लज्जा की बात है। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी को उसका अधिकारपूर्ण स्थान दिलाने में हमें धैर्य और संयम से काम लेना होगा। हिंदी इस देश की बहुमत की भाषा नहीं है। वह इस देश के 40 प्रतिशत निवासियों की मातृभाषा है। देश की

संविधान-मान्य चौदह भाषाओं को बोलने वालों में हिंदी का उपयोग करने वालों की संख्या सबसे अधिक है। भारत वर्ष के उन 40 प्रतिशत निवासियों के अतिरिक्त जो हिंदी को मातृ-भाषा के रूप में मानते हैं, 30–40 प्रतिशत लोग ऐसे भी हैं जो हिंदी बोल लेते हैं, समझ लेते हैं और बिना परिश्रम के अपने विचारों का आदान-प्रदान कर लेते हैं। इनमें ऐसे लोग भी हैं, जो बिना पढ़े-लिखे हैं, फिर भी हिंदी जानते हैं। इस गणना में वे भी शामिल हैं, जो असम, बंगाल, उड़ीसा, गुजरात, कश्मीर, महाराष्ट्र और पंजाब के निवासी हैं। इसीलिए हिंदी सबसे अधिक समझी और बोली जाने वाली भाषा है। 70-75 प्रतिशत भारतवासी इसे समझते हैं, फिर भी 25-30 प्रतिशत ऐसे भी लोग हैं, जिनके लिए हिंदी कठिन है। हमें उनकी कठिनाई का ध्यान अवश्य रखना होगा। दूसरी बात जिसका हमें ध्यान रखना चाहिए, वह यह कि हिंदी एक साधन है, साध्य नहीं। हिंदी के द्वारा हम सारे देश को एक सूत्र में पिरोना चाहते हैं। हम उसे औरों पर थोपना नहीं चाहते। यदि कहीं भी यह भ्रम हो कि हिंदी के विकास से लोगों को धक्का लगेगा, उन्हें हानि पहुँचेगी, तो हमें इसके निराकरण का उपाय सोचना चाहिए।

केंद्रीय सरकार ने हाल ही में यह निश्चय किया है कि अगले वर्ष से अखिल भारतीय प्रतियोगिता परीक्षाएँ व अन्य केंद्रीय सेवाओं में हिंदी माध्यम को छूट दी जाएगी। साथ ही यह शर्त भी है कि अहिंदी भाषी लोगों को इस निश्चय के कारण हानि न हो। हो सकता है हिंदी माध्यम की कठिनाई के कारण परीक्षार्थियों की वास्तविक योग्यता के प्रकट होने में शंका रहे। इसीलिए संघीय लोक सेवा आयोग से कहा गया है कि वह एक मोडरेशन का फार्मूला निकालें, ताकि माध्यम की सुविधा-असुविधा का असर परीक्षार्थियों के परीक्षा-फल पर न पड़े। ऐसा फार्मूला बनाए जाने पर ही हिंदी माध्यम को छूट दी जाएगी। मेरा अनुमान और विश्वास है कि जिस दिन विद्यार्थियों और अध्यापकों को यह मालूम हो जाएगा कि हिंदी माध्यम के द्वारा वे अखिल भारतीय प्रतियोगिता परीक्षाओं में बैठ सकते हैं, उसी दिन से विश्वविद्यालयों का वातावरण बदल जाएगा।

केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय हिंदी को समृद्ध करने से विचार के हिंदी में ऊँची से ऊँची कक्षाओं के लिए पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने में संलग्न है। हिंदी सेवी संस्थाओं और हिंदी माध्यम को अपनाने वाले विद्यालयों को प्रोत्साहन देने के संबंध में भी मंत्रालय पहले से अधिक प्रयत्नशील है। हिंदी के प्रसार के लिए योजना आयोग से धनराशि प्राप्त हुई है। अहिंदी क्षेत्रों में हिंदी के प्रसार के लिए और हिंदी सेवा संस्थाओं को बढ़ावा देने के लिए भी सहायता मिली है। डा० दौलतसिंह कोठारी की अध्यक्षता में मंत्रालय ने एक आयोग संगठित किया है, जो वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली का निर्माण कर रहा है। इस आयोग ने बी० एस—सी० स्तर तक की शब्दावली तैयार कर ली है और आशा है कि दो वर्षों में एम० एस—सी० स्तर की शब्दावली भी तैयार कर ली जाएगी।

हिंदी के विकास और प्रसार से संबंधित काम के लिए मंत्रालय ने सन् 1960 में केंद्रीय हिंदी निदेशालय की स्थापना की थी। निदेशालय द्वारा अनेक योजनाएँ चलाई जा रही हैं। विश्वविद्यालय स्तर की पाठ्य पुस्तकों का लेखन, अनुवाद और प्रकाशन किया जा रहा है। प्रकाशकों के सहयोग से बालकोपयोगी साहित्य और वैज्ञानिक लोकप्रिय पुस्तक के प्रकाशन का कार्य भी चालू है। निदेशालय 'भाषा' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका भी प्रकाशित करता है। इसके द्वारा बड़े काम हो रहे हैं और अहिंदी भाषी क्षेत्रों में इसका बड़ा प्रचलन है। हमने प्रयत्न किया था कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की जन्मशती के अवसर पर एक विशेष डाक-टिकट जारी किया जाए। मुझे खेद है कि समयाभाव के कारण यह इस वर्ष संभव नहीं हो सका। आगामी वर्ष यह डाक-टिकट निश्चित तिथि पर अवश्य ही जारी किया जाएगा।

[द्विवेदी जन्मशती के अवसर पर मई, 1964 में दिए गए अध्यक्षीय भाषण का सारांश],

द्विवेदी-जन्मशती समारोह

इंदुकांत शुक्ल

"आधुनिक हिंदी" के भीष्मपितामह स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की जन्मशती समारोहपूर्वक वर्ष भर मनाने का निश्चय कर नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ने हिंदी भाषा और साहित्य पर द्विवेदी जी के अशेष ऋण का स्मरण और उनकी पुण्यस्मृति में श्रद्धासुमनार्पण अपना परम पुनीत कर्तव्य समझा। सभा का यह विश्वास सही निकला कि उसके द्वारा आयोजित यह जन्मशती समारोह हिंदी के साहित्यकारों तथा अध्येताओं का उस महामना के प्रति संभवतः जयघोष है। कहना न होगा कि सभा को इस पावन अनुष्ठान में देश के कोने-कोने से हिंदी हितैषियों द्वारा जो प्रोत्साहन, समर्थन, सहयोग एवं सुझाव मिले उन्हीं के पूंजीभूत बल पर यह यज्ञ, इतने उल्लास और निष्ठा के साथ प्रारंभ हुआ तथा उसके प्रथम चरण का समापन बड़े भव्य रूप में 15 मई 1964 को सभा के प्रांगण में आचार्य द्विवेदी की कांस्य प्रतिमा का पं० सुमित्रानंदन जी पंत द्वारा अनावरण के साथ हुआ।

सभा से आचार्य द्विवेदी का बहुविध और सुदीर्घ संबंध था। द्विवेदी जी के अनेक उपकारों और दानों से सुसंपन्न तथा कृतज्ञ सभा के लिए यह अवसर अनेकशः स्पृहणीय एवं महार्ध था। अतएव द्विवेदी जी की कीर्ति के अनुरूप तथा उनके दाय की विशेष उत्तराधिकारिणी के रूप में हिंदी सेवा इस आद्या संस्था अपने दायित्व एवं हर्ष को सहस्रगुणित रूप में अनुभव कर तदनुरूप कुछ करना चाहा।

सभा की प्रबंध समिति ने अपने 18 कार्तिक, 2020 वि० के अधिवेशन में यह समारोह मनाने का प्रस्ताव पारित किया। समारोह की योजना बनाने के लिए एक मंडल संघटित किया गया। लगभग तीस वर्ष पूर्व सभा द्वारा प्रकाशित 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ' की उज्जवल परंपरा को अब एक अखिल भारतीय पर्व का रूप देना स्थिर हुआ। द्विवेदी जी के युगविधायक कृतित्व एवं गंभीर व्यक्तित्व की कीर्ति तथा उपादेयता जैसे भी

संबंधित हो वह सब करने तथा कराने का निश्चय इस मंडल ने अपनी कई बैठकों में किया। पंतजी ने अपने भाषण में श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा :

"लँगड़ाती खड़ी बोली को खड़ा करके अपने बल चलना द्विवेदी जी ने सिखलाया, उन्होंने अनेक लेखकों को निखारा तथा हिंदी के सर्वांगीण विकास का पथ प्रशस्त किया। हिंदी की महती शक्ति को द्विवेदी जी ने इतना पहले पहचाना था कि उनकी मूर्ति का अनावरण भारतीय जनजागरण और एक शती के इतिहास का अनावरण है। हमारी एक शती के संघर्ष, संकट और मनोरथ उनकी प्रतिमा में प्रतिबिंबित दीखते हैं।

विदेशी भाषा और संस्कृति का हम पर इतना प्रभाव है कि हम अपनी भाषा और संस्कृति का प्रकाश नहीं देख पाते। विदेशी भाषा का व्यवहार वैसा ही है जैसा अपने खेत में अन्न न उगाकर आयात हुए अन्न से काम चलाना। ठीक है कि पाश्चात्य विज्ञान ने हमारे बहिजगत् का कोना-कोना आलोकित किया है, भौतिक सुविधाएँ बढ़ गई हैं। परंतु हमारे मानस के आभ्यंतर का दर्शन जो प्रकाश कराए वह भारत के पास ही है। भारतीय संस्कृति आज की मरणप्राय मानवता को नवजीवन दे सकती है। भारतीय चैतन्य को विश्व में मुखरित करने का काम हिंदी करेगी।"

सायंकाल द्विवेदी जी के पत्रों, उनकी संपादित पांडुलिपियों तथा उनके द्वारा सभा को प्रदत्त विविध विषयक, तथा अनेक भाषायी पुस्तकों की अमूल्य निधि की प्रदर्शनी का उद्घाटन किया श्री लक्ष्मीनारायण जी सुधांशु, अध्यक्ष, बिहार विधान सभा ने। तदनंतर सभा भवन में श्रद्धांजलि समारोह की अध्यक्षता, केंद्रीय उपमंत्री, शिक्षा विभाग, नई दिल्ली श्री भक्तदर्शन जी ने की। श्रद्धांजलि अर्पित करने वालों में प्रमुख थे आचार्य बीरबल सिंह, उपकुलपति काशी विद्यापीठ, पं० सुरतिनारायण मणि जी त्रिपाठी, उपकुलपति, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, तथा पं० शिवनंदनलाल जी दर, कुलसचिव, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, द्विवेदी जी की प्रतिभा तथा उनकी हिंदी सेवा पर सर्वप्रथम एक सुचिंतित व्याख्यान डा० रामप्रसाद जी त्रिपाठी ने दिया जिन्होंने इस समारोह का उद्घाटन भी किया। हिंदी प्रयोगों के संबंध में द्विवेदी जी के नियामक रूप पर एक
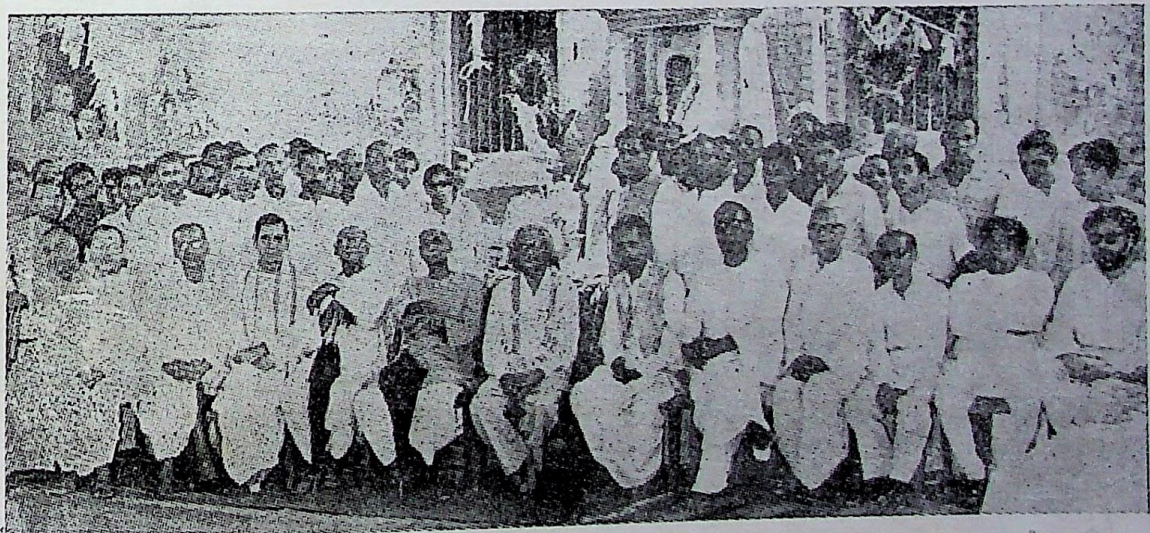
कुर्सी पर बैठे हुए, बाएँ से—सर्व श्री मौहकमचंद मेहरा, प्रभात शास्त्री, वाचस्पति पाठक, करुणापति त्रिपाठी, ब्रजरत्न दास, पद्मश्री रामचंद्र वर्मा, पद्मभूषण सुमित्रानंदन पंत, सुधाकर पांडेय शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढ़ब बनारसी', डा० भोलाशंकर व्यास नजीर बनारसी, एम० भारती।

संक्षिप्त किंतु सारगर्भित भाषण श्री बेढब बनारसी ने किया जिसम उन्होंने अपने से ही संबंधित एक संस्मरण का उल्लेख किया ।

श्री भक्तदर्शन जी ने अध्यक्षीय भाषण में केंद्रीय सरकार द्वारा हिंदी के हित में किए जाने वाले अनेक कार्यों का उल्लेख किया और कहा कि द्विवेदी जी हिंदी पत्रकारिता के जनक और उन्नायक थे। उनकी विद्वत्ता आचारशीलता तथा प्रतिभा से उन्हें सहज ही आचार्यत्व मिला। यह आज कल के आचार्यत्व से भिन्न कोटि का आचार्यत्व था। आज तो एम० ए० में प्रथम श्रेणी पाना दुष्कर है, परंतु आचार्यत्व (पी-एच० डी०) पाना बहुत सरल। चालीस प्रतिशत भारतीय हिंदी भाषी हैं, तीस, पैंतीस प्रतिशत और भी लोग—आसाम, बँगाल, काश्मीर, महाराष्ट्र, गुजरात आदि के—हिंदी बोल समझ लेते हैं। इसीलिए इसका राजभाषा पद पाना उचित है। अंत में आपने बताया कि द्विवेदी स्मारक डाक टिकट अगले वर्ष चालू हो जाएगा।

द्विवेदी शती संबंधी कुछ ऐसे भी संकल्प सभा ने किए हैं। जो द्रव्य साध्य हैं किंतु सभा इस द्रव्य संग्रह के लिए कृतसंकल्प और आश्वस्त है :—

1. द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ के सस्ते संस्करण का प्रकाशन।
2. द्विवेदी जी के पत्रों का संपादन-प्रकाशन।
3. द्विवेदी ग्रंथावली का कई खंडों में सर्वसुलभ मूल्य में प्रकाशन।
4. द्विवेदी शोध-संस्थान की स्थापना जिसमें हिंदी भाषा एवं साहित्य पर शोध कराने की व्यवस्था हो।

सभा ने पत्र-पत्रिकाओं से द्विवेदी विशेषांक तथा भारत सरकार से डाक टिकट निकालने का अनुरोध किया है। इसमें उसे पर्याप्त सफलता भी मिली है। यत्र-तत्र द्विवेदी जी के जो शतवार्षिकी उत्सव हो रहे हैं उनसे संपर्क रख कर उनके आयोजकों को तथा पत्र-पत्रिकाओं को उचित परामर्श एवं सामग्री-साहाय्य देकर भी सभा अपना कर्तव्य पूरा कर रही है।

इस समारोह की अविस्मरणीय विशेषता थी नवीन तथा प्राचीन पंक्तियों के साहित्यकारों का संगम। द्विवेदी युगीन लेखकों जैसे पदम श्री श्री रामचंद्र जी वर्मा, श्री शांतिप्रिय जी द्विवेदी, बाबू ब्रजरत्न दास जी, श्री कृष्णदेव प्रसाद जी गौड़ से लेकर वर्तमान पीढ़ी तक के प्रतिनिधि साहित्यकार एवं पत्रकार एकत्रित थे। साथ ही शिक्षा-शास्त्रियों से लेकर समाज के सभी उद्बुद्ध वर्गों के अग्रणी भी संमिलित थे।

समारोह की इस विरल सफलता का सारा श्रेय सभा की निर्मल साहित्य सेवी परंपरा को है, उस परंपरा के ध्वजवाही, नवीन पीढ़ी के साहित्यकारों को हैं, तथा सभा के तपोनिष्ठ और कर्तव्यपरायण मंत्री, पुराने साहित्यकार एवं विद्वान श्री पं० शिवप्रसाद जी मिश्र 'रुद्र काशिकेय' तथा उनके सहयोगियों को है, और काशी के प्राचीन-अर्वाचीन उन सभी साहित्य-सेवियों को है जिन्होंने प्रतिमा के पीठिका-मंडप के निर्माण का सारा व्यय वहन कर अपनी निस्वार्थ सदाशयता का पुनः प्रमाण दिया। समारोह मंडल के संयोजक का उल्लेख मैं जानबूझ कर अंत में करूँगा। सारी योजना की परिकल्पना तथा उसे रूपायित करने का अथक संकल्प लेकर श्री पं० सुधाकर पांडेय जी का अहर्निश व्यस्त रहना, बाधा एवं विक्षेप के अप्रत्याशित अवसादों को अस्पृश्य बनाए रखकर अनवरत अध्यवसाय द्वारा इस यज्ञ के यशोमय समापन का भार जैसे केवल उन्हीं पर था। नई पुरानी पीढ़ियों के इतने सौमनस्यपूर्ण संमेलन के कारण तथा व्यवस्था-कौशल के भी कारण सभा का यह साहित्यिक समारोह बहुत दिनों तक याद किया जाएगा।

ग्रंथ-सूची

नैषध चरितचर्चा

बनारस, नागरी प्रचारिणी सभा (मुद्रकः बनारस, हरिप्रकाश यंत्रालय), 1899. 4, 72 पृ॰ 20 सें॰। परिचयात्मक।

हिंदी कालिदास की समालोचना

कानपुर, मर्चेंट प्रेस, 1901. 4, 158 पृ॰ 22.5 सें॰, ला॰ सीताराम कृत कुमार संभव धाषा, मेघदूत भाषा और रघुवंश भाषा की आलोचना।

श्यामसुंदरदास, संपा॰

हिंदी वैज्ञानिक कोश

वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, 1906. म॰ प्र॰ द्वि॰ संपादितः दार्शनिक परिभाषा, पृ॰ 243–258 तक। प्रथम स्वतंत्र मुद्रण 1901 ई॰ में।

विक्रमांकदेवचरित चर्चा

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1907. 2, 80, 13 पृ॰ 18 सें॰ विल्हण कृत विक्र॰ का परिचय।

हिंदी भाषा की उत्पत्ति

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1907. 2,96 पृ॰ 16 सें।

संपत्तिशास्त्र

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1908. 366 पृ॰ सचित्र 25 सें॰ भूमिका 1907 में लिखी गई। अँग्रेज़ी की कुछ पुस्तकों के आधार पर सर्वप्रथम 'सरस्वती' और 'आरा नागरी प्रचारिणी सभा पत्रिका' में कुछ निबंध छपे।

कालिदास की निरकुंशता

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1911. 2, 88 पृ॰ 16 सें॰ आलोचना।

नाट्यशास्त्र

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1911. 6, 59 पृ॰ 21 सें॰ 1903 में लिखी जा चुकी थी।

प्राचीन पंडित और कवि

जुही (कानपुर), कार्मर्शल प्रेस, 1918. 8 प्राचीन विद्वनों पर लेख (सरस्वती में प्रकाशित)

वनिता विलास

जुही (कानपुर), कामर्शल प्रेस, 1919. 4, 84 पृ॰ 18 सें॰ सरस्वती में प्रकाशित 12 लेख।

कालिदास

जबलपुर, राष्ट्रीय हिंदी मंदिर, 1920 (1977 वि०). 6, 235 पृ० 18 सें०
कालिदास संबंधी 9 लेख ।

कालिदास और उनकी कविता

जबलपुर, राष्ट्रीय हिंदी मंदिर, 1820. सरस्वती में प्रकाशित लेख ।

रसज्ञ-रंजन

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1920. सरस्वती में प्रकाशित लेखों का संग्रह ।

औद्योगिकी

जबलपुर, राष्ट्रीय हिंदी मंदिर, 1921 (1978 वि०). 6, 112 पृ० 18 सें० । भूमिका 1920 में लिखी गई ।

हिंदी-साहित्य-संमेलन की स्वागतकारिणी समिति के सभापति पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का वक्तव्य

कानपुर, स्वागत समिति (कमर्शल प्रेस कानपुर से मुद्रित), 30 मार्च 1923. 77 पृ० 18 सें० ।

अतीत-स्मृति

मुरादाबाद, मानस-मुक्ता-कार्यालय——रामकिशोर शुक्ल (मुद्रक सरस्वती प्रेस, काशी), 1924. 6, 241 पृ० 18 सें० । सरस्वती में प्रकाशित सांस्कृतिक-ऐतिहासिक लेखों का संग्रह ।

सुकवि-संकीर्तन

लखनऊ, गंगा पुस्तकमाला, 1924 (1981 वि०). 4, 169 पृ० मु० चि० 18 सें० । भूमिका अक्टूबर, 1922 को लिखी गई । 13 लेख-दुर्गाप्रसाद, माइकेल, नवीनचंद्र आदि पर ।

अद्भुत आलाप

लखनऊ, गंगा पुस्तक माला कार्यालय, 1924 (1981 वि). 4, 156 पृ० 18 सें० । सरस्वती में प्रकाशित विभिन्न विषयों पर 21 लेख ।

महिला-मोद

लखनऊ, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, 1925. 8, 67 पृ० सचित्र 18 सें० । सरस्वती में प्रकाशित महिलोपयोगी 10 लेख ।

आख्यायिका-सप्तक

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1927. 6, 86 पृ० 18 सें० । 'सामग्री बँगला, अँग्रेज़ी और संस्कृत से ली गई है'– 7 निबंध ।

आध्यात्मिकी

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1927. 8, 203 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित धर्म-दर्शन संबंधी लेख ।

कोविद-कीर्तन

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1927. 4, 138 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित 12 विद्वानों के संक्षिप्त जीवन-चरित ।

विदेशी विद्वान्

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1927. 2, 129 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित लेख ।

आलोचलांजलि

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1928. 9, 174 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित लेख ।

दृश्य-दर्शन

कलकत्ता, सुलभ ग्रंथ प्रचारक मंडल, 1928. 133 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित लेख ।

लेखांजलि

कलकत्ता, हिंदी पुस्तक एजेंसी, 1928. 8, 167 पृ० 18 सें०. सामाजिक विषयों पर 19 लेख ।

वैचित्र्य-चित्रण

संपादक प्रेमचंद, लखनऊ, नवलकिशोर प्रेस, 1928. 6, 125 पृ० 18 सें०। छह अध्यायों में नराध्याय, वानराध्याय, जलचराध्याय, स्थलचराध्याय, उद्भिज्जाध्याय, प्रकीर्णिकाध्याय। सरस्वती में प्रकाशित लेख।

साहित्य-संदर्भ

लखनऊ, गंगा प्र० मा० कार्यालय, 1928 (1985 वि०). 6, 274 पृ० 18 सें०। सरस्वती में प्रकाशित 20 लेख। 4 अन्य लेखकों के भी।

पुरावृत्त

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1929. 8, 154 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित 12 इतिहास संबंधी लेख।

पुरातत्व-प्रसंग

चिरगांव, साहित्य प्रेस, 1929. 6, 171 पृ० 17 सें०. सरस्वती में प्रकाशित पुरातत्व संबंधी 13 लेख।

प्राचीन-चिह्न

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1929. 2, 123 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित साँची, एलौरा, खुजराहो संबंधी लेख।

साहित्यालाप

पटना, खड्गविलास प्रेस, 1929. 8, 352 पृ० 18 सें०. 'इस संग्रह में कुछ अन्य अभिन्नात्मा लेखकों के भी लेख शामिल कर लिए गए हैं' सरस्वती में प्रकाशित हिंदी भाषा-लिपि संबंधी 18 लेख।

चरितचर्या

झाँसी, साहित्य सदन, 1930. 133 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित लेख।

वाग्विलास

लहेरियासराय, हिंदी पुस्तक भंडार, 1930. 6, 288 पृ० 17 सें०. भाषा, व्याकरण, लिपि, समालोचन तथा अन्य 14 निबंध।

विज्ञान-वार्ता

लखनऊ, नवलकिशोर प्रेस, 1930. 2, 233 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित लेख।

समालोचना-समुच्चय

इलाहाबाद, रामनारायणलाल, 1930. 236 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित विभिन्न विषयों पर 20 निबंध।

साहित्य-सीकर

इलाहाबाद, तरुण-भारत ग्रंथावली, 1930 (1987 वि०). 6, 141 पृ० 18 सें०। सरस्वती में प्रकाशित 21 लेख।

विचार विमर्श

वाराणसी, भारती भंडार, 1930. 2, 555 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित लेख।

संकलन

वाराणसी, भारती भंडार, 1931. 179 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित लेख।

चरित्र-चित्रण

इलाहाबाद, हिंदी प्रेस, 1934. 2, 147 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित लेख—जीवनी-साहित्य।

प्रबंध-पुष्पांजलि

झाँसी, साहित्य सदन, 1935 (1992 वि०). 6, 147 पृ० 17 सें० 11 लेख। 4 उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव संबंधी तथा अन्य।

अन्य व्यक्तियों द्वारा संपादित

द्विवेदी-पत्रावली

संपा० बैजनाथसिंह विनोद; भूमिका मै० श० गुप्त। वाराणसी, भारतीय ज्ञानपीठ, 1954. 226 पृ० 19 सें०

संचयन

संपा० प्रभात शास्त्री। इलाहाबाद, साहित्यकार संघ, 1949. 27, 145 पृ० 18 सें०।

द्विवेदी पत्रावली

2801 पत्र नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित।

मौलिक काव्य

देवी-स्तुति शतक

जुही (कानपुर) ग्रंथकार, 1892, चंडी-स्तुति (पद्यात्मक)

नागरी

जयपुर, वेदविद्या प्रचारिणी सभा, 1900. 4, 23 पृ० 18 सें०. नागरी विषयक चार कविताओं का सग्रह।

काव्य-मंजूषा (प्रथम भाग)

जयपुर, जैन वैद्य, 1903 (हरिप्रकाश और तारा यंत्रालय बनारस में मुद्रित). 6, 143 पृ० 21 सें० (1897–1902 तक मौलिक कविताओं का संग्रह. 1923 में 'सुमन' नाम से सशो० सं०)

कविता कलाप नामक सचित्र कविताओं का संग्रह

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1909. 70 पृ० फलक 26 सें० (द्वि० द्वारा संपा० निजी, दे० प्र० पूर्ण, नाथू. शकर, का० गुरू और मै०श० गुप्त की कविताएँ)

सुमन

झाँसी, साहित्य सदन, 1923। 2, 135 पृ० 18 सें०. हिंदी और संस्कृत की पद्यात्मक रचनाएँ। 'काव्य मंजूषा' का संशोधित संस्करण

द्विवेदी-काव्यमाला

सं० देवीदत्त शुक्ल। इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1940. 19, 454 पृ० 21 सें०. संपूर्ण काव्य-संग्रह।

अप्रकाशित

तरुणोपदेश—1894 ई०

अप्रकाशित। दौलतपुर में। 120 पृ० 4, अधिकरणों में। विस्तृत वि० देखिए डा० उदयभानु सिंह कृत प्रबंध, पृ० 88—कामशास्त्र पर उपदेशात्मक पुस्तक।

कौटिल्य कुठार

अप्रकाशित। नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित। पुस्तक में रायदेवीप्रसाद कृत संक्षिप्त भूमिका अँग्रेज़ी में। विस्तृत विवरण के लिए देखिए—डा० उदयभानु सिंह कृत प्रबंध, पृ० 90।

सोहागरात

अप्रकाशित, दौलतपुर में। बाइरन के 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद। विस्तृत विवरण देखिए—डा० उदयभानु सिंह कृत प्रबंध पृ० 89।

अनुवाद

भर्त्तहरि

विनय-विनोद, 1899. वैराग्यशतक का पद्यात्मक (दोहा) अनुवाद ;

जयदेव

विहार-वाटिका, 1890. गीतगोविंद का भावानुवाद ।

भर्त्तृहरि

स्नेहमाला, 1890. श्रृंगारशतक का पद्यात्मक अनुवाद ।

कालिदास

ऋतु-तरंगिणी । कलकत्ता, आर्यावर्त प्रेस, 1891. 6, 57, 7 पृ० 17 सें०, ऋतुसंहार पद्यात्मक छायानुवाद ।

जगन्नाथ पंडितराज

गंगा लहरी 1891. सवैया छंदों में अनुवाद ।

भामिनी-विलास---बंबई, खेमराज कृष्णदास, 1891. 16, 168 पृ० 20 सें०, गद्यात्मक अनुवाद ।

अमृत-लहरी 1896 यमुनास्तोत्र का अनुवाद ।

पुष्पदंत

(श्री) महिम्नस्तोत्र 1891. पद्यात्मक अनुवाद ।

बेकन-विचार-रत्नावली, बेकन जॉन

खेमराज कृष्णदास, बम्बई, 1901. 6, 134 पृ० 21 सें०, बेकन के 36 निबंधों का अनुवाद ।

कुमारसंभव-सार

वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, 1902. 2, 51 पृ० 17 सें०, प्रथम पांच सर्गों का पद्यात्मक अनुवाद ।

शिक्षा, स्पैंसर, हर्बर्ट (1820–1903), इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1906. 28, 358 पृ० 24 सें०, 'एजूकेशन' का अनुवाद ।

जल-चिकित्सा, कुने, लुई; इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1907.

स्वाधीनता

मिल, जॉन स्टुअर्ट; बंबई, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, 1907. 20, 22 पृ० 18 सें०, 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद । भूमिका 1905 में लिखी गई ।

महाभारत मूल आख्यान

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1910. 15, 502, 2 पृ० 24 सें०, 'सुरेंद्रनाथ ठाकुर कृत महाभारत से स्वच्छंदता-पूर्वक किया गया अनुवाद'---भूमिका 1908 में लिखी गई ।

कालिदास

रघुवंश का हिंदी गद्य में भावार्थ-बोधक अनुवाद । इलहाबाद, इंडियन प्रेस, 1913. 6, 260 पृ० मु० चि० 21 सें०, गद्यात्मक अनुवाद ।

नारायण भट्ट

वेणी संहार नाटक का आख्यायिका के रूप में भावार्थ । जुही (कानपुर), कामर्शल प्रेस, 1913.

कालिदास

कुमारसंभव का हिंदी गद्य में भावार्थ-बोधक अनुवाद । इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1917. 7, 173 पृ० 17 सें०, गद्यात्मक अनुवाद । भूमिका 1915 में लिखी गई ।

मेघदूत का हिंदी-गद्य में भावार्थ बोधक अनुवाद इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1917. 11, 49 पृ० 18 सें०

भारवि

किरातार्जुनीय महाकाव्य का भावार्थ बोधक अनुवाद। इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1917. 57, 387 पृ० 18 सें०, गद्यानुवाद।

आलोचनात्मक, अभिनंदनपरक ग्रंथ और पत्रिकाओं के विशेषांक

उदयभानु सिंह

महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग

लखनऊ, लखनऊ विश्वविद्यालय, 1951. लखनऊ विश्वविद्यालय से 1946 में स्वीकृत प्रबंध।

कुलवंत कोहली

युग-निर्माता द्विवेदी––बंबई, वोरा एण्ड को०, 1961. 120 पृ० 18 सें० 2.50.

द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ

वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा 1933. द्विवेदी संबंधी 20 लेख और संदेश।

प्रेमनारायण टंडन

द्विवेदी-मीमांसा––इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1939. 6, 286 पृ० 18 सें० 2.50.

बालक––**द्विवेदी-स्मृति-अंक** 1940.

बैजनाथसिंह विनोद

द्विवेदी युग के साहित्यकारों के कुछ पत्र—इलाहाबाद, हिंदुस्तानी एकेडेमी, 1958. 166, 222 पृ० 22 सें०,

माधुरी, फरवरी, 1934 ई०।

विशाल भारत, 1933 ई० :

सरस्वती––द्विवेदी-स्मृति-अंक, भाग 40––सं० 2। फरवरी, 1939.

सरस्वती––हीरक जयंती अंक, 1900–1959 ई०। दिसंबर, 1961.

साहित्य-संदेश––द्विवेदी अंक, सं० 8, भाग-2, 1939.

सुधा (पत्रिका)—सितंबर, 1935.

हंस––अभिनंदनांक

अप्रेल से जुलाई 1930, अप्रेल 1933 और अक्टूबर 1935 ई०.

लेख-सूची

सन् 1900-1909 तक 'सरस्वती' में प्रकाशित द्विवेदीजी के लेखों की सूची

पृष्ठ

पृष्ठ

पृष्ठ

नवंबर, 1907

अप्रैल, 1909 पृष्ठ

मई, 1909

जून, 1909

जुलाई, 1909

अगस्त, 1909

सितंबर, 1909

Central Library
185536
Gurukula Kangri (Deemed to be University)

लेखक परिचय

- **मैथिलीशरण गुप्त**, साकेत-सदन, चिरगाँव (झाँसी)।
- **श्रीप्रकाश**, सेवाश्रम, वाराणसी-1.
- **हरिभाऊ उपाध्याय**, शिक्षा मंत्री, राजस्थान, जयपुर।
- **वृंदावनलाल वर्मा**, मयूर प्रकाशन, झाँसी।
- **प्रयागदत्त शुक्ल**, विदर्भ हिंदी साहित्य संमेलन, श्री फत्तेचंद मोर हिंदी भवन, वर्धा रोड, नागपुर–1.
- **जहूरबख़्श**, 30।10, दक्षिणी तात्या टोपे नगर, भोपाल (म० प्र०)।
- **हरिशंकर शर्मा**, लोहामंडी, आगरा।
- **गोविंद दास**, राजा गोकुलदास का महल, जबलपुर।
- **रामचंद्र वर्मा**, 47, लाजपतनगर, बनारस–2.
- **विनोदशंकर व्यास**, द्वारा, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
- **रामप्रताप त्रिपाठी**, सहायक मंत्री, हिंदी साहित्य संमेलन, इलाहाबाद।
- **रामस्वरूप दुबे**, पत्रकार, पो० बा० नंबर 220, कानपुर।
- **कुंतल गोयल**, द्वारा, प्रो० उत्तमचंद्र गोयल, गवर्नमेंट डिग्री कालेज, सीधी (म० प्र०)।
- **अमरबहादुर सिंह 'अमरेश'**, गांधीनगर, रायबरेली (उ०प्र०)।
- **श्री. दा. सातवलेकर**, अध्यक्ष, स्वाध्याय मंडल, पारडी (जिला-सूरत)।
- **प्रमिला शर्मा (कुमारी)**, हृदय-निवास, सहारनपुर।
- **हरिमोहनलाल श्रीवास्तव**, किताबघर, दतिया (म० प्र०)।
- **बलवीर त्यागी**, 1545, वेस्ट रोहतासनगर, शाहदरा, दिल्ली-32.
- **रामस्वरूप भक्त 'विमेश'**, हिंदी विभाग, के० एल० एस० कालेज, नवादा (गया)।
- **ए० एस० सुलोचना**, 31, कार स्ट्रीट, मद्रास–5.
- **नंददुलारे वाजपेयी**, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)।
- **इंद्रनाथ चौधुरी**, प्राध्यापक, हंसराज कालेज, दिल्ली।
- **गंगाप्रसाद विमल**, हिंदी विभाग, दिल्ली कॉलेज, अजमेरी गेट, दिल्ली।
- **अशोक महाजन**, 118।28, कौशलपुरी, कानपुर।
- **सुधाकर पांडेय**, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
- **पप्पू जी**, सुगरकेन ब्रीडिंग इंस्टीट्यूट, कोयंबटूर–7 (मद्रास)।
- **सुरेंद्रनाथ सिंह**, द्वारा, उदयभानु सिंह, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- **रामफेर त्रिपाठी**, 40-ई, मोतीमहल, लखनऊ।
- **कन्हैयालाल शर्मा, 'ब्रजेश'**, राजकीय प्रेस, अलीगढ़।
- **पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी**, खैरागढ़ (म० प्र०)।
- **मार्कण्डेय उपाध्याय**, मुद्रण विभाग, नागरी प्रचारिणी सभा, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (उ० प्र०)।
- **गौरीशंकर गुप्त**, प्रधान-मंत्री, राष्ट्रकवि परिषद्, ए-2।5, गायघाट, वाराणसी –1 (उ० प्र०)।
- **सोमदेव शर्मा**, 4।65, रूपनगर, दिल्ली–6.
- **लक्ष्मीप्रसाद मिस्त्री 'रमा'**, रमा निवास, हटा (दमोह)।
- **देवप्रकाश गुप्त**, ग्राउंड कॉटेज, 18।317, लोदी रोड, नई दिल्ली–3.
- **रघुबीर सिंह (डा०)**, सीतामऊ (मालवा)।

- **परमात्माशरण बंसल,** बी–4।23, लोदी कालोनी, नई दिल्ली–3.
- **लक्ष्मीशंकर व्यास,** व्यास निवास, 31।51, काल भैरव, वाराणसी–1.
- **रमेश साबद्रा 'भारती',** हिंदी विभाग, शासकीय ज्ञान विज्ञान महाविद्यालय, औरंगाबाद (महाराष्ट्र-राज्य)।
- **चंद्रप्रकाश सिंह (कुवर),** आचार्य तथा अध्यक्ष, हिंदी विभाग, म० स० विश्वविद्यालय, बड़ौदा।
- **उदयभानु सिंह (डा०),** हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- **कृष्णबिहारी मिश्र,** प्राध्यापक, हिंदी विभाग, दयाल सिंह कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- **एन. नारायग,** हिंदी पंडित, एस० वी० हाई स्कूल, कनियूर (जिला-कोयंबटूर)।
- **रुद्र काशिकेय,** प्रधान मंत्री, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
- **मधुकर भट्ट,** हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- **अगरचंद नाहटा,** नाहटों की गवाड़, बीकानेर।
- **लक्ष्मीनारायण दुबे (डा०),** हिंदी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)।
- **शिवनारायण सक्सेना,** भावनगर (जिला-झाबुआ) (म० प्र०)।
- **असित चट्टोपाध्याय,** बंगला विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता।
- **रणजीतकुमार सेन,** केन्द्रीय हिंदी निदशालय, नई दिल्ली।
- **नवारुढ़ वर्मा,** असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, गुवाहाटी (असम)।
- **रजनीकांत दास,** पत्रकार, उदितनगर, राउरकेला (उड़ीसा)।
- **सुरेंद्र प्रकाश** 4।2613, बीडनपुरा, करौलबाग, नई दिल्ली।
- **सोमशेखर 'सोम',** हिंदी विभाग, दि कम्युनिटी सेंटर, जयनगर, बंगलौर।
- **मखनलाल बेकस,** कश्मीरी यूनिट, आकाशवाणी, नई दिल्ली।
- **मनहर चौहान,** आई-154, कीर्तिनगर, नई दिल्ली-15.
- **ललिता रामकृष्णन् (श्रीमती),** केंद्रीय हिंदी निदेशालय, प्रदर्शनी मैदान, नई दिल्ली।
- **हनुमच्छास्त्री अयाचित,** हिंदी-तेलुगु विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय अलीगढ़।
- **हरनाम, उर्वशी,** गफ्फार मार्केट, अजमल खाँ रोड, नई दिल्ली।
- **कंचन कुमार,** संपादक 'मराल', डी-53।90 डी, नारायणनगर, वाराणसी।
- **प्रभाकर माचवे, (डा०)** 120, रवीन्द्र नगर नई दिल्ली–11.
- **रवि वर्मा,** संपादक, 'युगप्रभात', मातृभूमि बिल्डिंग्स, कालिकट (केरल)।
- **हनुमत्प्रसाद शास्त्री,** अ० भा० संस्कृत साहित्य संमेलन कार्यालय, नंदा लाज, शक्तिनगर, दिल्ली।
- **सुमित्रानंदन पंत,** 18-बी, स्टेनली रोड, इलाहाबाद।
- **गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी,** धर्मसंघ शिक्षा मंडल, नवाबगंज, खोजवाँ, वाराणसी।
- **जेठालाल जोषी,** मंत्री, गुजरात प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, एलिस ब्रिज, अहमदाबाद-6.
- **सूर्यनारायण व्यास,** भारती भवन, उज्जैन (म० प्र०)।
- **कालिदास कपूर,** कपूर कुटी, हरदोई मार्ग, लखनऊ-3।
- **के०पिच्चुमणि,** बंगला नं० 16, नीलमकुंज, अहमदाबाद-17.
- **विश्वनाथ प्रसाद,** निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय, नई दिल्ली
- **जगदीश चतुर्वेदी,** 27/23, ईस्ट पटेलनगर, नई दिल्ली-12.
- **भक्तदर्शन,** उप शिक्षा मंत्री, केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।
- **इदुकांत शुक्ल,** नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

●

सम्पादकाचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

त्रिपथगा : : मई, १९६४

Price : **Inland Rs. 11.50 Paisa.**

Foreign 23 sh. 10 d. or 4 $ 14 cents.